भारत सावित्री

२४३६

वासुदेवशरण अग्रवाल

भारत सावित्री

महाभारत का एक नवीन
एवं सारगर्भित अध्ययन

•

खण्ड २
उद्योग पर्व से
स्त्री पर्व तक

•

वासुदेवशरण अग्रवाल

१९७७

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९७७

मूल्य
रु० १२.००

मुद्रक
रूपाभ प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

प्रकाशकीय

'भारत-सावित्री' का यह दूसरा खण्ड सुलभ करते हुए हमें बड़ा हर्ष होता है। पहले खण्ड में महाभारत के आदि पर्व से विराट पर्व तक का अध्ययन आ गया है, इस दूसरे खण्ड में उद्योग पर्व से स्त्री पर्व तक सार दिया गया है। तीसरे अर्थात् अंतिम खण्ड में शान्ति, अनुशासन तथा अन्य पर्वों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत ज्ञान का भण्डार है। उसमें विचार-रत्नों की खान है। उसका सारगर्भित अध्ययन पाठकों को 'भारत-सावित्री' के इन तीन खण्डों में मिल जाता है। यह अध्ययन अधिकारी विद्वान् द्वारा उपस्थित किया गया है। इन पुस्तकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी सामग्री प्रामाणिक है, साथ ही महाभारत की समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाएं इनमें आ गई हैं।

हिन्दी में अपने ढंग का यह पहला प्रकाशन है। इसकी सामग्री न केवल रोचक है, अपितु वह महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन की प्रेरणा भी देती है।

जीवन-शोधकों के लिए इन पुस्तकों का सूक्ष्म अध्ययन और सतत मनन अत्यन्त हितकारी है। सच बात यह है कि ये पुस्तकें महासागर की भांति हैं। इनमें जो जितनी गहरी डुबकी लगावेगा, उतने ही मूल्यवान रत्न उसके हाथ पड़ेंगे।

हम आशा करते हैं कि ये पुस्तकें सभी क्षेत्रों में चाव से पढ़ी जायंगी और पाठक इनसे भरपूर लाभ लेंगे।

—मंत्री

भूमिका

'भारत सावित्री' यह नाम महाभारत के अन्त में आया है। महाभारत के सारांश के लिए स्वयं वेदव्यास की लेखनी से यह शब्द निकला है। मैंने वहीं से इसे लिया है, जैसे सावित्री वेदों का सार है और वह सरस्वती का पर्याय है, वैसे ही यहां भी वाणी के अर्थ में 'सावित्री' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'भारत सावित्री' के रूपमें महाभारत का ही सार लिया गया है। यह सर्वथा वेदव्यास की ही वाणी है।

महाभारत के पात्र-चित्रण की दृष्टि से यह दूसरा खण्ड और भी महत्वपूर्ण है। क्रमशः घटनाओं ने ऐसा मोड़ लिया कि दोनों पक्ष युद्ध-बिन्दु तक पहुंच ही गये। उस भँवर में कूद पड़ने तक दोनों ओर के नेताओं की मनोवृत्ति का जो विकास हुआ, उसकी स्पष्ट झांकी हमें विराट पर्व एवं विशेषतः उद्योग पर्व में मिलती है। घटनाओं के इस वेग से बढ़ते हुए विकास में राजा धृतराष्ट्र का व्यक्तित्व सबसे अधिक उभरा हुआ है। वे नियतिवादी दर्शन के अनुयायी थे। एक ओर भाग्य के लेख में उनका अटल विश्वास था और दूसरी ओर अपने पुत्र दुर्योधन के लिए उनके मन में इतना मोह था कि उसके सामने आते ही वे अपनी न्याय-बुद्धि खो बैठते थे। विदुर, संजय एवं कृष्ण ने कितना प्रयत्न किया कि धृतराष्ट्र को समझाकर उनके पद का प्रभाव युद्ध टालने में प्रयुक्त हो सके, किंतु हर बार धृतराष्ट्र ने घुटने टेक दिये।

इस खण्ड की दूसरी विशेषता कृष्ण के उदात्त चरित्र और महान् व्यक्तित्व का चित्रण है। भारत-युद्ध की घटनाओं में न्याय और सत्य का

आश्रय लेकर उन्होंने जिस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन किया और कौरवों की सभा में स्वयं जाकर शान्ति का प्रस्ताव रखा, वह अत्यन्त प्रभावशाली प्रकरण है। उससे उनके साहस, प्रभाव एवं दृढ़ सत्य का परिचय प्राप्त होता है। दुर्योधन और कर्ण के सामने संधि की चर्चा पहले से ही असिद्ध थी, फिर भी कृष्ण ने अपने प्रज्ञा-वल का भरपूर उपयोग किया। जब वे युद्ध की घटनाओं कों नहीं हटा सके, तब शस्त्र-प्रयोग ही एकमात्र मार्ग रह गया था और उस पर चलने से कुरु-कुल स्वाहा हो गया। इन पर्वों में संहार का जो रोमाञ्चकारी वर्णन है, सांस्कृतिक दृष्टि से हमें उसमें रुचि नहीं है। अतएव उस कथा-भाग को अति संक्षेप में लिख दिया गया है।

किंतु महाभारत के इन पर्वों में भी ऐसे पर्याप्त स्थल मिले, जिनका सांस्कृतिक दृष्टि से और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। वे स्थल इस प्रकार हैं :

१. प्रजागर पर्व या विदुरनीति (उद्योग पर्व अध्याय ३३—४०; पृ० ४७-६७)
२. सनत्सुजातीय पर्व (उद्योग पर्व, अध्याय ४२-४५; पृ० ६७-७६)
३. भुवनकोश पर्व (भीष्म पर्व, अध्याय १-१२; पृ० १२१-१५०)
४. श्रीमद्भगवद्गीता पर्व (भीष्म पर्व, अध्याय २३-४०; पृ० १५०-२४०)
५. अश्व वर्णन (द्रोण पर्व, अ० २२; पृ० २४८-२५१)
६. युधिष्ठिर का आह्निक कर्म या दिनचर्या (द्रोण० अ० ५८; पृ० २५४-२५६)
७. व्यास का शतरुद्रिय स्तोत्र (द्रोण० अ० १७३; पृ० २६०)
८. मद्रक कुत्सन या कर्ण और शल्य की तू-तू, मैं-मैं (कर्ण० अ० २७-२९ पृ० २६१-२७२)

उद्योग पर्व के अन्तर्गत प्रजागर पर्व बहुत ही विलक्षण है। साधारणतः लोक में इसे विदुरनीति कहते हैं, किंतु यह कोई सामान्य नीति नहीं। यह तो प्राचीन भारतीय प्रज्ञादर्शन का अत्यन्त महनीय ग्रन्थ है। इस प्रकार की सामग्री संस्कृत साहित्य, पाली, अर्धमागधी आदि में अन्यत्र कहीं नहीं है। सौभाग्य से यह प्रकरण महाभारत में ही सुरक्षित रह गया है। प्राचीन भारत के दार्शनिक मतवादों में, जिन्हें पाणिनि ने मति कहा है और बौद्ध लोगों ने दिट्ठि (सं० दृष्टि) कहा है, (दृष्टि का अभिप्राय एक-एक आचार्य के दार्शनिक दृष्टिकोण से था), उनका जब व्यवस्थित संग्रह हुआ तब वे ही दर्शन हुए। पाणिनि ने इन मतों का तीन भागों में वर्गीकरण किया है: एक आस्तिक, जो वैदिक परंपरा के अनुयायी थे, दूसरे, नास्तिक, जो वैदिक परंपरा से बाहर प्रायः भौतिक जगत् के तत्त्वों की व्याख्या करते थे और तीसरे, दैष्टिक या भाग्यवादी जो नियतिवादी कहे जाते थे। विदुरनीति में नियतिवाद का भी उल्लेख आया है। धृतराष्ट्र और ययाति नियतिवाद को मानने वाले थे। विदुर और कृष्ण प्रज्ञादर्शन के अनुयायी थे। गीता में स्पष्ट ही कृष्ण ने प्रतिष्ठित प्रज्ञा या स्थिर बुद्धि-योग का विस्तार से वर्णन किया है। वैसे तो बुद्ध भी प्रज्ञावादी थे, जिसके लिए पालि-साहित्य में पञ्ञा शब्द है, किन्तु संसार की सत्ता के विषय में बुद्ध ने प्रज्ञावाद से छटककर एक दूसरा ही मार्ग पकड़ा, जिसका मूलाधार श्रमणवादी परंपरा थी। इन तीन प्रकार के दार्शनिक मतों का शान्ति पर्व में कहीं अधिक विस्तार से वर्णन मिलेगा, जैसा भारतीय साहित्य में कहीं और उपलब्ध नहीं है। इसका कुछ संकेत हमने 'भारत-सावित्री' के प्रथम खण्ड की भूमिका में (पृ० ९-१०) किया है। पुस्तक के तीसरे खण्ड में शान्ति पर्व के ये गूढ़ प्रकरण ही व्याख्या के विषय बनेंगे। प्रज्ञादर्शन का ही कालान्तर में जो विकास हुआ, वह संस्कृत के नीति-साहित्य में पाया जाता है। प्रज्ञादर्शन बड़ा विचित्र है। यह मानव के लिए अत्यन्त स्वाभाविक और निकट की वस्तु है। सरल शब्दों में, मनुष्य के जीवन में जो नित्यप्रति के कामकाज में समझदारी का दृष्टिकोण है, वही प्रज्ञादर्शन का सार है। यह इतना स्वाभाविक है कि इसे मानने में किसी को अड़चन नहीं होती। प्रज्ञादर्शन की युक्तियां प्रत्येक मनुष्य के मन में पहले से ही बैठी हुई रहती हैं और उस

भण्डार से वह उन्हें सहज ही प्राप्त कर लेता है। संसार में और चाहे जितने दर्शन हों, सबके मूल में मानवीय प्रज्ञा या बुद्धि की प्रतिष्ठा है। प्रज्ञादर्शन में बहुत पढ़ने-लिखने या पोथी-पत्रों आदि के जगड्वाल की आवश्यकता नहीं। और मतवादों के सैकड़ों पन्थ हो सकते हैं, किंतु प्रज्ञा-वाद का तो एक ही मार्ग है, जिस पर निश्चयात्मक बुद्धि से मनुष्य चल सकता है।

इस बारीक दृष्टि से जब प्रजागर पर्व पर विचार किया जाता है तो इन आठ अध्यायों में उस प्राचीन दर्शन के सैकड़ों सूत्र हाथ आ जाते हैं। प्रज्ञा के अनुयायी व्यक्ति के लिए संस्कृत भाषा में एक नये शब्द का प्रचलन हुआ। प्राज्ञ या प्रज्ञावान् का ठीक पर्याय पण्डित शब्द है। प्रज्ञा, पञ्ञ-पण्णा, पण्डा ये शब्द समानार्थक हैं। 'स वै पण्डित उच्यते, स वै पण्डित उच्यते' इस प्रकार के कितने ही सूत्रों में पण्डित की परिभाषा पाई जाती है। विदुरनीति और गीता दोनों में ही इस प्रकार के वर्णन हैं। गांव-गांव में, घर-घर में और जन-जन में फैले हुए व्यवहारों को छानकर एवं उसमें बुद्धि की भावना देकर जो रसायन तैयार हुआ, वही प्रज्ञादर्शन है। अतएव प्रजागर नामक महाभारत के इस पर्व की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। यह हमें ऐसे लोक में ले जाता है, जहां मानव की महिमा किसी कल्पित देवता के रूप में नहीं, ठेठ मानव के रूप में ही दिखाई पड़ती है। ऋगवेद के वसिष्ठ एवं दीर्घतमा ऋषियों से लेकर कृष्ण, वाल्मीकि, व्यास, जनक, याज्ञवल्क्य, विदुर, महावीर, चाणक्य, अशोक, कालिदास, शंकर आदि अनेक विचारक हमारे लिए सर्वथा मानव के रूप में ही मान्य हैं। उनमें मानवीय बुद्धि का जो विलक्षण प्रकर्ष देखा जाता है, वह मानवीय मस्तिष्क के उस रूप को प्रकट करता है, जिसका मस्तक आकाश को छूता हो, किंतु जिसके चरण दृढ़ता से भूमि पर टिके हों।

उद्योग पर्व का दूसरा प्रकरण सनत्सुजात ऋषि का उपदेश है। यह एक अध्यात्म दर्शन का अंग था। इसका प्रभाव गीता में भी पाया जाता है। इस दर्शन का सार इन्द्रियों के और मन के संयम द्वारा ब्रह्मप्राप्ति था।

संसार के व्यवहारों से बचते हुए वैराग्य की ओर इसका झुकाव था। संभवतः उपनिषदों के आचार्य सनत्कुमार इस दर्शन के उपदेष्टा थे। उन्हें ही यहां सनत्सुजात कहा गया है। इनका मुख्य लक्ष्य अप्रमाद के द्वारा अमृतत्त्व की प्राप्ति था। शुद्ध ब्रह्मचर्य की साधना से मन, बुद्धि और आत्मा की जिस शक्ति की उपलब्धि संभव है, वही इनका साधना-मार्ग था। बुद्ध और महावीर ने भी अप्रमाद के इस सिद्धांन्त को अपनाया है, जैसा कि धम्मपद के अप्पमादवग्ग एवं उत्तराध्ययन सूत्र के ऐसे ही स्थल से विदित होता है। ज्ञात होता है कि योग-साधना के द्वारा ब्रह्म-दर्शन इस मार्ग का ध्येय था। इस दर्शन के अन्तर्गत कुछ लोग भांति-भांति के रंगों की लेश्याओं का भी ध्यान करते थे, पर सनत्सुजात ने ब्रह्म-दर्शन के उस ढोंग को अच्छा नहीं कहा। इस प्रकरण की दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। एक अक्षर ब्रह्म का सिद्धान्त, जो ऋगवेद से चला आ रहा था और जिसका कालान्तर में बहुत विकास हुआ एवं दूसरा अमृतत्त्व का सिद्धान्त, जो ऋगवेद के अमृतमृत्युवाद का ही अंग था। वह भी अत्यन्त प्राचीन दर्शन था, जिसका उल्लेख नासदीय सूक्त में हुआ है। एक प्रकार से समस्त सृष्टि एवं ब्रह्म की व्याख्या मृत एवं अमृत इन दो शब्दों में ढाल दी गई है। इस दर्शन के अन्तर्गत एक विशेष सिद्धान्त सत्य का था। सत्य का तात्पर्य पोथी-पत्रों से बाहर जीवन में साक्षात् तत्त्व का दर्शन है, क्योंकि जीवन का निर्माण सत्य से हुआ है और सत्य पर ही वह टिका है। सत्य की संप्राप्ति कोरे कथन से नहीं होती, वह तो दम्भ के त्याग और अप्रमाद को आग्रहपूर्वक जीवन में उतारने से संभव होती है। इसलिए मनीषी ब्राह्मण कहते हैं कि ये तीनों सत्य के तीन मुख हैं। यह सनत्सुजात प्रकरण भी किसी प्राचीन उपनिषद् या वैदिक चरण का बहता हुआ अंग था, जो उद्योग पर्व में यहां सुरक्षित रह गया है। भारत के अध्यात्म साहित्य में इसका महत्त्व इस बात से सूचित होता है कि शंकराचार्य ने इस पर भाष्य किया है।

जब होनहार के बवंडर को कृष्णजी न रोक सके तो दोनों पक्षों की सेनाएं कुरुक्षेत्र में आ डटीं और युद्ध का चौचक बानक बन गया। ऐसे

समय महाभारत के विद्वान् लेखक ने भीष्म पर्व के अध्याय १-१२ तक 'भुवन-कोष' का महत्वपूर्ण प्रकरण जोड़ दिया है। इसकी विस्तृत व्याख्या हमने पृष्ठ १२१-१४८ तक की है। यह विषय और भी अनेक पुराणों में है। इसका विशेष स्पष्टीकरण पुस्तक में दिये हुए मानचित्रों के द्वारा पाठकों को प्राप्त होगा। मोटे रूप से इस विषय में तीन बातें ज्ञातव्य हैं। एक यह कि पृथ्वी के प्राचीन भूगोल की दो कल्पनाएं थीं। पहली कमल की चार पंखड़ियों की भांति चार दिशाओं में चार महाद्वीपों की, जिसका नाम चतुर्द्वीपी भूगोल था। कालान्तर में सात द्वीपों की कल्पना की गई और पहले वर्णन को नई सामग्री जोड़कर बहुत बढ़ाया गया। इसका नाम सप्त-द्वीपी भूगोल था। यदि ये दो वर्णन अलग-अलग रहते तो ठीक था, पर किसी लाल बुझक्कड़ ने उन दोनों को एक में सांट कर ऐसा घोटाला कर दिया है कि अनबूझ पाठक को उसमें थाह ही नहीं मिलती। सौभाग्य से हमारे मित्र रायकृष्णदासजी ने दीर्घ काल तक मनन करके इन दोनों वाचनाओं को अलग-अलग सुलझा पाया और उसी से हम भी इस पहेली को बूझ सके। इस पुस्तक में चतुर्द्वीपी और सप्तद्वीपी भूगोल के जो दो चित्र दिये हैं, उनका आधार रायकृष्णदासजी के बनाए चित्र ही हैं। इन मानचित्रों की सहायता से मनोयोगपूर्वक इस विषय को पढ़ने से पाठक दोनों का भेद स्पष्ट जान सकेंगे। भुवनकोश प्रकरण की दूसरी विशेषता सप्त-द्वीपों के नदी-पर्वतों का वर्णन है। यद्यपि हम अब इन सबकी पहचान करने में असमर्थ हैं, तथापि ऐसा ज्ञात होता है कि इन नामों का आधार तथ्यात्मक था। उनमें से शाक द्वीप के कुछ नाम पहचान में आ जाते हैं। अतएव यह मानना चाहिए कि शेष नाम भी किसी समय में सुविदित रहे होंगे।

भौगोलिक वर्णन की तीसरी विशेषता भारतवर्ष के पर्वत, नदी और जनपदों का सविशेष वर्णन है। इसका मूल पुराणों का भुवनकोश वर्णन ही था, क्योंकि वहां ये सूचियां वर्गीकृत हैं और यहां मिली-जुली हैं। फिर भी जहां तक सम्भव हुआ हमने इनकी पहचान और वर्गीकरण कर दिया है।

इस खंड का चौथा महत्त्वपूर्ण प्रकरण भीष्म पर्व के अंतर्गत गीता के अठारह अध्याय हैं। गीता जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ है और इस पर भाष्य, टीका और अनुवादों का कोई अन्त नहीं है। फिर भी हमें लगा कि सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से गीता का अभी तक एक भी अध्ययन नहीं हुआ और उसके कितने ही ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं, जिनपर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इस संवन्ध में हमारा कार्य दो प्रकार का है। एक तो गीता की जो वैदिक परिभाषाएं हैं, उनकी हमने उसी पृष्ठभूमि में व्याख्या की है, जैसे क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, अहोरात्र, महद्ब्रह्म, वीजप्रद, स्वयंभू आदि विषयों को वेदमूलक तत्त्वज्ञान के साथ मिलाकर देखा गया है। इस अध्ययन का दूसरा दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति के इतिहास से संबंध रखता है, जैसे गीता के दूसरे अध्याय की वहुत-सी सामग्री 'प्रज्ञा-दर्शन' से ली गई है। दसवें अध्याय की सामग्री में प्राचीन भारतीय लोक धर्मों का अच्छा संग्रह है। इसका अधिक विस्तार से विवेचन हमने अपने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' नामक ग्रंथ में किया है। यहां यह प्रश्न भी उठाया गया है कि विभूतियोग नामक दसवें अध्याय में क्या संगति है ? पेड़ों में मैं पीपल हूं, जलचरों में मगरमच्छ हूं, इत्यादि कल्पनाएं योंही उठकर नहीं खड़ी हो गईं। इनके पीछे धार्मिक मान्यताओं का एक पूरा संसार ही छिपा हुआ है। वहीं प्रवेश करके इनका पूरा महत्त्व जाना जा सकता है। इस संवंध में खोजने पर गीता का व्रत शब्द पारिभाषिक निकला। उसी पृष्ठभूमि में उसके अर्थ की संगति ठीक बैठ सकती है (देखिए पृष्ठ २००)। जहां तक सम्भव हुआ, गीता की युक्तियों के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को हमने अलग करने का यत्न किया है। गीता की इस नई व्याख्या का नाम हमने 'गीता-नवनीत' दिया है और यह भी प्रयत्न किया है कि इसका अधिक व्यापक प्रचार हो। हमारा यह भी अनुमान है कि यदि किसी विज्ञ पाठक की उपजाऊ मानस-भूमि में इस व्याख्या के कुछ अंकुर स्फुटित हो सके तो उपनिषद् और महाभारत एवं वैदिक चरणों के अध्यात्म-साहित्य की सहायता से गीता के और भी पारिभाषिक शव्दों का वैदिक एवं तुलनात्मक विचारों का उद्धार हो सकेगा। गीता कुछ अपने युग से बाहर की रचना नहीं है। वह तो उस युग की विशेष शव्दावली में डूबी हुई है, जो उस

समय लोक विदित थी ।

द्रोण पर्व के अध्याय २२ में लगभग ६० श्लोकों में घोड़ों के रंगों और नामों का जैसा विलक्षण वर्णन है, वैसा प्राचीन साहित्य में दण्डिकृत अवन्ति-सुन्दरी के अतिरिक्त हमें कही नहीं मिला, यद्यपि मानसोल्लास, हेमचन्द्र आदि के कई मध्यकालीन वर्णन हमारे सामने थे । यह वर्णन क्या है, घोड़ों का व्यापार करनेवाले किसी व्यापारी का क्रोड़पत्र है । जहाँ तक बना, हमने द्रोण पर्व की सामग्री को अवन्ति-सुन्दरी से मिलाकर अर्थानि का प्रयत्न किया है । पर इसका अभी अधिक स्पष्टीकरण संभव है ।

द्रोण पर्व में ही अध्याय ५६ में युधिष्ठिर का आह्निक या नित्य की दिनचर्या सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही रोचक है और यह आवश्यक है कि संस्कृत के पाठ्य ग्रंथों में इसका अधिक प्रचार हो (पृष्ठ २५४-५६) । इस प्रसंग के भी कई पारिभाषिक शब्दों पर हमने भारतीय कला की सहायता से नया प्रकाश डाला है। राजा के महल में तीन कक्षाएँ या चौक होते थे । राजा कब कहाँ बैठकर कौन-सा कर्म करता था, इस पर कुछ प्रकाश हमने डाला है, पर विशेष के लिए 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' एवं 'कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन', इन दो ग्रंथों को देखना आवश्यक है।

द्रोण पर्व की युद्धकथाओं की मरुभूमि को पार करके जब पाठक उसके अंतिम छोर पर पहुँचता है, तो किसी बुद्धिमान लेखक ने वहां थके मन की शांति के लिए शतरुद्रिय स्तोत्र के रूप में एक सरसाती हुई जलधारा प्रवाहित की है । यह शतरुद्रिय स्तोत्र भगवान् शिव के नामों का अमृत जल है । इसका स्वरूप विराट और भव्य है । इसके ६९ श्लोकों में पहले यजुर्वेद के शतरुद्रिय की शैली पर नमस्कारात्मक बीस श्लोक हैं, फिर भगवान् शंकर के दिव्य कर्मों के वर्णनात्मक ३५ श्लोक हैं । पुनः उनके बहुधा भावों के सूचक ३ श्लोक हैं और अंत में शिव के भिन्न नामों की निरुक्तियों के ११ श्लोक हैं । इस प्रकार के शतरुद्रिय या सहस्रनाम स्तोत्रों की साहित्यिक रचना बहुत ही परिश्रम-साध्य साहित्यिक कार्य था । कोई प्रतिभाशाली

लेखक ही दीर्घकालीन अध्ययन के बाद इस प्रकार के स्तोत्र की संघटना कर पाता था। इसमें मूल कल्पना यह थी कि ईश्वर-तत्त्व एक होते हुए भी गुण, कर्म, नाम और रूपों के कारण अनेक है और मानव के ज्ञान की परिधि में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो ईश्वर की विभूति, ऐश्वर्य या योग से बाहर हो। अतएव बृहत् नाम-स्तोत्र रचनेवाले लेखक भारी प्रयासपूर्वक वैदिक और लौकिक साहित्य का मंथन करके पहले नामों का चुनाव करते थे और अंत में उन्हें छन्दोबद्ध किया जाता था। कई नाम स्तोत्रों को मिलाकर देखने से ज्ञात होता है कि इन सूचियों में बहुत से नाम अलग और बहुत से एक-समान हैं। इसका हेतु स्पष्ट है। जब भगवान् के एकत्व की ओर दृष्टि जाती है, तो देव भेद होने पर भी एक-से नाम ऊपर उतिरा आते हैं और जब बहुधा भाव पर दृष्टि रहती है, तो भिन्न-भिन्न नाम कहे जाते हैं। वैसे तो अन्य धर्मों में भी स्तोत्रों का महत्त्व है, किन्तु भारत के धार्मिक साहित्य में स्तोत्रों का बहुत ही विशिष्ट स्थान है।

शान्ति पर्व के 'भीष्मस्तवराज' में स्तोत्र को वाग्यज्ञ कहा गया है। द्रव्ययज्ञ वहु व्यय-साध्य है, किन्तु स्तोत्र-रूपी वाग्यज्ञ द्वारा इष्टदेव का आराधन सुलभ है। यों भी देवतत्त्व के सानिध्य के दो ही उपाय हैं। एक मानस ध्यान द्वारा, दूसरे वाक् की शक्ति के द्वारा। मन, प्राण, वाक्, इन तीनों से यह चैतन्ययुक्त शरीर बना है। इनमें प्राण मध्यस्थ है। जब वह अपनी शक्ति मन को देता है तो उससे देवतत्त्व का ध्यान किया जाता है; पर जब प्राण की शक्ति वाक् या पंचभूतात्मक शरीर को प्राप्त होती है, तो उससे वाणी द्वारा देवता का यजन या वाग्यज्ञ किया जाता है, उसे ही स्तोत्र कहते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि अपने साहित्य में कई सहस्रनाम पाये जाते हैं, जैसे गायत्री सहस्रनाम (देवी भागवत, १२।६।१०—१५५. ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित देवी का अकारादि क्रम से स्तोत्र); पार्वती सहस्रनाम (कूर्मपुराण पूर्वखंड, १२।६२-१९९); गंगा सहस्रनाम (स्कंदपुराण, काशीखंड, २९।१७—१६७); विष्णु सहस्रनाम (पद्मपुराण, उत्तरखंड अ० ७२ श्लो०

१२३—२९७)। इसके अतिरिक्त शिव के भी कितने ही उत्तम स्तोत्र हैं। जो शिवस्तोत्र हैं, वे ही रुद्र स्तोत्र हैं, क्योंकि रौद्र भाव की शान्ति से ही शिवात्मक भाव की प्राप्ति होती है। मत्स्य पुराण में शुक्रकृत शिव का अति उत्तम नमः स्तोत्र है (मत्स्य ४७।१२८—१६८), जो यजुर्वेद के १६वें अध्याय के शतरुद्रिय स्तोत्र और शान्ति पर्व अध्याय ४७ के भीष्म स्तवराज की शैली पर है। हरिवंश में कश्यप कृत रुद्र स्तोत्र (हरिवंश २।७२।२९—६०) और कृष्ण कृत रुद्र स्तोत्र (हरिवंश २।८४।२२—३४) उल्लेखनीय हैं। विष्णु कृत शिव का एक नमः स्तोत्र भी है (लिंगपुराण १।२१।२—७१)।

पुराण साहित्य में शिव के तीन सहस्रनाम भी पाये जाते हैं, जो अति महत्त्वपूर्ण हैं। तात्त्विक दृष्टि से उनकी कल्पना विराट है। पहला स्तोत्र तण्डि कृत शिव सहस्रनाम है (लिंगपुराण १।६५।५४—१६८)। यही महाभारत के अनुशासन पर्व में भी उद्धृत हुआ है (अनुशासन पर्व, १७।३१—१५३)।

दूसरा दक्ष कृत शिव सहस्रनाम है, जो वायुपुराण अध्याय ३० में आया है। वहीं से लेकर उसे शान्ति पर्व के लेखक ने (२८४।६९) उद्धृत किया है; किन्तु पूना संस्करण में पाठ-संशोधन के समय यह अंश प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है। ज्ञात होता है कि यह शान्तिपर्व के मूलपाठ में कालान्तर में जोड़ा गया, जो महाभारत की कुछ वाचनाओं में आज भी नहीं है। इसी शिव सहस्रनाम को वामनपुराण के लेखक ने अध्याय ४७ में उद्धृत किया है। किन्तु वहां उसे दक्ष-कृत न मानकर वेन-कृत कहा गया है।

तीसरा शिव सहस्रनाम स्तोत्र विष्णु कृत है, जो लिंगपुराण में ही दूसरी बार आया है (लिङ्गपुराण १।९८।२७—१९९)। ज्ञात होता है कि लिङ्गपुराण में तण्डि कृत स्तोत्र पहले से विद्यमान था और कुछ समय बाद शिव, विष्णु की भक्ति का समन्वय करते हुए किसी योग्य लेखक ने इसे भी उसमें स्थान दे दिया। भगवान् शिव का एक अत्यंत उदात्त स्तोत्र जैमिनि कृत 'वेदपादस्तव' है, जिसमें कितने ही वैदिक मंत्रों के चरणांश लेकर

प्रभावशाली छन्दों की माला गूंथी गई है (बृहन्नारदीय २।७३।२६—१४१)। वस्तुतः द्रोण पर्वान्तर्गत व्यास-कृत चतुर्विध शिव स्तोत्र भी शैली और भावों की दृष्टि से अत्यंत तेजस्वी है। यह स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्व की दृष्टि से अग्नि, रुद्र और प्राण एक-दूसरे के पर्याय हैं, जैसा कहा है :

प्राणे निविष्टो वै रुद्रस्तस्मात्प्राणमयः स्वयम्।
प्राणाय चैव रुद्राय जुहोत्यमृतमुत्तम्॥
(लिङ्गपुराण, १।८८।६६)

अतएव रुद्रतत्त्व या प्राणतत्त्व की प्रशंसा में जो कहा जाय, कम है। जैसे अग्नि के घोर और अघोर दो शरीर हैं, जैसे प्राण के शान्त और कुपित दो रूप हैं, वैसे ही शंकर के भी रुद्र और शिव ये दो रूप हैं। प्रजापति का सृष्टि में स्थिर किया हुआ जो सेतु है, उस बंधेज का उल्लंघन करने से शान्त शिव घोर बन जाते हैं। स्तोत्रों के रचयिता दोनों रूपों में उनकी आराधना करते हैं। वस्तुतः द्वंद्वात्मक सृष्टि के तनाव में पड़ा हुआ प्राणी यदि भगवान् के रुद्र रूप को नहीं पहचानता तो वह उनके शिवरूप का संमराधन भी सकुशल नहीं कर सकता। अशिव या अमंगल के निवारण से ही मंगलात्मा शिव का आगमन होता है।

कर्ण पर्व में कर्ण और शल्य की तू-तू मैं-मैं बहुत प्रसिद्ध है। हमारे मन में सदा यह प्रश्न उठता था कि इस प्रकार के अभद्र विवाद का संकेत या असली मर्म क्या है? सौभाग्य से इस वर्णन के पीछे जो ठोस ऐतिहासिक आधार था, वह हमारे हाथ लग गया। यह मद्र देश या पंजाब के राजा शल्य की छीछालेदर नहीं, किन्तु इस वर्णन के व्याज से उन यूनानी लोगों की धज उतारी गई है, जिन्होंने मद्र की राजधानी शाकल में एक शती तक राज्य किया और जिन्हें मद्रकयवन कहते थे। बाह्लीक या बैक्ट्रिया में राज्य करने वाले पूर्वकालीन यूनानी बाह्लीकयवन और मद्रदेश या पंजाब में राज्य करनेवाले उत्तरकालीन यूनानी मद्रकयवन कहलाते थे। उनका रहन-सहन और आचार-विचार भारतीयों से भिन्न था और गोमांस आदि का

भक्षण, अत्यधिक सुरापान, स्त्रियों के साथ खुलकर नाचना, आर्य नियमों के सदृश शौच का अभाव, ये कुछ ऐसी बातें थीं, जिनके विरुद्ध भारतीयों में अत्यधिक रोष उत्पन्न हुआ और वह उवाल शल्य-कुत्सन नाम के इस प्रकरण में वचा रह गया है। यूनानियों का ऐसा कटखना वर्णन किसी भी और देश के साहित्य में नहीं पाया जाता। हमारा अनुमान है कि इसकी रचना पुष्यमित्र शुंग (लगभग १८५ ई० पू०—१५६ ई० पू०) के काल में हुई। पुष्यमित्र और उनके उत्तराधिकारी ब्राह्मण वंशज थे और यहां यह बार-बार कहा गया है कि कोई ब्राह्मण मद्रदेश से घूमकर आया और उसने यह सूचना दी। इतना ही नहीं, इस प्रकार का प्रचार उस युग की आवश्यकता थी। इस वर्णन के नव (९) पैंवन्द हैं, जिन्हें एक साथ सीं दिया गया है; पर वे थेकलियां आज भी स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। ज्ञात होता है कि इन वर्णनों का बहुत कुछ उद्देश्य मद्रदेश की जनता के मन को यूनानियों के विरुद्ध फेरना था। अतएव मानो इस प्रकार के लोकगीत जान-बूझकर जनता में प्रचारित किये गए। मूल वर्णनों में इन्हें कई जगह गाथा कहा गया है। अनुमान होता है कि जव लोग महाभारत की कथा सुनते थे, तो उसी के साथ मद्रक यवनों का यह प्रसंग भी सुनाया जाता था और इसका गहरा रंग उनके मन पर पड़ता था, जिससे समस्त मध्यदेश में यवनों से प्रतिशोध का ववण्डर उठ खड़ा हुआ और सचमुच उस काली आंधी के प्रकोप से मद्रक तिनके की तरह उड़ गये। पतञ्जलि ने महाभाष्य में एक उदाहरण दिया है 'दुर्यवनं' उसका अर्थ है यवनों का घोर विनाश। वह मद्रक यवनों पर आई हुई इसी प्रकार की विपत्ति का सूचक है। पुष्पमित्र और उसके सुयोग्य पौत्र वसुमित्र के नेतृत्व में मध्यदेश से उठा रेला मद्रक यवनों को वहा ले गया।

'भारत सावित्री' के प्रथम खंड के पहले २८ लेख 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के द्वारा प्रचारित हुए थे और वाद में विराट् पर्व के अंत तक भी सामग्री जोड़कर उन्हें पुस्तक रूप दिया गया। उससे जनता को ग्रंथ के विषय में अत्यधिक रुचि उत्पन्न हो गई थी। उसी प्रकार गीता के अठारह अध्यायों की व्याख्या 'गीता-नवनीत' शीर्षक से साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित

हुए और उसके संबंध में कई पाठकों ने अपनी अभिरुचि प्रकट करते हुए उन्हें पुस्तक रूप में देखने की इच्छा प्रकट की । आशा है, 'भारत सावित्री' का यह द्वितीय खंड उन्हें रुचिकर होगा, क्योंकि गीता की व्याख्या के अतिरिक्त और भी कई प्रकार की धार्मिक और सांस्कृतिक सामग्री इसमें समाविष्ट हुई है ।

महाभारत शतसाहस्री संहिता है। समस्त भारतीय राष्ट्र का धर्म, दर्शन, कला और संस्कृति महाभारत में प्रतिविम्बित है। प्राचीन उक्ति के अनुसार वेदव्यास ने यह विलक्षण ज्ञानमय प्रदीप प्रज्वलित किया है। सचमुच महाभारत रत्नों की विलक्षण खान है। इस पर प्राचीन युग की देव-बोध, अर्जुन मिश्र, सर्वज्ञनारायण आदि की कई अच्छी टीकाएं उपलब्ध हैं।

किन्तु आज का पाठक उन टीकाओं की परिधि से ऊपर उठकर महाभारत को स्वयं अपने समीक्षात्मक नेत्र से देखना चाहता है। यही महाभारत के संवर्धनशील स्वरूप की विशेषता है। महाभारत ज्ञान का वह अमृत कलश है, जो व्यास के मन रूपी गरुड़ द्वारा मानव-कल्याण के लिए पृथिवी पर लाया गया है। ऋगवेद के शब्दों में 'आ पूर्णो अस्य कलश... स्वाहा (ऋगवेद ३।३२।१५) यह अमृत कलश, मंगल घट या पूर्ण कुम्भ जीवन के सत्यरूपी अमृत से ओत-प्रोत है। उसके परिमित शब्दों में अमित अर्थ भरा है। बार-बार प्रयत्न करने पर भी यह संभव नहीं हो पाता कि उसकी पूरी अर्थगति मन में आ सके।

भविष्य में जिस बड़भागी पर सरस्वती की महती कृपा होगी, उसे सहस्र नेत्रों से महाभारत के समग्र अर्थ का दर्शन सिद्ध हो सकेगा।

—वासुदेवशरण

विषय-सूची

५. उद्योग पर्व

६. भीष्म पर्व

७. द्रोण पर्व

भारत-सावित्री

खण्ड २

उद्योग-पर्व

४३ : : सैन्योद्योग

(अध्याय १—१६)

इस पांचवें पर्व में एक सौ सत्तानवें अध्याय हैं। कथा-प्रवाह और अध्यात्म-सामग्री का इसमें अच्छा समन्वय पाया जाता है। तेरह वर्ष के वनवास की तपस्या से पाण्डव कंचन की तरह तप रहे थे। परिस्थिति उनके पक्ष में न्याय की पुकार कर रही थी। पर सत्य के उस विन्दु तक पहुंचने में अभी कई वाधाएं थीं। उन्हीं को हटाने के आरम्भिक प्रयत्नों की झांकी इस पर्व में मिलती है। इनमें सवसे आकर्षक कृष्ण का कौरवों की सभा में दूत वनकर जाना है, जहां उन्होंने शान्ति की याचना का यह स्वर ऊंचा किया :

> कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
> अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः॥

दुर्योधन के हठ की चट्टान से टकराकर यह सौम्य प्रयत्न कैसे छिन्न-भिन्न हो गया, यह हम आगे देखेंगे। पाण्डवों के प्राप्तव्य अधिकारों की इस संधि-वेला में सवसे भारी खलवली धृतराष्ट्र के मन में थी। इस व्यक्ति को जो असंतुलित मन मिला था, वह कभी पाण्डवों की ओर झुकता किन्तु अधिकांश में दुर्योधन के षड्यन्त्रों के साथ ही गुंथा रहता था, जैसा पहले कई स्थानों पर देख चुके हैं। क्या पाण्डवों को उनका अधिकार देना ही पड़ेगा ? यदि दे दिया गया तो मेरे पुत्रों का क्या होगा ? यदि न दिया गया तब क्या होगा ? इस तरह की उधेड़-बुन से धृतराष्ट्र की नींद जाती

रही; उसे ही कथाकार ने "प्रजागर" कहा है। उस व्याधि को दूर करने के लिए भारतीय विचारों के महाकोश में से दो प्रकार की औषधि धृतराष्ट्र को दी गई, एक विदुर के नीति-धर्म की, दूसरी सनत्सुजात ऋषि के अध्यात्म-धर्म की। ये दोनों ही इस पर्व के विशिष्ट रसपूर्ण स्थल और महाभारत के चमकते हुए रत्न हैं।

पाण्डवों का युद्ध-विमर्श

उपप्लव नगर में अभिमन्यु के विवाह से निवृत्त होकर पाण्डव पुनः विराट नगर में लौट आए। यह स्वाभाविक था कि वहां सब लोग मिलकर आगे की समस्या पर विचार करें। विवाह के अवसर पर एकत्र होने वालों में द्रुपद भी थे। सबमें वृद्ध और सबसे मान्य उग्रसेन भी वहां उपस्थित थे। कुछ आरम्भिक वातचीत के बाद कृष्ण ने पाण्डवों के कार्य की ओर सबका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा, "आप सब जानते हैं कि किस प्रकार शकुनि ने कपटद्यूत से युधिष्ठिर का राज्य ले लिया और शर्त के साथ उन्हें प्रवास में भेज दिया। पाण्डवों ने अपने सत्य द्वारा अनेक कष्ट सहकर भी वह व्रत पूरा कर लिया है। अब युधिष्ठिर और दुर्योधन का जो हित हो उसे आप सब सोचें। वह धर्मयुक्त होना चाहिए। अधर्म से युधिष्ठिर देवों का भी राज्य न चाहेंगे। धर्मपूर्वक एक गांव का आधिपत्य भी उन्हें ग्राह्य होगा। कौरवों ने कभी अर्जुन को आमने-सामने नहीं जीता तो भी राजा धृतराष्ट्र और उनके सुहृत् सदा कौरवों की ही कुशल चाहते हैं। पाण्डवों ने अपने बाहुबल से जो राज्य बनाया था वे केवल उसी के इच्छुक हैं। आप सब पृथक् रूप से और मिलकर निश्चित करें। पाण्डवों के साथ कौरवों ने कुछ उलटा व्यवहार किया तो वे लड़ भी सकते हैं। आप यदि सोचें कि ये उन्हें जीत न पायेंगे तो क्या सब हितैषी मिलकर इनकी सहायता के लिए तैयार हैं? दुर्योधन क्या सोचता है और क्या करने वाला है, यह हम नहीं जानते। उसका मत जाने बिना आप भी क्या कर्त्तव्य का निश्चय कर सकेंगे? इसलिए यहां से कोई योग्य पुरुष दूत के रूप में जाकर युधिष्ठिर के लिए आधा राज्य मांगे।"

सबने कृष्ण की बात ध्यान से सुनी। बलराम ने कहा, "आपने धर्म और अर्थ से युक्त कृष्ण का वचन सुना, जिससे युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों का हित होगा। आधा राज्य देकर दुर्योधन सुखी होगा और उसे पाकर युधिष्ठिर भी सुखी होंगे। मुझे भी यह प्रिय है कि कौरव-पाण्डवों में शम की स्थापना के लिए कोई वहां जाय और भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोण आदि एवं वृद्ध पौर जन, सेनाध्यक्ष और व्यापारिक निगम-श्रेष्ठियों की उपस्थिति में नम्रतापूर्वक ऐसे वचन कहे जिससे युधिष्ठिर का हित हो। वहां और भी खिलाड़ी थे जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे किन्तु युधिष्ठिर ने शकुनि को ही चुना और बराबर उलटे पासे पड़ने पर भी खेलते रहे। इसलिए शकुनि का भी कुछ अपराध नहीं। सब कुछ विचार कर उचित तो यही है कि हमारा दूत धृतराष्ट्र को प्रणाम करके शान्तिपूर्वक बातचीत करे, तभी कुछ स्वार्थ सिद्ध हो सकेगा।"

बलराम के अन्तिम वाक्य सात्यकि को डंक की तरह लगे। उसने कहा, "जिसका आपा जैसा होता है वैसा ही वह कहता है। कुछ लोग शूर और कुछ लोग कायर होते हैं। एक ही कुल में क्लीव और वीर दोनों जन्म पा जाते हैं, जैसे एक वृक्ष पर फलप्रद और फलहीन शाखाएं। हे बलराम ! तुम पर नहीं, मेरा रोष इन सुनने वालों पर है, जिनसे तुमने निडर होकर युधिष्ठिर का दोष कहा। अक्षविद्या में अनजान महात्मा युधिष्ठिर को उन जुआरियों ने अपने घर बुलाकर जीत लिया इसमें कहां की धर्मजय ? और फिर उसमें उन्होंने कपट किया। वे भीष्म-द्रोण के समझाने से भी पाण्डवों को उनका पैतृक राज्य नहीं देंगे। मैं तीक्ष्ण बाणों से उन्हें युधिष्ठिर के चरणों में झुकाऊंगा। आततायी शत्रुओं के वध में अधर्म नहीं। हां, शत्रुओं से याचना में अधर्म और बट्टा है।"

द्रुपद ने सात्यकि के जैसे स्वर में ही कहा, "दुर्योधन मिठास से कभी राज्य न देगा। धृतराष्ट्र उसे चाहता है। अतएव उसी की-सी कहेगा। कर्ण, शकुनि मूर्खतावश और भीष्म, द्रोण उत्साहहीनतावश उसी का साथ देंगे। बलदेव का कहना मेरी समझ में तो बैठा नहीं। बिना शक्ति के दुर्योधन से जो कहा जायेगा उसे वह पापी निर्बलता मानेगा। सब जगह दूत भेजो, नहीं तो वह दुर्योधन भेज देगा। पहले जो प्रार्थना करता है

सज्जन उसी की बात मान लेते हैं। शल्य, भगदत्त, आहुक, सेनाविन्दु आदि निष्पक्ष राजाओं के पास, पंचनद, त्रिगर्त, पांसुराष्ट्र (उड़ीसा की पांस नामक रियासत), कारुष, कलिगाधिपति कुमार इन सबके पास दूत भेजो। मेरा यह पुरोहित धृतराष्ट्र के पास जाय और इसे आप बता दें कि वहां धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण और दुर्योधन से क्या-क्या कहना है ?"

कृष्ण ने बड़ी चतुराई से बात को समेटा। उनका अपना मत तो दूत भेजने के पक्ष में था ही, द्रुपद के प्रस्ताव को सुनकर उन्होंने कहा, "पंचाल-राज का कथन युक्तियुक्त है। नीति चाहनेवाले हमारे लिए यही पहला कार्य है। हमारा कौरवों-पाण्डवों से बराबर का संबंध है, यदि दोनों का व्यवहार ठीक चलता रहे। हम तो व्याह के अवसर पर निमंत्रण पाकर आ गए थे। विवाह हो चुका, अब लौट जायेंगे। हे सोमकों में श्रेष्ठ, आप आयु और ज्ञान में वृद्धतम हैं। धृतराष्ट्र आपको बहुत मानते हैं। आप आज ही दूत भेज दीजिए और जो सन्देश हो उसे भी निश्चित कर दीजिए। यदि न्याय से शान्ति हो गई तो भाइयों का युद्ध रुक जायेगा।" तब विराट ने कृष्ण को बन्धु-बान्धवों के साथ द्वारका के लिए विदा किया। उसके बाद द्रुपद ने अपने पुरोहित को दूत रूप में भेजते हुए कहा, "जड़ भूतों से प्राणधारी श्रेष्ठ हैं। सांस लेकर जीने वालों में बुद्धि युक्त प्राणी अश्वगजादि श्रेष्ठ हैं। बुद्धि-युक्तों में मनुष्य, मनुष्यों में द्विजाति, द्विजों में कर्मपरायण बुद्धि रखनेवाले उत्तम हैं। आप ऐसे व्यक्तियों में भी मुख्य हैं। साथ ही प्रज्ञा में शुक्र और बृहस्पति के तुल्य हैं। धृतराष्ट्र की जानकारी में यह सब हुआ। विदुर के समझाने पर भी वह पुत्र का ही पक्ष करता है। आप धृतराष्ट्र से धर्मयुक्त बात कहें। वे राज्य तो न देंगे पर उनके जो धर्म परायण योधा हैं, उनमें फूट पड़ जायेगी। फिर उन्हें एक मत करने में समय लगेगा। इस बीच में हम लोग सेना-कर्म और सामग्री-संचय कर लेंगे। तुम्हारे जाने का यही मुख्य फल होगा कि कुछ समय मिल जायेगा।" यह सुनकर बुद्धिमान् पुरोहित हस्तिनापुर की ओर गया।

कृष्ण का वरण

इधर दुर्योधन भी अपने गुप्तचरों द्वारा युधिष्ठिर की चेष्टाओं का पता लगा रहा था। उसने जब सुना कि कृष्ण द्वारका लौट गए हैं तो वह भी वहां गया। संयोग से उसी दिन अर्जुन ने भी द्वारका के लिए प्रस्थान किया। जब वे पहुंचे कृष्ण सोये हुए थे। दुर्योधन उसी अवस्था में सिरहाने जाकर बैठ गया। उसके पीछे ही अर्जुन भी पहुंचा और पैरों की ओर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा। जागने पर कृष्ण ने पहले अर्जुन को देखा और तब दोनों का स्वागत सत्कार करके उनके आने का कारण पूछा। दुर्योधन ने हँसते हुए कहा, "इस भावी युद्ध में आप मुझे सहायता दें। आपका मुझमें और अर्जुन में बराबर सख्यभाव है। हम दोनों का संबंध भी आपके साथ एक-सा है और फिर मैं पहले आपके पास पहुचा हूं। सज्जन पहले आए हुए को अपनाते हैं। आप इस सद्वृत्त का पालन करें।" कृष्ण ने सरल भाव से उत्तर दिया, "इसमें सन्देह नहीं कि तुम पहले आए, पर मैंने पहले पार्थ को ही देखा। तुम्हारे पहले आने के कारण और उसके पहले देखे जाने के कारण मेरा निश्चय है कि मैं दोनों की सहायता करूंगा। छोटों का मन बहलाव पहले होना चाहिए ऐसी नीति है। एक ओर मेरी असंख्य नारायणी गोप सेना है दूसरी ओर मैं अकेला रहूंगा—सो भी हथियार नहीं उठाऊंगा और युद्ध नहीं करूंगा। हे अर्जुन, इनमें से जो तुम्हें रुचे चुन लो क्योंकि तुम्हारा मन पहले रखना उचित है।" अर्जुन ने तुरन्त कृष्णको चुन लिया और दुर्योधन उनके सैनिकों को अपने पक्ष में करके फिर बलराम के पास पहुंचा और आने का हेतु कहा। बलराम ने कहा, "मैंने विराट के यहां कृष्ण को फटकार कर तुम्हारे पक्ष में कुछ कहा था पर कृष्ण को मेरा वह वाक्य रुचा नहीं। बिना कृष्ण के मैं क्षण भर के लिए किसी पक्ष में नहीं हो सकता। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि दोनों में से किसी का सहायक न बनूंगा।" सुनते ही दुर्योधन प्रसन्न हो गया और उसने अपनी जीत निश्चित जान ली और हस्तिनापुर लौट आया।

कृष्ण ने एकान्त में अर्जुन से पूछा कि तुमने क्या सोचकर मुझ अकेले को चुना। अर्जुन ने कहा, "आप लोक में यशस्वी हैं। यश के लिए मैंने

आपको चुना। बहुत दिन से मेरी इच्छा थी कि आप मेरे सारथी बनें। अब वह अवसर आया है।" कृष्ण ने उसे स्वीकार किया। अर्जुन भी प्रसन्न मन से युधिष्ठिर के पास लौट आया। ऊपर जिन नारायण गोपों का उल्लेख कृष्ण ने अपनी सेना के रूप में किया है वे यमुना के दक्षिण तटवर्ती कछारों से लेकर किसी समय नर्मदा तटवर्ती चेदि प्रदेशतक फैले हुए थे। महाभारत में अन्यत्र भी उनका उल्लेख आया है। उन्हीं के कारण कुंति जनपद या कोतवार प्रदेश गोपाद्रि नाम से प्रसिद्ध हुआ। गोपालगिरि ही वर्तमान ग्वालियर है।

शल्य का आना

विग्रह की ओर रपटते हुए कुरु-पाण्डवों की सूचना उनके मामा मद्रराज शल्य तक पहुंची। वे पांडवों से मिलने चले। दुर्योधन चतुर राजनीतिज्ञ की भांति इस समय बहुत ही चौकन्ना बना हुआ था। शल्य के प्रस्थान की सूचना पाते ही उसने मार्ग में अच्छे से अच्छे सभा-मण्डप खड़े करा दिये। शल्य ने इस प्रबन्ध से प्रसन्न होकर सभाकारों को इनाम देने की इच्छा प्रकट की। दुर्योधन तो गुप्त रूप से वहां था ही, प्रकट हो गया। वह सब प्रबन्ध उसका किया हुआ जानकर शल्य ने प्रसन्न होकर कहा, "जो इच्छा हो मांग लो।" दुर्योधन ने बात पकड़कर कहा, "मैं यही चाहता हूं कि आप सत्यवाक् हों और मेरी सेना के सेनापति हों।" शल्य ने उसे स्वीकार किया और तब वे उपप्लव नगर में पाण्डवों के स्कन्धागार (छावनी) में पहुंचे और उनसे मिले। शल्य ने वनवास दुःख से उबरे हुए पाण्डवों के साथ सच्ची सहानुभूति प्रकट करके दुर्योधन के साथ वचन हारने की बात भी कह दी। युधिष्ठिर ने स्वाभाविक धीरता से कहा, "आपने अन्तरात्मा के अनुकूल ठीक ही किया पर मैं चाहता हूं कि कर्ण और अर्जुन के द्वैरथ संग्राम में आप जब उसके सारथी बनें तो अर्जुन का भी ध्यान रक्खें। चाहे सारथी रूप में आपके लिए ऐसा करना अनुचित भी हो, फिर भी हे मामा, कर्ण के तेज की हानि आप अवश्य करें।" शल्य ने संभवतः पाण्डवों के दुःख से द्रवित होकर इसे भी स्वीकार कर लिया।

इन्द्र-वृत्र आख्यान

इस अवसर पर शल्य ने युधिष्ठिर को दिलासा देने के लिए सपत्नीक इन्द्र के भी दुःख सहने का एक आख्यान सुनाया। यह निश्चय ही इन्द्र-वृत्र प्राचीन वैदिक आख्यान था जिसे यहां भागवत धर्म का उथला पुट देकर किसी उपबृंहण कर्ता व्यास ने चलते हुए कथा-प्रवाह को रोककर बे-अवसर भी कह दिया है। अच्छा होता यदि आरण्यक पर्व की कथाओं की मूसलाधार वृष्टि में इसे भी समेट लिया गया होता। आठवें अध्याय के सत्ताइसवें श्लोक के भाव को शब्दशः अट्ठारहवें अध्याय के तेइसवें श्लोक में (भवान् कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः। तत्र तेजो वधः कार्यः कर्णस्य मम संस्तवैः।) दोहराते हुए कथाकार ने टूटे हुए तार को फिर से जोड़ा है, फिर भी यह आख्यान महत्त्वपूर्ण होने से झांकी लेने के योग्य है। अनेक पुराणों में भी कुछ-कुछ भेद से इसके कितने ही रूप सन्निविष्ट हो गए हैं।

त्वष्टा प्रजापति का त्रिशिरा नामक पुत्र हुआ। वह एक सिर से वेदों का अध्ययन करता और सोम पीता, दूसरे से दिशाओं का पान करता और तीसरे से सुरा का पान करता था। अतएव उसकी संज्ञा विश्वरूप हुई। उसने इन्द्र पद की इच्छा की। इन्द्र ने उसके तप में विघ्न डालने के लिए अप्सराओं को भेजा, पर कुछ फल न हुआ। क्रोध करके इन्द्र ने वज्र का प्रहार किया जिससे वह आहत होकर गिर गया, पर उसके दीप्त तेज के कारण इन्द्र को शान्ति न मिली और वह तेज जीवित-सा ही दिखाई पड़ा। तब इन्द्र ने एक तक्षा को देखा। देखकर कहा कि तुम इसके सिरों को अपने फरसों से काट डालो। इसके लिए तुम्हें यज्ञ में आहुत पशुओं के शिरोभाग प्राप्त होंगे। तक्षा ने वैसा ही किया। इन्द्र प्रसन्न हुए पर प्रजापति त्वष्टा ने क्रोध में भरकर इन्द्र-वध के लिए वृत्र को उत्पन्न किया। 'इन्द्र शत्रु विवर्धस्व' कहकर उन्होंने अग्नि में आहुति दी, जिससे वृत्र ने जन्म लिया। वृत्र और इन्द्र का महाघोर संग्राम होने लगा। वृत्र ने सबको घेरकर इन्द्र को ग्रस लिया। देवों ने ऐसी युक्ति की कि वृत्र को जम्हाई आ गई और इन्द्र तत्काल उसके मुख से बाहर आ गए पर वृत्र के आगे इन्द्र न ठहर सके। यहां तक तो कथा ठीक चली है। इसके आगे कथा को पहला भागवती पुट

यों दिया गया—देव मुनि और इन्द्र ने भयभीत होकर विष्णु के यहां गुहार की और उपाय पूछा। विष्णु ने कहा, "जाकर विश्वरूप से मेल करो। मेरे तेज से ही इन्द्र पार पा सकेगा। मैं उसके वज्र में प्रविष्ट हो जाऊंगा।" ऋषियों ने वृत्र से कहा, "तुम भूरिविक्रम इन्द्र को जीत नहीं सकते। क्यों झगड़ते हो? संधि कर लो?" वृत्र ने कहा, "हम दोनों तेजस्वी हैं, संधि कैसे हो सकती है?" ऋषियों ने फिर उसे चांपा तो उसने कह दिया, "न सूखे से न गीले से, न पत्थर से न लकड़ी से, न शस्त्र से न वज्र से, न दिन में न रात में, यदि मुझे इन्द्र वध्य समझें—और किसी उपाय से नहीं—तो मैं संधि कर लूंगा।" ऋषियों ने चट बात मान ली। इन्द्र वृत्र को टीपने की टोह में रहने लगा। कभी समुद्र तट पर उसने उसे संध्या काल में देखा। इन्द्र ने सोचा, "यह रुद्र की संध्या है, न सूर्य का दिन और न चन्द्रमा की रात है। बस उसने समुद्र के फेन से वृत्र पर प्रहार किया और विष्णु के तेज ने फेन में घुसकर वृत्र को पीस डाला।

इन्द्र और वृत्र का अर्थ

कथा का इतना अंश वैदिक धरातल को बहुत कुछ साधे हुए है। मूलतः यह तम और प्रकाश के द्वन्द की कल्पना है, अर्थात् जल और तेज का द्वन्द ही सृष्टि का मूल द्वन्द है। यही शीत और ऊष्ण भाव का संघर्ष विश्व के मूल स्पन्दन का हेतु है। आप्य प्राण को असुर और तैजस प्राण को देव कहा जाता है। हमारे इस रोदसी ब्रह्माण्ड में जो अमृतात्मा तैजस तत्त्व है वही इन्द्र है। देवों के अधिपति इन्द्र हैं और असुरों के वरुण। वरुण रात्रि, तम, आवरण और संकोचन के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र दिन, ज्योति, भेदन और प्रसारण के प्रतिनिधि हैं। रात्रि तमोलक्षण वह आवरण है जिससे ज्योतिर्मय प्राण आवृत्त हो जाता है। इस आवरण धर्म या आपोमय वारुण प्राण को वृत्र कहा गया है। वृत्र का निर्वचन ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार यह है 'सर्वं वृत्वा शिश्ये' अर्थात् सबको ढककर या अपने तमोमय रूप से सबका आवरण करके वह सो गया। आपोमय वारुण प्राण से आग्नेय ऐन्द्र प्राण का अभिभूत हो जाना ही उस प्राण की सुप्तावस्था है।

व्याप्ति धर्मा कोई जलीय तत्त्व पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ नामक सौर मंडल की त्रिलोकी का संवरण करके उस पर अपना प्रभाव जमाना चाहता है या जमाने के लिए संघर्ष कर रहा है। इसी आप्य प्राण को ऋषियों ने वृत्र कहा है। इस आप्य प्राण रूप वृत्तासुर ने सारे सौर मंडल को घेर रक्खा है, परन्तु उसके आक्रमण होनेपर भी सूर्य का इन्द्र प्राण, जिसे मघवान् इन्द्र भी कहते हैं, विजयी बन रहा है। सौर इन्द्र पारमेष्ठ्य सोम की आहुति से प्रबल बनकर अपने रश्मि रूप वज्र से उस वृत्र का संहार किया करता है अर्थात् सौर रश्मियां अपने तेजोबल से उस वृत्र रूपी आप्य प्राण को हटाती रहती हैं।

वैदिक सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार स्वयंभू, परमेष्ठी सूर्य, चन्द्र, पृथिवी कुल पांच प्रकार के पिंड हैं। स्वयंभू अव्यक्त हैं। उसके बाद परमेष्ठी वह महान है जिसमें आप तत्त्व भरा हुआ है। उसी वारुण आप् तत्त्व से जब आग्नेय तेज का संघर्ष होता है तब सूर्यात्मा इन्द्र प्रबल होकर पानी के गर्भ से रोदसी त्रिलोकी का निर्माण करता है। पानी से तात्पर्य स्थूल जलसे नहीं किन्तु पचभूतों की वह प्राथमिक अवस्था है जिसमें वे सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। इसी आप्ति धर्म के कारण उन्हें आपः (यदाप्नोत् तस्माद् आपः) कहा गया। उस अवस्था को ऋत भी कहते हैं। सर्व व्याप्त होने के कारण जिसका केन्द्र न हो वही ऋत है। ऋत के गर्भ से केन्द्रयुक्त सत्य का जन्म होता है। स्वतः प्रकाश सूर्य ही विश्व का वह सत्यात्मक केन्द्र है। जिसकी रश्मियों के उच्छिष्ट भाग से या प्रवर्ग्य से विश्वभूतों की सृष्टि हो रही है।

त्रिशिरा विश्वरूप का अर्थ

परमेष्ठी ही त्वष्टा प्रजापति हैं। उसका त्रिशिरा नामक पुत्र विश्वरूप है। जिसमें सब रूपों की समष्टि हो वही विश्वरूप है। प्रजापति और उसका पुत्र दोनों अभिन्न हैं। परमेष्ठी के व्याप्तिमत् स्वरूप में या पंचभूतों की प्रथम अव्यक्त अवस्था में जिसे विज्ञान की भाषा में प्रोटो-मैटर कहेंगे, पृथक्-पृथक् रूप अन्तर्लीन रहते हैं। इन्द्र या मघवा प्राण ही उनका तक्षण करके उन रूपों को अलग-अलग अवस्था में लाता है। कहा है—रूपं-रूपं

मघवा बोभविति मायाः कृण्वानस्तन्वम्परि स्वाम् (ऋग्वेद ३।५३।८)। सौर इन्द्र सकेन्द्र तत्त्व है। जिसमें सीमा भाव हो वही माया तत्त्व है। इन्द्र अपने माया बल को अनन्त केन्द्रों के चारों ओर प्रवर्तित और संचित करता हुआ नाना रूपों की सृष्टि कर रहा है। प्रत्येक पिंड या रूप में एक इन्द्रवल या मायाबल सीमित बना है। विश्व का सवसे बड़ा वल माया वल है। त्वष्टा के पुत्र को त्रिशिरा कहा गया है। विश्वरूप होते हुए भी त्रिशिरा के केवल तीन सिर थे। सिर यहां रूप तत्त्व का प्रतीक है। विश्व में सब रूपों की तीन ही कोटियां हैं। इन्हें वैदिक भाषा में लोक-साहस्री, वेद-साहस्री और वाक्-साहस्री कहते हैं। वेद-साहस्री का तात्पर्य मनोमय रूप, लोक-साहस्री का तात्पर्य प्राणमय या लोकमय रूप (आयतन मात्र) एवं वाक्-साहस्री का तात्पर्य अर्थमय या भूतमय रूप है। यही त्रिशिरा के क्रमशः तीन सिर हैं। पहले सिर से वह वेद का अध्ययन करता था, दूसरे से दिशाओं का पान करता था (अर्थात् सब लोकों का उसमें अन्तर्भाव था) और तीसरे सिर से वह वाक्सृष्टि या भूत सृष्टि के प्रतीक रूप सुरा का पान करता था। सुरा वैदिक भाषा में क्षत्र या भूत का प्रतीक है। सुरा का उलटा सोम है, वह ब्रह्म या वेद है। इसीलिए आख्यान में कहा है कि जिस सिर से वह सोम पान करता था उसी से वेद पाठ भी करता था।

इन्द्र के वज्र-प्रहार अर्थात् माया बल से त्रिशिरा का शिरश्छेद हो गया जिन विश्वरूपों को उसने अपने तीन सिरों में छिपा रखा था उनका मोक्ष या प्रसारण इन्द्र द्वारा होता है। इस कार्य में इन्द्र तक्षण धर्म का आश्रय लेता है। उसे ही कथा में तक्षा का परशु (वढ़ई का फरसा) कहा गया है। इस तक्षा को क्या प्राप्त होता है? यक्ष में आहुत पशु का शीर्ष भाग। छिन्न सिर को ही वैदिक भाषा में प्रवर्ग्य कहा जाता है। पशु नाम भूत का है। जितनी भूत सृष्टि है सब प्रवर्ग्य से संभव है। प्रत्येक भूत किसी मूल केन्द्र का छिन्न भाग या प्रवर्ग्य है। मूल स्रोत से छिन्न-शीर्ष होना या कटकर अलग हो जाना भूतयज्ञ या भूतनिर्माण के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए सूर्य शक्ति का स्रोत या केन्द्र है। केन्द्र को ही उक्थ कहते हैं। जहां से उत्थान होता है वही उक्थ है। सूर्य-केन्द्र से चारों ओर फैलने वाले सहस्र-सहस्र रश्मि जाल का उक्थ सूर्य है। रश्मियों की यह

शक्ति जबतक सूर्य से मिली रहती है तबतक उसे सूर्य का ब्रह्मौदन कहते हैं। वही ताप और प्रकाश की शक्ति रश्मियों द्वारा बिखर कर जब आकाश में फैल जाती है तब वह सूर्य का छोड़ा हुआ भाग प्रवर्ग्य कहलाता है। प्रवर्ग्य को ही यज्ञ की भाषा में छिन्न-शीर्ष्ण भाग कहते हैं। शक्ति का कोई भी केन्द्र अपना ब्रह्मौदन नहीं दे सकता। उसे स्वरूप-संरक्षण के लिए रखना पड़ता है। उस ब्रह्मौदन का कुछ अंश ही हम अपने से अलग करके दूसरे को दे पाते हैं। उसी को अपने स्वरूप का छिन्न भाग या कटा हुआ अंश कहते हैं।

जो यज्ञ निर्माण की प्रक्रिया के भीतर आया हुआ है वही यज्ञ का पशु है। उसके ब्रह्मौदन का प्रवृक्त या छिन्न भाग औरों को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से विश्व में सूर्य भी यज्ञीय पशु है। उसे ही मेध्य अश्व कहा है और उषा उस मेध्य अश्व से पृथक् हुआ मस्तक या उसका प्रवर्ग्य भाग है (उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः—बृहदारण्यक, १।१।१)। महाकाल रूपी अश्व हमारे लिए अनिवार्य रूप से संगमनीय या संग्राह्य है। उसी का एक प्रच्छिन्न टुकड़ा या सूक्ष्म अंश उषा है।

तक्षा ने जब त्रिशिरा के तीन सिरों का तक्षण कर दिया तब उन तीन सिरों से कथा के अनुसार कपिंजल, तित्तिर और कलविंक ये तीन प्रकार के पक्षी उड़कर चारों ओर फैल गए। यहां भी वैदिक कल्पना को पुराण के शब्दों में ढाला गया है। विश्वरूप के सिरों के तक्षण से पक्षियों का नीचे ऊपर दिशा-विदशाओं में फैलना एक सुन्दर अभिप्राय है। पक्षी को सुपर्ण कहते हैं और रूपधारी प्रत्येक पिण्ड या पदार्थ वैदिक भाषा में सुपर्ण कहा जाता है। जिसके निर्माण की व्याख्या के लिए वैध यज्ञ में सुपर्ण-चिति की जाती है। स्वज्योति, परमज्योति और रूपज्योति तीन ही प्रकार के पिण्ड हैं जिन्हें क्रमशः सूर्य, चन्द्र और पृथिवी भी कहते हैं। यहां प्रतीक भाषा में कपिंजल नाम से (जो ऊंचे वृक्षों पर घोंसला रखता है) वेद या मनोमय सुपर्ण, तित्तिर प्रतीक से (जो चारों ओर झाड़ियों में घोंसला रखता है) प्राण या लोकमय सुपर्ण और कलविंक या गोरैया पक्षी के प्रतीक से (जो घरों में घोंसला बनाता है) भौतिक सुपर्ण या पिण्डों का ग्रहण किया गया है। सुपर्ण को ही सप्तपुरुष पुरुषात्मक प्रजापति कहा गया है और सूर्य,

चन्द्रमा इत्यादि महापिंडों को भी वैदिक भाषा में सुपर्ण ही कहा है। ये सब त्वष्टा प्रजापति के रूप-तक्षण के प्रकट परिणाम हैं। त्वष्टा रूपाणि पिंशतु अथवा त्वष्टा हि रूपाणां विकरोति इत्यादि कितने ही वाक्यों में वैकारिक, भौतिक या व्यक्त रूपों का निर्माण करने वाले को त्वष्टा कहा गया है।

त्रिशिरा और वृत्र दोनों प्रजापति के पुत्र हैं। दोनों आसुर आप्य प्राण के ही प्रतीक हैं। त्रिशिरा या विश्वरूप उसकी पूर्वावस्था है और वही जब रूप-तक्षण के लिए उद्यत वज्रधारी इन्द्र से संघर्ष करने लगता है तब उसे वृत्र कहा गया है। वृत्र और इन्द्र के महाघोर संघर्ष को उपाख्यान की भाषा में ढालते हुए कहा है कि वृत्र ने इन्द्र को अपना ग्रास बना लिया और पुनः देवशक्ति की महिमा से इन्द्र वृत्र के उदर से बाहर आया। जो वृत्र सबका आवरण करके सोया हुआ था उसने जम्हाई ली, इसका तात्पर्य यही है कि उसमें अग्नि का जागरण हुआ या गतितत्त्व या प्राणतत्त्व उद्‌बुद्ध हुआ। आग्नेय तत्त्व का उद्‌बोधन ही इन्द्र की विजय है। जृम्भिका या जम्हाई प्राणों की हलचल या जागरण का प्रतीक है। जृम्भण के साथ ही तत्काल इन्द्र वृत्र के ग्रास से मुक्त हुआ और इन्द्र की मुक्ति से देव महीयान् और प्रसन्न हुए।

अग्नि और जल का संघर्ष ही सृष्टि है

अग्नि और जल का यह संघर्ष सृष्टि-प्रक्रिया का मूल रहस्य है। चारों ओर छाए हुए जल को अपनी शक्ति से सोम रूप में परिणत करके अग्नि उसे अपना भक्ष्य या अन्न बनाता है और उसीसे बढ़ता है। शुद्ध जो जलरूप अवस्था है वह उस जलात्मक दूध के समान है जिसकी आहुति से अग्नि बुझ जाती है, किन्तु अग्नि संयोग से जब उसी दुग्ध में से घृत उत्पन्न होता है तब वह घृत रूपी सोम अग्नि का संवर्धन करता है। घर्षण, मन्थन, तापन का ही नाम अग्नि है। विराट् और अणु दोनों में समान प्रक्रिया हो रही है। इन्द्र सोम चाहता है। सूर्यरूपी इन्द्र का निर्माण भी महती नीहारिकाओं के घर्षण-मन्थन पर ही निर्भर है। यही उस महान् समुद्र का मन्थन है जिसका पौराणिक कथाओं में रूपक बांधा गया है। जबतक आवरण करने वाले

वृत्र का विनाश न हो तबतक इन्द्र प्राण की विजय संभव नहीं। वृत्र या आवरणात्मक आप् तत्त्व को ही वैदिक भाषा में वरुण भी कहा जाता है। आप्य वारुण प्राण आसुरी है। इन्द्र प्राण दैवी है। इसका तात्पर्य यही कि वरुण शीत और इन्द्र उष्ण है; वरुण ऋत रूप है, इन्द्र या सूर्य सत्य रूप है। सर्वत्र व्याप्ति-धर्मा आप्तत्त्व का कोई ध्रुव केन्द्र न था। उसी में मन्थन प्रकिया से जब ताप जन्य परमाणुओं का समूहन हुआ तभी केन्द्र काअविर्भाव हुआ। केन्द्रात्मक संस्थान ही सत्य कहा जाता है। वही सूर्य है। महान् पारमेष्ठ्य समुद्र में शक्ति के विराट मन्थन से सूर्यसदृश अनेक पिण्ड उत्पन्न हुए। हमारा सूर्य उनका प्रतीक है। आवरणधर्मा शीतप्रधान आप्य आसुरी तमोभाव रूपी वृत्र को हटाकर प्रकाशक ज्योतिरूप इन्द्र प्राण की अन्तिम विजय या महिमा का साक्षी यह सूर्य है।

न केवल विराट सृष्टि में किन्तु प्रत्येक सूक्ष्म सृष्टि में भी जहां रेतोधान होता है वृत्र और इन्द्र का यही नियम काम करता है। महान् आप् तत्त्व-योनि है। उसमें शुक्र का आधान किया जाता है। 'मम योनिर्महद्‍ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (गीता), यही सृष्टि का नियम है। माता का आर्तव पारमेष्ठ्य आप्य तत्त्व के समान है, वह तमोमय है। अभी उसमें कोई रूप प्रकट नहीं। उसमें जब शुक्राधान होता है तब एक केन्द्र बन जाता है। उस केन्द्र में आग्नेय तत्त्व का एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश प्रविष्ट है। वही अग्नि या इन्द्र प्राण है। उस गर्भित भ्रूण में विश्व रूपों की समष्टि अन्तर्लीन रहती हैं। उसी में रूपों का तक्षण करने वाला वह मूल प्राण भी है जो मन, प्राण, वाक् या ज्ञान, क्रिया, अर्थ के समस्त त्रिविध रूपों को क्रमशः, अभिव्यक्त करता है। वे ही विश्वरूप त्रिशिरा के तीन सिर हैं। उनका जो तेज ढका हुआ था उस आवरण या वृत्र को हटा कर ही इन्द्र या आग्नेय प्राण उसी गर्भित भ्रूण में सब रूपों को क्रम-क्रम से प्रकट करता है। यही त्वष्टा रूपाणि पिंशति प्रक्रिया है। मातृकुक्षि में जो अन्न से बनने वाले रस हैं उन सबके भीतर से पोषण तत्त्व लेता हुआ भ्रूण अपना विकास करता है। वह पोषणात्मक रस तत्त्व ही सोम है। रस की जो मात्रा भ्रूण स्थित उस आग्नेय केन्द्र को प्राप्त होती है, वही उस इन्द्र का सोम भाग है। इन्द्र ने स्वयं अपनी व्याख्या करते हुए कहा है—प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा, मैं वह प्रज्ञा

या चित् तत्त्व हूं जो प्राण संयुक्त हैं। वृक्ष-वनस्पतियों का रस ही उनका प्राण है। कीट, पतंग, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि में रस भी है और चित् और मनस्तत्त्व भी विशेष रूप से उद्बुद्ध है। इसी मध्य प्राण की संज्ञा इन्द्र है जो सबके भीतर दहक रहा है। इन्द्र ही इन्द्रियों के रूप में अपनी सत्ता प्रमाणित और प्रकाशित कर रहा है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि प्राण-रूप में दहकने के कारण ही उसे इन्ध कहते हैं और इन्ध ही इन्द्र है। सृष्टि का मूल विराट्भाव या अणुभावों में कोई है तो एकमात्र प्राण या गतितत्त्व ही है। प्राणो वै समञ्चन-प्रसारणम् (शतपथ ८।४१।४।१०)—यही प्राण या गति तत्त्व की सबसे बड़ी वैज्ञानिक परिभाषा है। यही अग्नि है। यही रुद्र है, जैसा स्पष्ट शब्दों में कहा है :

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्।। (मनु)

सृष्टि कहीं भी हो एक यज्ञ है। अग्नि में सोम की आहुति के बिना कोई सृष्टि संभव नहीं। केन्द्रस्थ अग्नि स्पन्दन द्वारा जिस पोषण तत्त्व का आकर्षण करता है वही उसका सोम है। यही दहकने वाला इन्द्र प्राण यज्ञ का सबसे बड़ा देवता है (इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता)। सोम ही उसका प्रिय पेय है। यही सृष्टि में इन्द्र की महतो महीयसी महिमा है। इसको नाना प्रकार से और अनेक रूपकों या उपाख्यानों द्वारा उपबृंहित किया गया है किन्तु तथ्य इतना ही है कि हमारी इस रोदसी त्रिलोकी में इन्द्र ही केन्द्रस्थ तत्त्व है और गति या स्पन्दन ही उसका स्वरूप है। जैसे-जैसे इन्द्र वृत्र पर विजयी होता है वैसे-वैसे ही यज्ञ या रूप निर्माण की प्रक्रिया बढ़ती है। वृक्ष वनस्पति और प्राणधारियों में इसे हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। सृष्टि के मूल में कोई महती ऊष्मा है जिसका तार सब भूतों में पिरोया हुआ है। ऊष्मा से ही ऊष्मा का जन्म संभव है, वह ऊष्मा ही अग्नि है—'ऊष्मा चैवोष्मणः जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते। अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् (आरण्यक पर्व २११।४)। जो सबसे पहले या प्रारम्भ में हुआ उस अग्रणी ऊष्मा की ही संज्ञा अग्नि है। वही तो भूतों के भीतर बैठा हुआ है। भूतों को रचने वाली वही आग्नेय या इन्द्र प्राणात्मिका शक्ति इस सृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण और रहस्यमयी है। उसे ही मनुतत्त्व या प्रजापति भी

कहा जाता है। ऋग्वेदी उसे सब मूर्तियों का अधिष्ठाता केन्द्र या महदुक्थ कहते हैं। सामवेदी तेज मंडलों की ओर दृष्टि करते हुए उसे ही सबसे महान् तेजोमंडल या महाव्रत साम कहते हैं। इन्द्र के स्वरूप की व्याख्या और उसकी साक्षात् अनुभूति समस्त ऋग्वेद का सार है। इन्द्र-वृत्र का उपाख्यान ही सब वैदिक उपाख्यानों में सिरमौर है।

इन्द्र की ब्रह्महत्या का अर्थ

उद्योगपर्व में इन्द्र-वृत्र की कथा के वैदिक स्वरूप के निर्वाह के साथ आगे के अंश में कुछ उस युग का पाचरात्रिक पुट दिया गया है जब अव्ययात्मा महाविष्णु को देवाधिदेव माना जाने लगा था। इसके अनुसार वृत्र का बल ऐसा बढ़ा कि इन्द्र उससे हारने लगा और उसने विष्णु से यह बात कही— "मैं पहले समर्थ था, अब असमर्थ हो गया हूं" (समर्थो ह्यभवं पूर्वमसर्थो हि साम्प्रतम्, उद्योग० १०।२) । विष्णु ने कहा—"हे देवो, मैं इन्द्र के वज्र में प्रविष्ट होकर उसे वृत्र-वध की शक्ति प्रदान करूंगा।" कथा में जो यह कहा है कि इन्द्र ने समुद्र के फेन से वृत्र का नाश किया, इतना अंश भी वैदिक वर्णन के अनुकूल था। वैदिक विज्ञान में अम्भोवाद नामक एक दृष्टिकोण था, नासदीय सूक्त में जिसका उल्लेख आया है। इसके अनुसार आप् या जल या वायु के संघर्ष से विकास की परम्परा बताते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि सबसे पहली उत्पत्ति फेन की हुई। तब क्रमशः मृत, ऊष (क्षार पदार्थ), सिकता (बालू), शर्करा,(कंकड़) अश्मा अयस् और हिरण्य इन आठ प्रकार के पदार्थों का निर्माण हुआ जिनमें कोमल फ़ेन से लेकर कड़े से कड़े रत्नादिक सब आ जाते हैं। जिस समय आपोमय समुद्र में फेन बनने लगा उसी समय मानों वृत्र का आवरण हट गया या वृत्र का नाश हो गया। उस समय रौद्र वायु के स्थान में शिव वायु बहने लगी अर्थात् जल के मन्थन से सोम उत्पन्न होकर आग्नेय तत्त्व का संवर्धन करने लगा।

पारमेष्ठ्य तत्त्व को महान् या महत् ब्रह्म कहा जाता है। इसीलिए पारमेष्ठ्य जलों पर जब तापधर्मा इन्द्र या अग्नि को विजय मिली तो कथा

के ढंग से कहा गया कि इन्द्र को ब्रह्महत्या का अपराध लगा। उस कहानी को बढ़ाते हुए कहा गया है कि इन्द्र छिप गया और उसके स्थान में नहुष को देवों ने इन्द्र बनाया। इन्द्राणी के लिए कामुक होने के कारण नहुष को अपदस्थ होना पड़ा। यहां कहानी को फिर वैष्णव मोड़ दिया गया है। जब इन्द्र का पता न चला तब देवता विष्णु के पास गए। विष्णु ने कहा, मेरा भजन करो। मैं ब्रह्महत्या के दोष से इन्द्र को मुक्त करूंगा। पवित्र अश्वमेध यज्ञ से इन्द्र फिर देवराज पदवी पाएगा।" देवों ने ऐसा ही किया। इन्द्राणी द्वारा इन्द्र की अलग खोज हो रही थी, उसने किसी उपश्रुति नामक देवी का आवाहन किया। इसका उल्लेख ऋग्वेद (८।८।५) और अथर्ववेद (१६।२।५) तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आया है। यह यूनानी ओरेकिल के ढंग की कोई प्रश्न बूझने वाली देवी थी। कहा गया है कि इन्द्र अणु मात्र शरीर से कमल नाल के भीतर छिपे थे। वस्तुतः यह वैदिक पुष्करपर्ण का ही प्रतीक है। अग्नि द्वारा जलों के मन्थन से सर्वप्रथम एक केन्द्र उत्पन्न हुआ जिसके आश्रय से गतितत्त्व का स्पन्दन आरम्भ हुआ और केन्द्र को परिधि या सीमा भाव के अन्दर आना पड़ा। इसी सीमाभाव को वैदिक भाषा में पुर कहा जाता है। पुर समूह के निर्माता तत्त्व को ही पुष्कर कहते हैं। पुष्कर जल की भी संज्ञा है। उस पुष्कर के एक देश में ऊपर तैरता हुआ प्राण का आधार ही पुष्करपर्ण कहा गया है। वस्तुतः सबसे अन्त में कथाकार की दृष्टि उसी अग्नि तत्त्व की ओर जाती है जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है। उसके विषय में कहा है कि जो इन्द्र है वही अग्नि है। अतएव महायज्ञों में इन्द्र और अग्नि दोनों को एक ही ऐन्द्राग्न्य आहुति दी जाती है। अद्भ्यः अग्निः (उद्योग १५।३२)—जलों से आग्नेय तत्त्व का प्रादुर्भाव यही सृष्टि का मूल सूत्र है जिसे वेदों में अनेक प्रकार से कहा गया है। यहां भी अग्नि की सुन्दर प्रशस्ति दी गई है—'हे अग्नि, तुम देवों के मुख हो। तुम सबके भीतर गूढ़ रहते हुए साक्षी हो। मंत्रद्रष्टा कवि तुम्हें एक कहते हैं (एकंवाग्निर्बहुधा समिद्धः। ऋक् ८।५८।२)। तुम्हीं सृष्टि के लिए त्रिविध हो जाते हो। तुम इस जगत् को छोड़ दो तो इसका स्वरूप नहीं रह सकता। तुम्हीं हव्यवाह और हव्य हो। तुम्हीं अन्नाद और अन्न हो। बड़े-बड़े सत्र, सोमयज्ञ और यज्ञों में तुम्हारा ही यजन होता है। तुम्हीं

भुवनों के जन्मदाता और तुम्हीं उनकी प्रतिष्ठा हो। तुम्हीं तीन लोकों को उत्पन्न कर समय आने पर अपने ताप से उन्हें भून डालते हो। मेघ और विद्युत तुम्हारे रूप हैं। संवत्सर तुमसे ही जन्म लेता है। सोम के धरातल पर तुम्हारी प्रतिष्ठा ही ऋतुएं या संवत्सर हैं। शीत के धरातल पर तुम्हारा क्रम से बसना या संचय ही वसंत है। उसी प्रकार शेष ऋतुएं तुम्हारे ताप क्रम से ही निष्पन्न होती हैं। हे अग्नि, तुम अपने तेज से जलों में प्रविष्ट हो और यदि इसमें कहीं इन्द्र छिपा है तो उसे ढूंढ़ लाओ। अग्नि ने ऐसा ही किया और पद्मनाल या बिसतन्तु या पुष्करपर्ण के मध्य में अणु रूप से प्रविष्ट इन्द्र प्राण को ढूंढ़ लिया।

इन्द्र-वृत्र का यह महान् उपाख्यान शल्य के मुख में रखकर कथाकार ने उसे बड़ाई ही दी है। वैसे तो शल्य बिल्कुल बुद्धिहीन था। महाभारत के पात्रों में ऐसा निर्बुद्ध शायद ही कोई हो। रास्ते में बनाए हुए ठहरने के मंडपों को देखकर वह शिल्पियों को इनाम देना चाहता था; किन्तु बिना सोचे-विचारे दुर्योधन को ही अपनी सहायता का वचन दे बैठा और स्वयं ही अपनी यह लीला कहने के लिए पाण्डवों के पास पहुंच गया। युधिष्ठिर भी शल्य के चरित्र की नस पहचानते थे। इसलिए उनसे कर्ण की तेजोहानि-रूपी अनुचित काम करने की प्रार्थना का साहस युधिष्ठिर ने किया, "हे मामा, करने योग्य तो नहीं है, फिर भी हमारे लिए इतना तो कर ही देना:"

तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः।
अकर्त्तव्यमपि ह्येतत् कर्त्तुमर्हसि मातुल ॥ (उद्योग ८२७)

पाण्डवों और कौरवों के सहायक

इधर कौरव-पाण्डवों का तनाव बढ़ रहा था। उधर उसकी सूचना उनके हित-मित्रों को मिल रही थी और वे अपने-अपने पक्ष की सहायता के लिए आने लगे। सात्वतवीर महारथी युयुधान एक अक्षौहिणी सेना के साथ युधिष्ठिर की ओर आया। चेदि का राजा शिशुपाल-पुत्र धृष्टकेतु, मगधराज जरासंधपुत्र जयत्सेन एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये। इसके अतिरिक्त सागर तटवासी पाण्ड्य देश का राजा भी अपनी सेना लाया। द्रुपद

की सेना, विराट की सेना एवं पहाड़ी राजाओं की सेना सब मिलाकर पांडवों की ओर सात अक्षौहिणी एकत्र हुईं। कामरूप का एक राजा भगदत्त अपने चीनी और किरात सैनिकों के साथ, भूपरिश्रवा, शल्य, कृतवर्मा एक-एक अक्षौहिणी सेना के साथ दुर्योधन की ओर आ मिले। जयद्रथ सिंधु-सौवीर के राजाओं के साथ एक अक्षौहिणी सेना लाया। कम्बोज (मध्य एशिया का पामीर प्रदेश) के सुदक्षिण नामक राजा की एक अक्षौहिणी सेना में शकयवन योद्धा थे। माहिष्मती का नील अपने दक्षिणापथवासी वीरों की एवं अवन्तिराज भी एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधन की ओर आ मिले। केकय देश के राजा पांच भाई थे। वे भी एक अक्षौहिणी बल के साथ आये। इधर-उधर की तीन अक्षौहिणी सेना और एकत्र हुई। सब मिलकर दुर्योधन के पक्ष में ग्यारह अक्षौहिणी सेना जुड़ी। हस्तिनापुर में उन सबके लिए स्थान न था। अतएव पंचनद, कुरुजाङ्गल, रोहितक, वाटधान, यमुना का उपरला प्रदेश, पहाड़ में कालकूट जनपद और गंगाकूल तक सेना के पड़ाव के लिए छावनियों का तांता फैल गया।

द्रुपद के पुरोहित का दूत-रूप में हस्तिनापुर आना

द्रुपद के पुरोहित ने यह सब तैयारी देखी। धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर ने उसकी आवभगत की। तब उसने सब सेनापतियों के समक्ष धृतराष्ट्र से निवेदन किया, "आप सब लोग सनातन धर्म को जानते हैं, फिर भी मैं बात आरंभ करने के लिए कुछ कहूंगा। धृतराष्ट्र और पाण्डु एक ही पिता के पुत्र हैं। उनका पैतृक अधिकार है। धृतराष्ट्र को उनका पैतृक धन मिल गया तो पाण्डुपुत्रों को क्यों नहीं? आप जानते हैं, पाण्डवों ने प्राणान्त कष्ट सहकर भी प्रयत्न किया। उनकी आयु शेष थी, इसीलिए वे मरे नहीं। उन्होंने पुनः अपना राज्य बढ़ा लिया। वह भी कौरवों ने ले लिया। पाण्डवों ने तेरह वर्ष क्लेश से वन में काटे। उन बातों को भुलाकर वे शान्ति से आधा भाग चाहते हैं। यह सब जानकर मित्रपक्ष के लोग कृपया धृतराष्ट्र को समझायें। पाण्डव विग्रह नहीं चाहते। लोक के अविनाश से अपना भाग चाहते हैं। यथाधर्म आप प्रदान करें और इस समय चूकें नहीं और

यदि दुर्योधन युद्ध ही चाहे तो भी पाण्डव तगड़े ही पड़ेंगे।" प्रज्ञाशील भीष्म ने समझ लिया कि यह कुशल दूत नहीं, बुद्धिहीन पण्डित है। उन्होंने कहा, "पाण्डव कुशल से हैं और संधि चाहते हैं, यह जानकर प्रसन्नता हुई। पर मैं समझता हूं, आपने ब्राह्मण होने के नाते बहुत तीखी बात कही।" भीष्म की बात बीच में ही काटकर कर्ण ने कहा, "कौन है जो यह सब गईबीती नहीं जानता? उसके बार-बार दोहराने से क्या लाभ? युधिष्ठिर जो शर्त करके वन में गये थे, उसके अनुसार मालूमहोता है कि वे राज नहीं चाहते। विराट और पांचाल की सेना को धमकाना चाहते हैं। सो हे पंडितजी, चाहे धर्म से दुर्योधन सारी भूमि दे दे, भय से पैर भर भी न देगा। पाण्डव धर्म से राज्य चाहें तो प्रतिज्ञा के अनुसार तेरह वर्ष वन में रहें, तब निर्भय होकर दुर्योधन की शरण में आवें। मूर्खों की बुद्धि न करें।" भीष्म ने कर्ण के कथन को भी अच्छा नहीं समझा, "हे कर्ण, इस ब्राह्मण ने जैसा कहा है, यदि वैसा न किया गया तो हम सब युद्ध में धूल चाटेंगे।" धृतराष्ट्र ने कर्ण को कुछ डपटा और बात को ठंडा करने के लिए कहा, "भीष्म ने सबके हित की बात कही है। मैं भी सोचकर संजय को पाण्डवों के पास भेजूंगा। आप लौट जायं।"

४४ :: संजययान

(अ० २०—३२)

तब धृतराष्ट्र ने संजय से कहा, "हे संजय, सुनते हैं, पाण्डव उपप्लव में आ गए हैं। उन्हें सम्मान के साथ स्वस्ति कहना और उनकी कुशल पूछना एवं और भी समयानुकूल जो समझो, कहना।" यहां धृतराष्ट्र ने संजय को बहुत सीमित अधिकार देकर केवल रामा-रामी करने के लिए भेजा था। बात में रत्ती भर भी जान न थी, पर संजय अनुभवी थे। उपप्लव में जाकर उन्होंने मीठे शब्दों में दोनों ओर की कुशल का लंबा लेखा-जोखा

दिया और कहा, "एक बात मुझे रात में धृतराष्ट्र ने जो बुलाकर कही थी, उसे भी सुन लो।" धृतराष्ट्र का यह गुप्त संदेश व्यर्थ की लल्लो-चप्पो और धमकी से भरा हुआ था। उसकी ध्वनि यही थी कि युद्ध न करके शान्ति रक्खो, "वह जीवन भी मृत्यु जैसा है, जिसमें अपने बंधुबांधवों का वध करके जीवित रहना पड़े। पाण्डव इतने नीच कभी न होंगे कि निर्धर्म कर्म करने पर उतारू हों।" उसे सुनकर युधिष्ठिर हक्के-बक्के रह गए और कहा, "हे संजय, युद्ध से विरत रहना चाहते हो तो युद्ध भड़काने वाली यह बात क्यों कहते हो ? ठीक है, युद्ध से अयुद्ध अच्छा है। यदि अयुद्ध मिलता हो तो कौन युद्ध चाहेगा ? कौन ऐसा दैव से अभिशप्त है कि जान-बूझकर युद्ध करेगा ? तुम जानते हो कि हमने कितने कष्ट सहे हैं, फिर भी जो पहली स्थिति थी, वह लौट आवे और इन्द्रप्रस्थ का राज्य हमें मिल जावे तो हम शम की नीति का पालन करेंगे।" उत्तर में संजय ने वैराग्य भरे उपदेश का पैंतरा बदला और धर्म की दुहाई देते हुए कहा, "हे युधिष्ठिर, यदि ऐसा ही हो कि कौरव युद्ध के बिना तुम्हें कुछ न देने पर अड़ जायं तो भी मेरी सम्मति है कि तुम्हारे लिए युद्ध से राज्य लेना अच्छा नहीं, अन्धक वृष्णियों के यहां जाकर भिक्षावृत्ति करना अच्छा है। जो धर्म करता है, वह महाप्रतापी सविता की तरह चमकता है। यदि धर्म की हानि हो और पृथिवी ही मिल जाय तो भी दुःख ही है। तुम अश्वमेध और राजसूय कर चुके हो। अब सत्य और आर्जव की सीमा तक पहुंच कर फिर भी इस युद्ध-रूपी पापिष्ठ कर्म को क्यों सोचते हो ?" युधिष्ठिर यद्यपि स्वयं धर्म के पक्षपाती थे, किन्तु संजय ने जो धर्म की रट लगाई, उससे वे भी खिन्न हो गए, "हे संजय, यह सच है कि कर्म से धर्म अच्छा है; पर मेरी गर्हा करने के पहले यह भी तो जान लो कि मैं धर्म कर रहा हूं या अधर्म। जहां अधर्म धर्म का रूप बना लेता है वहां फिर धर्म अधर्म जैसा दिखाई देने लगता है। मेरी तो वृत्ति ऐसी है कि पृथिवी के धन को, देवलोक, प्रजापति लोक या ब्रह्मलोक के धन को भी अधर्म से नहीं चाहता।"

कृष्ण द्वारा संजय को उत्तर

यहां कथाकार ने यह उल्लेख किया है कि युधिष्ठिर ने संजय के सामने धर्म और कर्म के तारतम्य की व्याख्या करने के लिए कृष्ण को प्रेरित किया, यद्यपि एक बार कृष्ण द्वारका जा चुके थे और दोबारा उनके उपप्लव आने का उल्लेख नहीं है। हो सकता है कि जैसे और लोग आ रहे थे, वे भी आ गए हों; क्योंकि ऐसे गाढ़े समय में उनसे सलाह लेकर ही पाण्डव आगे बढ़ सकते थे। कृष्ण की ओर से संजय के सामने कर्म की बहुत ही सुन्दर मीमांसा की गई है, "हे संजय, मैं तो सबके लिए शम चाहता हूं, पर जहां धृतराष्ट्र और दुर्योधन जैसे गिद्ध हों, वहां युद्ध क्यों न छिड़ जाय? कर्म और विद्या इन दोनों के विषय में प्रज्ञाशील ब्राह्मणों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई कर्म से सिद्धि, कोई विद्या (ज्ञान) से सिद्धि कहते हैं। कैसा भी विद्वान् या ज्ञानी हो, बिना खाए उसकी भूख नहीं बुझती। जो ज्ञान कर्म को साधता है, उसी का फल है, दूसरे का नहीं। यहां तो कर्म का ही फल दिखाई देता है। जल पीने से ही प्यासे की प्यास मिटती है। जो कर्म का त्याग ठीक समझता हो, उस निर्बल का लप-लप करना व्यर्थ है (तत्र योऽन्यत्कर्मण: साधुमन्येन्मोघं तस्य लपितं दुर्बलस्य)। कर्म से ही देवता चमक रहे हैं। कर्म से ही वायु वह रही है। सूर्य तन्द्रारहित कर्म से ही नित्य उदय होकर दिन और रात का विधान कर रहा है। चन्द्रमा बिना आलस्य के नक्षत्रों से सम्पर्क सिद्ध करके मास और अर्धमास बना रहे हैं। अग्नि बिना तन्द्रा के प्रज्वलित रहते हुए प्रजाओं के लिए कार्य कर रहे हैं। देवी पृथिवी बिना तन्द्रा से अपने बल से इस भारी बोझे को ढो रही है। नदियां बिना तन्द्रा के जलों का प्रवाह कर रही हैं। बिना तन्द्रा के मेघ अन्तरिक्ष और द्युलोक को अपनी गंभीर ध्वनि से गुंजाते हुए जल बरसाते हैं। देवराज इन्द्र ने प्रमाद के बिना ब्रह्मचर्य का पालन किया और देवों में श्रेष्ठता पाई। सुख और मन की प्रिय इच्छाओं को रोककर एवं सत्य धर्म और दम के प्रमाद-रहित पालन से देवराज इन्द्र ने आधिपत्य प्राप्त किया। बृहस्पति ने चित्त और इन्द्रियों को रोककर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। इसीलिए उन्हें देवों में गौरव मिला। जितने देव और मुनि

हैं, वे ब्रह्मचर्य से ही वेदज्ञान और कर्म का सेवन करते हुए तेजस्वी बनते हैं। हे संजय, सब लोक के लिए इस सहज नियम को जानते हुए भी क्यों तुम कौरवों के पक्ष में ही खिच रहे हो ? यदि कौरवों के नाश किये बिना कोई सफलता का उपाय पाण्डवों के हाथ लगता तो धर्म की रक्षा हो जाती और इन्हें पुण्य मिलता। यदि यथाशक्ति स्वकर्म पूरा करते हुए दैववश उन्हें मृत्यु का भी सामना करना पड़ा तो उनका मरण भी श्रेयस्कर है। क्या तुम यह मानते हो कि धर्मतंत्र युद्ध से स्थिर रहता है या तुम्हारा यही विचार है कि युद्ध न करने से धर्मतन्त्र बनता है ? तुम्हारी बात मुझे कुछ गोलमोल जान पड़ती है। यदि कोई दूसरे की भूमि बलपूर्वक लेना चाहता है तो युद्ध अवश्य होगा। इसीलिए कवच, शस्त्र और धनुष उत्पन्न हुए हैं। इन्द्र ने दस्युओं के वध के लिए ही इन वस्तुओं को बनाया है। हे संजय, कौरवों से जाकर कहना कि ऐसे युद्ध में हमारा वध भी राज्य से अच्छा होगा। कौरवों ने जब द्रौपदी को सभा के बीच बुलवाया तब किसी एक ने भी धर्म की बात न कही। उस समय कर्ण ने अर्जुन के हृदय में जो नुकीला वाग्बाण मारा था, वह आज भी छिदा हुआ है। यदि आज स्वयं मेरे जाने की भी आवश्यकता हो तो मैं हस्तिनापुर चल सकता हूं। पाण्डवों का उद्देश्य छोड़े बिना यदि शान्ति करा सकूं तो मेरा पुण्य होगा और मैं समझूंगा कि मुझसे अच्छा काम हुआ। दुर्योधन क्रोध का महावृक्ष है। कर्ण उसका तना, शकुनि उसकी शाखा है। दुःशासन फूल-फल है, पर इसकी जड़ निर्बुद्धि धृतराष्ट्र को ही मानना पड़ेगा, अथवा राजा धृतराष्ट्र और उसके पुत्र भारी वन के समान हैं। पाण्डव उसमें रहने वाले व्याघ्र हैं। हे संजय, ऐसा होना चाहिए कि वन और व्याघ्र का नाश न हो। वन न रहे तो व्याघ्र मरा ही हुआ है। बाघ न रहे तो वन कटा जैसा है। इसलिए बाघ वन को बचावे और वन बाघ का पालन करे, यही उचित है। पाण्डवों को हिमालय की तराई में खड़े हुए ऊंचे शालवृक्ष समझो। कौरव उन मालझन लताओं के समान हैं, जो ऊंचे चढ़कर उन वृक्षों को लपेट लेती हैं। महावृक्ष के आश्रय के बिना लता कभी नहीं बढ़ पाती। पाण्डव शुश्रूषा और युद्ध दोनों के लिए तैयार हैं। धृतराष्ट्र जो उचित समझें, करें।"

संजय द्वारा भेजे हुए युधिष्ठिर के कुशल-प्रश्न

संजय ने कृष्ण और पांडवों के आशय को भली प्रकार समझ लिया। युधिष्ठिर ने अत्यन्त विनीत वचन कहकर संजय को विदा किया। युधिष्ठिर द्वारा कहे हुए कुशल-प्रश्नों वाला यह अध्याय (उद्योग, अ० ३०) अत्यन्त उदात्त शैली में लिखा गया है, जिसका कुछ नमूना इस प्रकार है: "हे संजय, स्वस्ति भाव से जाओ। तुमने हमारा कुछ अप्रिय नहीं किया। वे और हम दोनों तुम्हें शुद्ध आत्मा मानते हैं। तुम कल्याण-वाक्, शीलवान् और दृष्टिमान् हो। तुम्हें सच बात कहते हुए मोह या क्रोध नहीं होता। तुम्हारी धर्मवती, अर्थवती, प्रियवती वाणी से मैं परिचित हूं। तुम या विदुर, दो ही दूत के रूप में यहां आने योग्य थे।"

"हे संजय, यहां से जाकर वहां उन योग्य ब्राह्मणों से हमारा प्रणाम कहना, जो महाकुल में उत्पन्न हैं, जो वैदिक चरणों से संबंधित हैं, जो धर्म-सूत्रों में व्याख्यात धर्मों से युक्त हैं और जो स्वाध्यायी हैं। वनों में रहने वाले तपस्वी भिक्षुओं से भी प्रणाम कहना। वहां के वृद्धों से एवं राजा के पुरोहित आचार्य और ऋत्विजों से मिलकर मेरी ओर से कुशल कहना। उन आचार्य द्रोण से, जिन्होंने वेद-ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य धारण किया और चतुष्पात् अस्त्र-विद्या का विधान किया एवं उनके तेजस्वी पुत्र अश्वत्थामा से भी कुशल कहना। महारथी कृपाचार्य, प्रज्ञाशील भीष्म, स्थविर राजा धृतराष्ट्र के चरणों में मेरा प्रणाम कहना। धृतराष्ट्र के उस ज्येष्ठ पुत्र सुयोधन से भी मेरी ओर से कुशल पूछना। और भी दुःशासन, विदुर, चित्रसेन, सोमदत्त, आदि से मेरी ओर से कुशल पूछना। कौरवों के घरों में जो कुरुवृद्ध हैं और जो उनके पुत्र पौत्र-भ्राता आदि युवा हैं, उनसे भी कुशल कहना। वसाति, शाल्व, केकय, अम्बष्ठ और त्रिगर्त के, प्राच्य उदीच्य, दक्षिणात्य, प्रतीच्य एवं पर्वतीय राजाओं से भी, जो कौरवों का पक्ष लेकर आए हों, कुशल पूछना। हाथियों के महामात्र, रथी, अश्वसादी महामात्र, इनसे अनामय कहना। अमात्यों से, दौवारिकों ने, सेनाध्यक्षों से और आय-व्यय गणना विभाग में काम करने वाले युक्त नामक अधिकारियों से एवं उनके अध्यक्षों से मेरी ओर से कुशल कहना। गान्धारराज शकुनि और सूर्यपुत्र कर्ण से

एवं अगाधबुद्धि विदुर से भी कुशल पूछना। राजकुल की उन वृद्धा स्त्रियों से, जो माता पदवी-धारिणी हैं औरअन्य वृद्धा स्त्रियों से मेराअभिवादन कहना और पूछना कि उनकी वृत्ति तो निर्विघ्न है। और हमारे परिवार की भी स्त्रियां या जो अन्य बहुएं या पटरानी के दूसरी प्रजावती संज्ञक रानियां या कन्याएं हों, उनसे भी कुशल कहना। वे सब कल्याणी, अलंकृता, वस्त्रवती और भोगवती बनकर रहें।" इसके आगे युधिष्ठिर का मन राजकुल और राज्य पर आश्रित अन्य अनेक प्रकार के व्यक्तियों पर जाता है और वे उन्हें भी अपना कुशल भेजते हैं। इनमें वेश की स्त्रियां दास, दासी पुत्र कुब्ज, खंज, अंगहीन, स्थविर आदि के विषय में युधिष्ठिर ने जानना चाहा कि पुराने समय से जो उनकी वृत्ति बंधी थी, वह सुरक्षित थी या नहीं। यह भारतीय राजशास्त्र का सिद्धान्त था कि अनाथ, कृपण, अंधे, लूले, लंगड़े और जो दस्तकारी करने वाले बूढ़े हो गए हों, उन्हें राज्य की ओर से पालन के लिए वृत्ति दी जाय। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति और शुक्रनीति में इसका उल्लेख है। समुद्रगुप्त ने प्रयाग प्रशस्ति में भी इसका उल्लेख किया है। अन्त में युधिष्ठिर ने दुर्योधन के लिए इतना विशेष संदेश भेजा, "हे सुयोधन, तुम्हारे हृदय में जो यह वृत्ति रहती है कि तुम ही अकेले कुरुओं का शासन करो, उसकी कोई ऐसी युक्ति मेरी समझ में नहीं आती, जो तुम्हें अच्छी लगे। मैं पांच भाइयों के लिए पांच गांव भी लेकर संतुष्ट हो जाऊंगा। परस्पर की प्रीति और शान्ति ही इष्ट है। भाई-भाई और पिता-पुत्र मिले रहें, यही मेरी इच्छा है।"

हस्तिनापुर लौटकर संजय धृतराष्ट्र के राजभवन में पहुंचे। दौवारिक से सूचना भेजकर वे राजा से मिले और युधिष्ठिर की ओर से कुछ कुशल संदेश निवेदन किया, किन्तु दिनभर की यात्रा से थके होने से उन्होंने राजा से कहा कि अब मैं आराम करूंगा और कल सभा में कौरवों के सामने युधिष्ठिर का वचन सुनाऊंगा।

४५ : : प्रजागर पर्व

(अ० ३३—४०)

विदुर-नीति

कथा के चलते हुए प्रवाह के बीच में कुछ देर के लिए रुककर प्रज्ञाशील ग्रन्थकार ने दो विशिष्ट पर्वों को स्थान दिया है। पहला प्रजागर पर्व है, जिसमें प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र या जीवन के प्रज्ञा-शास्त्र का बहुत ही सुन्दर विवेचन है। विदुर वक्ता और धृतराष्ट्र श्रोता हैं। दूसरा सनत्सुजात पर्व है, जिसमें उस अध्यात्म शास्त्र का, जो उपनिषद् युग की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ था, अत्यन्त श्लाघनीय सारांश दिया गया है।

प्रजागर पर्व में आठ अध्याय और पांच सौ तीस श्लोक हैं। यह प्रकरण विदुर-नीति के नाम से लोक में प्रसिद्ध है। इसे प्रजागर क्यों कहा गया, इसका हेतु इस प्रकार है: जब संजय ने तत्काल पूरी बात न कही तो धृतराष्ट्र के निर्बल मन में किसी भारी अनर्थ की आशंका हुई। इस चिन्ता में उनकी नींद चली गई। संजय न जाने क्या संदेश लाया है, यह सोचकर वे बहुत अस्वस्थ हो गए। प्रजागर का अर्थ जागरण या निद्राक्षय है। धृतराष्ट्र ने दूत भेज कर तुरन्त विदुर को बुलवाया। विदुर स्वयं बड़े प्रज्ञाशील थे। वे धृतराष्ट्र के लगभग रातदिन के साथी थे और धृतराष्ट्र उनकी समझदारी के भक्त होकर उन्हें बहुत मानते भी थे। लिखा है कि धृतराष्ट्र से मिलने के लिए विदुर को बाधा न थी। राजा से मिलने के लिए औरों को समय नियत करना पड़ता है, पर विदुर को छूट थी कि जब चाहें, मिलें। धृतराष्ट्र विदुर के लिए कभी अकाल्य न थे, अर्थात् सदा मिल लेते थे।

प्रज्ञा-दर्शन

आरम्भ में ही विदुर को महाप्राज्ञ कहा गया है। सूत्र रूप में प्रज्ञा की व्याख्या, यही इस विशिष्ट प्रकरण का शीर्षक है। प्रज्ञावान् व्यक्ति प्राज्ञ कहा जाता था। उपनिषदों के युग में जहां अध्यात्म और दर्शन-तत्त्व का

इतना विकास हुआ, वहीं उसका जो अंश मानव-जीवन की व्यावहारिक आवश्यकता के लिए निचोड़ लिया गया, उसी समझदारी का नाम प्रज्ञा था। अथवा कह सकते हैं कि मानव ने निजी जीवन में और सामाजिक व्यवहारों में समझदारी का जो सुन्दर धरातल तैयार किया था, उसी प्रज्ञा की दृढ़ भूमि पर ऊंचे उठते हुए लोग उपनिषदों के अध्यात्म तक पहुंच सके होंगे। प्रज्ञा एक मूल्यवान् शब्द बन गया था। आज अंग्रेजी में जिसे कामनसेन्स या हिन्दी में समझदारी कहते हैं, वह प्रज्ञा शब्द से अभिहित था। उस युग के ही आसपास यूनान में भी प्रज्ञा का दृष्टिकोण विकसित हुआ था, जैसा हम सुकरात आदि विचारकों के दृष्टिकोण में पाते हैं, जो यह चाहते थे कि मानव प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिक बुद्धिमानी से काम ले और बुद्धिपूर्वक विचारशैली से ही सर्वत्र विचार करे। प्रज्ञा को बोल-चाल की पाली या मागधी भाषा में पञ्ञा और अर्धमागधी में पण्णा कहा जाता था। हमारा विचार है कि बोली के किसी भेद में प्रज्ञा का रूप पण्णा से पंडा हो गया। इसका वही अर्थ है, जो प्रज्ञा का था, अर्थात् हर बात में और हर काम में बुरे और भले की पहचान। कर्म और विचार में ऐसे सुलझे हुए व्यक्ति को ही पंडित कहने लगे। पंडित, प्रज्ञावान् और प्राज्ञ का एक ही अर्थ था। प्रज्ञा का मुख्य लक्षण यह है कि वह 'संसारिणी' होती है, अर्थात् प्रत्येक बात पर वह समाज की स्थिति या जीवन के दृष्टिकोण से विचार करती है। धर्म, अर्थ, काम, यह त्रिवर्ग प्रज्ञा का मुख्य विषय है—

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पंडित उच्यते ॥

पंडित की व्याख्या

विदुर ने आरम्भ में पंडित और मूर्ख इनकी व्याख्या की : "पंडित या प्राज्ञ वह है, जो जीवन में प्रशस्त ध्येय को चुनता है, निंदित में मन नहीं देता। श्रद्धा उसके कर्मों का मुख्य लक्षण है। वह जो लक्ष्य बनाता है, उससे क्रोध, दर्प या सम्मान की इच्छा उसे नहीं हटा पाती। वह जो सोचता है, उसके कर्म से ही वह व्यक्त होता है, कहने से नहीं। शीत, उष्ण, गर्मी,

अमीरी, ये उसके कार्य में विघ्न नहीं डालते। वह शक्ति के अनुसार ही इच्छा करता है और शक्ति से ही कर्म की मात्रा बनाता है। बिना पूछे हुए दूसरे के काम में हस्तक्षेप नहीं करता। यह पंडित की सबसे बड़ी पहचान है कि वह समझ-बूझकर अपने कार्यों का निश्चय करता है, कामवश नहीं। जो नहीं मिल सकता, उसे वह चाहता नहीं। जो नष्ट हो चुका है, उसका सोच नहीं करता। वह आपत्ति में घबराता नहीं। यही पंडित की पहचान है। जो निश्चय करके उसपर बढ़ चलता है, बीच में रुकता नहीं, जिसने अपने मन को साधकर समय से अधिक-से-अधिक दुहना सीखा है, वही पंडित है। गंगा के गहरे दह के समान पंडित को क्षोभ नहीं होता। उसे न सम्मान से हर्ष और न अपमान से ताप होता है। वह काम की युक्ति और मनुष्यों से व्यवहार का उपाय जानता है। जो आर्य जीवन की मर्यादाओं का रक्षक है, जिसकी प्रज्ञा उसके स्वाध्याय के अनुरूप है, वही पंडित है। जो दरिद्र होकर बड़ी-बड़ी इच्छाएं करता है, जो बिना कर्म के फल चाहता रहता है, वह मूढ़ है। जो अपने अर्थ को त्याग कर दूसरे के काम में उलझा रहता है, जो मित्र के काम में मिथ्या व्यवहार करता है, वह मूढ़ है। जो कर्त्तव्य को टालता रहता है, सब जगह शंकाशील रहता है, जिसे शीघ्र करना चाहिए, उसे विलम्ब से करता है, वह मूढ़ है। जो बिना बुलाए जाता है, बिना पूछे बोलता है, जो अपनी त्रुटियों को न देखकर उनके लिए दूसरों पर कटाक्ष करता है, जो निठल्ला रहकर भी अलभ्य वस्तु पाने की इच्छा करता है, वह मूढ़ है। धनुर्धारी का छोड़ा हुआ बाण एक भी व्यक्ति को मार सके या न मार सके, पर बुद्धिमान् की चलाई हुई युक्ति सारे राष्ट्र और राजा को नष्ट कर डालती है।"

इस कथन से सूचित किया गया है कि प्रज्ञावादी दर्शन जीवन के सब व्यवहारों को चलाने के लिए और विशेषतः राजधर्म के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। वह जीवनोपयोगी सब दर्शनों में सिरमौर था।

"हे राजन्, इस विश्व का कर्त्ता एक अद्वितीय ब्रह्म है, जिसे तुम नहीं जानते। जैसे समुद्र पार करने के लिए नाव उपयोगी है, वैसे ही अकेला सत्य स्वर्ग तक पहुंचने की सीढ़ी है। जैसे सांप बिलशायी चूहे को खा लेता है, वैसे ही जो राजा दिग्विजय के लिए नहीं उठता और जो ब्राह्मण अपने

पाण्डित्य के प्रकाश के लिए देश यात्रा नहीं करता, उन दोनों को यह भूमि ग्रस लेती है। दो नुकीले काँटे शरीर को सुखाने वाले हैं, एक निर्धन की कामना और दूसरे असमर्थ का कोप। हे राजन्, मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं, उत्तम, मध्यम और अधम। उन्हें उनके योग्य कामों में लगाना चाहिए। अल्प बुद्धि, दीर्घसूत्री, आलसी और चापलूसों के साथ परामर्श करना पण्डित को उचित नहीं। बड़ा-बूढ़ा सम्बन्धी, टोटे में पड़ा हुआ कुलीन, दरिद्री मित्र, निःसन्तान बहन, इन चारों का प्रतिपालन उत्तम गृहस्थ का कर्त्तव्य है। बृहस्पति ने इन्द्र से कहा था कि चार बातें तुरन्त फल दिखाती हैं—देवताओं का संकल्प, प्रज्ञाशील की युक्ति, विद्वान की साधना और पाप कर्मों का क्षय। मनुष्य को उचित है कि पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु इस पंचाग्नि की नित्य सेवा करे। पाँच इन्द्रियों में से यदि एक भी छिद्रयुक्त हो तो उसी रास्ते मनुष्य की प्रज्ञा नष्ट हो जाती है, जैसे नीचे के एक छेद से मशक का सारा पानी बह जाता है। निन्द्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और काम को लम्बा टालने की प्रवृत्ति, इन छः दोषों को छोड़ने में ही भलाई है। सत्य, दान, अनालस्य, अनसूया, क्षमा और धृति, इन छः गुणों को रखना ही अच्छा है। ये आठ बातें आनन्द का मथा हुआ मक्खन हैं—मित्रों का समाज, महान् धन-प्राप्ति, पुत्र का सुख, स्त्री का सुख, समय पर मीठी बातें, अपने वर्ग में सम्मिलन, इष्ट वस्तु की प्राप्ति और लोक में सम्मान। जिस घर में नौ द्वार हैं, तीन खम्भे हैं, पाँच सूचना लाने वाले साक्षी या सेवक हैं और जिसमें क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वयं बैठा है, ऐसे इस शरीररूपी गृह को जो ठीक प्रकार से जानता है, वही परम बुद्धिमान् है।" प्रज्ञादर्शन में समाज और निजी जीवन, दोनों का समान महत्त्व था, क्योंकि दोनों को सफलता से चलाने के लिए प्रज्ञा या समझदारी की आवश्यकता है।

युधिष्ठिर का प्रज्ञायुक्त आचार

इसके अनन्तर एक प्राचीन कथानक का आश्रय लेते हुए बीस श्लोकों में असुरों के राजा सुधन्वा द्वारा अपने पुत्र को सिखाई गई राजनीति का

सारांश कहा गया है। अगले अध्याय में धृतराष्ट्र प्रश्न करते हैं कि युधिष्ठिर का वह प्रज्ञायुक्त आचार क्या है, जिसे तुम अभी देख आए हो। यहां एक श्लोक में धृतराष्ट्र की भीतरी स्थिति भी उसी के मुख से प्रकट की गई है, "हे विदुर, मैं पाप की आशंका करता हूं। मुझे पाप ही दिखाई पड़ता है। इसलिए मेरा मन भीतर से घबराया हुआ है। तुम जो मेरे लिए समझो, कहो।" ऐसे सरल भाव के उत्तर में विदुर ने भी उदारता प्रकट करते हुए कहा, "जो जिसका हितू है, वह उसे अच्छी या बुरी, प्रिय या अप्रिय सब बातें बता देता है। मैं कौरवों का हित चाहता हूं, इसलिए उनके कल्याण के लिए धर्मयुक्त बात कहूंगा। हो सकता है, कपट के काम भी सफल होते जान पड़ें, पर तुम उधर मन मत करो। ठीक युक्ति से किया हुआ काम यदि सिद्ध न भी होता हो तो उससे मन को छोटा मत करो। कर्म की जो रुकावटें हैं, उनको समझकर कर्म करो, हड़बड़ी में नहीं। जो अपने राज्य के कोश, जनपद, दण्ड, वृद्धि, क्षय एवं सेना आदि की उचित मात्रा के विषय में पक्की जानकारी नहीं रखता, वह राज्य में स्थिर नहीं रह सकता। जो इन्हें ठीक से जानकर इनकी देखभाल करता है और धर्म और अर्थ की जानकारी रखता है, वह राजा राज्य में दृढ़ता प्राप्त करता है। राज्य मिल गया, बस इतना ही पर्याप्त नहीं है। यदि राज्य चलाने की शिक्षा नहीं है तो राज्य-लक्ष्मी नष्ट हो जाती है। मछली वंसी में लगा हुआ चारा देखती है, भीतर की कटिया नहीं देखती। ऐसे ही जो कर्म के भीतर छिपी अड़चनों को नहीं देखता, उसके बाहरी रूपों को देखता है वह नष्ट हो जाता है। जिस ग्रास को निगला जा सके, जो सटका हुआ पच जाय और जो पचा हुआ अन्त में हित करे, उसी को खाने में भलाई है। वृक्ष के कच्चे फलों को चुनने वाला उनमें रस नहीं पाता। उसके लिए बीज भी नष्ट हो जाता है। पर समय पर पका हुआ फल तोड़ने से रस और बीज दोनों मिलते हैं। जैसे भँवरा फूलों से रस चुनता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न मनुष्यों से अपने उपयोग की वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए। फूलों को चुनना उचित है, उनकी जड़ काटना ठीक नहीं। बगीचे में जैसा माली करता है, वैसा करे। कोयला फूंकने वाले के जैसा व्यवहार न करे। काम करने से क्या लाभ होगा, न करने से क्या हानि होगी, इस बात का

विचार करके तब फिर करने या न करने का निश्चय करे। जिससे किया हुआ परिश्रम निरर्थक हो, ऐसा काम सदा अकरणीय है। बुद्धिमान व्यक्ति अपनी प्रज्ञा में किन्हीं ऐसे कामों को सोचता है, जो आरम्भ में छोटे हैं, पर फल बहुत देते हैं और फिर तुरन्त उन्हें करने लगता है, उनमें विघ्न नहीं करता। जो सबको ऋजु भाव से देखकर अपनी जगह बैठे-बैठे ही चुपचाप आँख से सबको पी जाता है, ऐसे राजा को प्रजा चाहती है। मन, वाणी, कर्म और दृष्टि से जो लोक को प्रसन्न करता है, उसे ही लोक चाहता है। व्याघ्र से जैसे पशु डरते हैं, वैसे ही यदि राजा से उसकी प्रजा डरे तो समुद्रान्त राज्य भी किस काम का? वायु जैसे मेघों को छिटका देती है वैसे ही राजा अनीति से बाप-दादों का राज्य खो देता है। पहले से सज्जन जिस धर्म-मार्ग पर चलते आए हैं, उस पर चलने वाले राजा के लिए धरती धन-धान्य से पूर्ण हो जाती है। पराए राष्ट्र को छिन्न-भिन्न करने में जो व्यर्थ समय जाता है उसे यदि स्वराष्ट्र के प्रतिपालन में लगाया जाय तो क्या कहना!

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रावमर्दने।
स एव यत्नः कर्त्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने॥ (उद्योग ३४।२८)

राज्य लक्ष्मी का मूल धर्म है। गाएं गन्ध से, ब्राह्मण वेद से, राजा चरों से और इतर जन आंखों से वस्तु का ज्ञान करते हैं। सिल्ला बीन कर खानेवाला जैसे धीर भाव से उसे बीनता है, ऐसे ही जहां-तहां से बुद्धिमानों के सुकर्म और वचनों का संग्रह राजाओं को करना चाहिए। कड़ुवी गाय को दुहने में महाक्लेश होता है, पर सहेज गाय के लिए यत्न नहीं करना पड़ता। जो विना तपाये झुक जाता है, उसे कौन तपाता है? जो स्वयं झुका हुआ काष्ठ है, उसे झुकाना नहीं पड़ता। इन उपमाओं को मन में रखकर जो अपने से बलवान है, उसके सामने झुक जाना चाहिए, क्योंकि बलवान के सामने झुकना ऐसा ही है, जैसे इन्द्र को प्रणाम करना:

इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे। (उद्योग ३४।३५)

पशुओं का बन्धु मेघ है। राजाओं के बन्धु उनके मित्र होते हैं। स्त्रियों के बन्धु पति और ब्राह्मणों के बन्धु वेद हैं। धर्म की रक्षा सत्य से, विद्या की नियमपूर्वक अध्ययन से, सौन्दर्य की साज-शृंगार से और कुल की आचार

से होती है। मेरी समझ से आचारहीन व्यक्ति की कुलीनता का कोई अर्थ नहीं। अन्त्य वर्ण में जन्म लेने पर भी सदाचार से ही व्यक्ति की विशेषता होती है। पराये के धन, रूप, वल, कुल, सुख और सौभाग्य में ईर्ष्या की वृत्ति अन्तहीन रोग है। विद्यामद, धनमद, कुलमद मूढ़ों के लिए तो ये मद हैं, पर सज्जनों के लिए ये ही संयम के हेतु वन जाते हैं।

प्रज्ञादर्शन में शील का महत्त्व

प्रज्ञादर्शन के अनुसार जीवन में सवसे अधिक महत्त्व शील या सदाचार का है। सुन्दर वस्त्रों से सभा, घर में गौ होने से भोजन, सवारी होने से मार्ग और शील होने से सवकुछ जीत लिया जाता है। मनुष्य का शील प्रधान है। जिसका शील जाता रहा, उसके जीने का कोई अर्थ नहीं, चाहे उसके धन और वन्धु कितने भी हों। नमक की डली के साथ जो निर्धन रोटी खा लेते हैं, वह भी उन्हें तरावट देती है, क्योंकि स्वाद भूख में है। रईसों के पास भूख कहां ? श्रीमन्तों में प्रायः भोजन की शक्ति नहीं होती, पर दरिद्रों को काष्ठ भी पच जाता है। वेरोक-टोक विषयों में छूटी हुई इन्द्रियों से लोग दुःख पाते हैं, जैसे राहु से सूर्य-चन्द्र। जो अपने को न जीतकर अमात्य और अमित्रों को जीतने चलता है, वह दुःख पाता है। अपने को ही पहले एक देश मानकर यदि जीत लिया जाय तो फिर अमात्य और अमित्रों का जीतना सफल होगा। यह शरीर रथ है, आत्मा सारथी है, इन्द्रियां अश्व हैं। कुशल व्यक्ति सधे हुए अश्वों से, धीर रथी के समान, सुखपूर्वक यात्रा करता है। इन्द्रियां वश में न हों और चाहे वहुत-सा धन मिल जाय, तो भी राजा ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। अतएव संयत मन, वुद्धि और इन्द्रियों की सहायता से अपने को पहचानना चाहिए। काम और क्रोध रूपी दो घड़ियाल इस शरीर रूपी वारीक बुने हुए जाल में छिपकर बुद्धि को कुतर रहे हैं। पापी का साथ न छोड़े तो अपापी को भी दण्ड भुगतना पड़ता है, जैसे सूखे पेड़ के साथ गीले को भी जलना पड़ता है। नीच बुद्धिमानों पर आक्रोश और निन्दा से चोट करते हैं। उसका पाप वक्ता पर पड़ता है, क्षमाधारी छूट जाता है। गुणी का बल क्षमा है। वाक् संयम सबसे कठिन

है। कुल्हाड़ी से काटा हुआ वन फिर शनैः-शनै फुटाव ले लेता है, पर वाणी का चोट खाया हुआ नहीं पनपता, क्योंकि वचन का बाण हृदय को भी छेद डालता है। मूर्ख अपने मुंह से टपाटप वाग्बाण चलाया करता है, पर जिसे वे लगते हैं, उसका तो रातदिन मरण ही हो जाता है। बुद्धिमान को चाहिए कि ऐसे मर्मघाती तीर दूसरे पर न छोड़े। देवता जिसका पराभव सोचते हैं उसकी बुद्धि हर लेते हैं। हे महाराज धृतराष्ट्र ! वही बुद्धि आपके पुत्रों से विदा ले चुकी है, आप भी पाण्डवों से विरोध रखकर इस बात को नहीं समझते। लक्षण-सम्पन्न युधिष्ठिर त्रिलोकी का राज्य पाने योग्य हैं। आपको वे गुरु मानते हैं। अतएव उन्हें राज्य दें।"

धृतराष्ट्र का व्यक्तित्व

विदुर ने धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व की उधेड़-बुन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि व्यक्ति में आर्जव की कमी है, इसका सोचना कुटिलता से भरा है। ऊपर से थोड़ी देर के लिए पाण्डवों के हित का जबानी जमा-खर्च करके फिर भीतर से उनकी काट सोचता है और अपने पुत्रों का पक्ष करता है। इसलिए विदुर ने धृतराष्ट्र के लिए सब गुणों का निचोड़ आर्जव या हृदय की सीधाई माना और कहा, "सब तीर्थों का स्नान एक ओर और सब भूतों में आर्जव का व्यवहार दूसरी ओर। या तो ये बराबर उतरेंगे या आर्जव कुछ भारी बैठेगा। इसलिए हे राजन्, अपने इन पुत्रों के प्रति ऋजुता का व्यवहार करो।" अपनी बात दृढ़ता से बैठाने के लिए विदुर ने यहां एक चुटकुला सुनाया, जिसे वे पहले भी कौरव सभा में द्रौपदी के प्रश्न पूछने के अवसर पर सुना चुके थे (सभापर्व ६१।५८-७९)। अंगिरा के पुत्र सुधन्वा और प्रह्लाद के पुत्र विरोचन दोनों युवकों का मन केशिनी नामक कुमारी पर गया। कन्या ने कहा, "तुम दोनों में जो श्रेष्ठ हो, मैं उसी की हूं।" दोनों उद्धत युवकों ने हार-जीत के फल पर जान की बाजी लगा दी। विरोचन ने कहा, "प्रश्न का निर्णय करावें।" सुधन्वा ने विरोचन के पिता प्रह्लाद को ही पंच बद दिया। प्रह्लाद बड़े फेर में पड़े, पर सत्य का पद ऊंचा है। पुत्र हो या दूसरा हो, साक्षी देते समय सच ही कहना धर्म है। इसलिए प्रह्लाद ने निर्णय दिया, "अंगिरा मुझसे श्रेष्ठ है। अतएव हे विरोचन, सुधन्वा तुमसे उत्तम

है।" प्रह्लाद के इस अविचल सत्य से सुधन्वा बहुत प्रभावित हुआ और उसने विरोचन को प्राण-भिक्षा देते हुए कहा, "मेरे सामने उस कुमारी के पैर धोते जाओ।" विदुर ने यही समझाया कि पुत्रों के लिए झूठ का सहारा मत लो, "देवता लाठी लेकर किसी को मारने नहीं आते। जिसकी रक्षा चाहते हैं, उसे बुद्धि बांट देते हैं :

न देवा यष्टिमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥ (उद्योग ३४।३५)

वेद भी मायावी को उसके पाप से पार नहीं लगाते। पंख निकलने पर पंछी घोंसले से उड़ जाते हैं, वैसे ही अन्त काल में उसे वेद छोड़ जाते हैं। यदि मान से अग्निहोत्र करे, मान से मौन साधे, मान से अध्ययन करे और मान से यज्ञ करे, इनसे भय ही होता है अभय नहीं।" इसके बाद विदुर ने सत्य, शील, अनसूया आदि हृदय के शोभन गुणों के विषय में बहुत कुछ धृतराष्ट्र से कहा। "अधर्म से प्राप्त धन से जो अपना छिद्र ढकता है वह छिद्र ढका नहीं जाता उसमें और भी दरार पड़ जाती है। दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन और कर्ण का पल्ला पकड़ कर तुम किस भलाई की आशा करते हो? पाण्डव तुम्हें पिता समझते हैं, तुम भी उन्हें पुत्र मानो।"

हंस-साध्य संवाद

फिर विदुर ने हंस-साध्य संवाद के रूप में एक बहुत ही उदात्त प्रवचन धृतराष्ट्र के सामने रक्खा। यह चरण युग के नीति विषयक साहित्य का जगमगाता हुआ माणिक्य है। इसका जो अंश यहां है लगभग उन्हीं शब्दों में वह शान्ति पर्व में आया है (शान्ति २८८।१-४४)। वहां इसे हंस गीता कहा है। स्वयं अव्यय पुरुष प्रजापति की कल्पना सुनहले हंस के रूप में की गई है। उसे ही अन्यत्र हिरण्यपक्ष शकुनि कहा है। वह विश्वप्रतिष्ठ प्रजापति का सर्वत्रगामी रूप है जो सबके हृदय में विद्यमान है और ध्यान करने से सभी उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं। सत्य, क्षमा, दम, शम, धृति, प्रज्ञा, तप इनके द्वारा ही हृदय की ग्रन्थि का विमोक्ष संभव है। प्रज्ञादर्शन में जो प्राज्ञ का उच्च स्थान था वह कोई नई कल्पना न थी, बल्कि

प्राज्ञ को ही वैदिक युग में धीर कहते थे। उपनिषद् युग में श्रुत ज्ञान प्राप्त करके जो उसे कर्मों में उतारते थे उन्हें ही 'कर्माणि धियः' इन परिभाषा के आधार पर धीर कहा जाता था। वह मूल्यवान् शब्द उपनिषद् साहित्य में बार-बार आता है। यहां भी महर्षि हंस को 'श्रुतेन धीरः' कहा गया है। उन महर्षियों की यह काव्यमयी उदार वाणी थी। वे धर्म में निरत अपने भीतर ही देखते थे, बाहर अन्य व्यक्तियों के दोषों पर दृष्टि न करते थे। इस संवाद का निचोड़ वाणी का संयम है। मनुष्य को उचित है कि रूखी मर्मच्छिद् वाणी कभी न कहे। वह मुख में साक्षात् डायन (निर्ऋति) का निवास है। वाक् कंटकों से बढ़कर लक्ष्मीनाशक और कुछ नहीं। बोलने से न बोलना अच्छा है, यह पहला पक्ष है। उससे सत्य वचन अच्छा है, यह दूसरा पक्ष है। सत्य कथन से भी प्रिय कथन तीसरा विकल्प है, और उससे भी धर्मानुकूल वचन अन्तिम है। सत्यवादी, मृदु, दान्त, उत्तम पुरुष सबका अस्ति भाव चाहता है, किसी का नास्ति भाव नहीं।

इतना सुनकर धृतराष्ट्र ने महाकुलों की वृत्ति और आचारों के विषय में प्रश्न किया। प्रज्ञादर्शन सामाजिक गृहस्थधर्म का समर्थक था। समाज की इकाई कुल है। अतएव व्यक्तियों के उच्च आचार-विचार का प्रत्यक्ष फल कुलों की श्रेष्ठता के रूप में समाज को मिलता है। व्यक्ति चले जाते हैं, पर कुल-प्रतिष्ठा पीढ़ी दर पीढ़ी बनी रहती है, अतएव महाकुल कैसे बनाए जायं—यह प्रश्न प्रज्ञादर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यह प्रकरण मनुस्मृति (३।६३-६७) में भी आया है। प्राचीन भारतवासी कुल की प्रतिष्ठा पर बहुत ध्यान देते थे। ऋषियों की दृष्टि में समाजिक उच्चता का आधार धन नहीं, तपश्चर्या, ब्रह्मविद्या, इन्द्रिय-निग्रह आदि वैयक्तिक गुण ही थे जिनसे कुलों की प्रतिष्ठा बढ़ती थी। जिन कुलों में सदाचार का पालन होता है वे अल्प-धन होने पर भी महाकुलों में गिने जाते हैं (कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः। उद्योग ३६।२९)। यहां कुल संख्या से तात्पर्य महाप्रवर काण्ड या उन गोत्र-सूचियों से है जो बोधायन, आश्वलायन आदि श्रौत सूत्रों में पाई जाती हैं। उनमें उस समय के यशस्वी कुलों के नाम संगृहीत हैं। जो महाकुलीन हैं वे ही समाज के भारी दायित्व को संभालते हैं, जैसे सेंदन के वृक्ष (सं. स्यन्दन) की छोटी

लकड़ी भी रथ में लगी हुई भारी बोझे को सह लेती है। इसी प्रसंग में एक विलक्षण वाक्य आया है, जिसकी तुलना में रखने के लिए शतसाहस्री संहिता में हमें संभवतः और कुछ कठिनाई से मिलेगा। उस समय यह प्रथा थी कि प्रत्येक कुल या परिवार की ओर से एक प्रतिनिधि जनसमिति में सम्मिलित होता था। उसे कुल-वृद्ध, स्थविर या गोत्र कहते थे। कुल की इकाई ही पौर जनपद संस्थाओं का आधार थी। यहां कहा गया है :

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्। (उद्योग ३६।३१)।

अर्थात्, हममें से जो कृषि के लिए खेत में वीज नहीं डालता वह समिति या सभा में बैठने का अधिकारी नहीं। विदुर ने अच्छे मित्रों के संबंध में भी कुछ वुद्धिपूर्ण वातें कहीं हैं। जिस मित्र में पिता के समान आश्वस्त हुआ जा सके, वही मित्र है और सब तो केवल जान-पहचानी हैं। ज्ञात होता है, धृतराष्ट्र ऊपरी मन से यह सब सुन रहे थे। भीतर उन्हें यही चिंता थी कि युधिष्ठिर युद्ध में मेरे पुत्रों का अन्त न कर दे। उन्होंने पूछा, "हे विदुर, मुझे वड़ी घवराहट है, इससे कैसे वचूं ?" विदुर ने कहा, "विद्या और तप के विना, इन्द्रिय-निग्रह के विना और लोभ का त्याग किये विना शान्ति का उपाय मुझे दिखाई नहीं देता।" अन्तिम नुस्खा धृतराष्ट्र के लिए ही था। "जिसके भीतर कुछ, वाहर कुछ है, उसे न नींद आती है और न अन्न भाता है, न वह धर्म कर पाता है, न सुख पाता है। दुविधा में पड़े हुए ऐसे व्यक्ति के लिए नाश के सिवा और कुछ गति नहीं। अलग-अलग पड़े हुए भाई-वन्धु धुंधुआते रहते हैं, वे ही यदि मिल जायं तो प्रचण्ड अग्नि का रूप धारण कर लेते हैं। ताने के फैले हुए सूतों में जब वाने के वहुत से सूत बुन जाते हैं तो उनसे मजवूत वस्त्र वन जाता है। यही भाई-वन्धुओं के मेल का हाल है। पहले तुमने मेरी वात नहीं मानी, पर अव भी तुम पाण्डवों की रक्षा करो तो सव ठीक हो जायगा। कौरव पाण्डवों का और पाण्डव तुम्हारे पुत्रों का पालन करें। समस्त कौरवों के शत्रु-मित्र समान हों, उनका मंत्र समान हो, वे सुखी समृद्ध होकर जीयें। तुम कौरवों के बीच की थूनी हो। सारा कुरुकुल तुम्हारे अधीन है। तुम्हीं कौरवों और पाण्डुपुत्रों में संधि करा सकते हो। वे सत्य में स्थित हैं। तुम दुर्योधन को सत्य पर ठहराओ।"

बुद्धि के सत्तरह शत्रु

फिर विदुर ने स्वायंभुव मनु का प्रमाण देते हुए सत्रह तरह के भकुओं की सूची दी है। जो अकल का दुश्मन हो, वही भकुआ है। वह मानो मुट्ठी से आकाश कूटता है, हाथ में फन्दा लेकर हवा को बांधना चाहता है, या आकाश के इन्द्रधनुष को झुकाना चाहता है, या सूर्य की किरणों को मोड़ कर लपेटना चाहता है। जो अशिष्य को सिखाता है, जो क्रोध करता है, जो बलहीन होकर बलवान से वैर साधता है, जो स्त्रियों की रक्षा नहीं करता, जो दूसरे के क्षेत्र में बीज बोता है, जो उधार लेकर कह देता है कि याद नहीं पड़ता, जो देकर डींग हांकता है, जो ससुर होकर पतोहू के साथ हँसी करता है, जो स्त्री के मुंह लगता है, जो श्रद्धाहीन के सामने ज्ञान बघारता है, ऐसे व्यक्ति परले सिरे के मूर्ख हैं। यह सूची लोक के व्यवहारों को छानकर तैयार की गई थी और प्रज्ञा-दर्शन का अंग थी। धृतराष्ट्र ने बात को मोड़ते हुए शतायु बनने की युक्ति पूछी। विदुर ने मन और शरीर दोनों दृष्टियों से इसका उत्तर देते हुए कहा, "अतिवाद, अतिमान, मित्र-द्रोह, क्रोध, अत्याग और हद से ज्यादा ज्ञान-लिप्सा—ये छः बातें आयु कम करती हैं। इनसे आयु छिन्न होती है, मृत्यु से नहीं। परिमित भोजी आरोग्य, आयु एवं सुख और बल प्राप्त करता है।" कई प्रकार से विदुर ने प्रश्न का समाधान किया और अन्त में सब बलों के ऊपर प्रज्ञाबल की प्रशंसा की। बाहुबल, अमात्यबल, धनबल, आभिजात्यबल एवं प्रज्ञाबल, इन पांचों में प्रज्ञा से जो कार्य सिद्ध होता है, वह अन्य किसी बल से नहीं। प्रज्ञा के बाण से यदि शत्रु को छेद दिया जाय तो न उसके वैद्य मिलते हैं, न औषधि।

सामान्य शिष्टाचार

तब विदुर ने कुछ सामान्य शिष्टाचारों की व्याख्या की, जो मानवमात्र द्वारा पालन करने योग्य हैं, "मनुष्य को उचित है कि अभिवादन-रूपी शिष्टाचार का मनुष्यमात्र के साथ ठीक-ठीक पालन करे। जब कोई वृद्ध व्यक्ति किसी युवक के पास मिलने आता है तो युवक के प्राणों का सन्तुलन क्षुब्ध हो उठता है। अपने केन्द्र को फिर स्थिर-शान्त बनाने के लिए उसे

चाहिए कि उठकर वृद्ध व्यक्ति का स्वागत करे और अभिवादन करे। मनुष्य को यह भी उचित है कि शिष्टाचार के विषय में वह स्वयं पहल करे। अपने को कभी दूसरों से पिछड़ने न दे। अभ्यागत को पहले आसन देना चाहिए। फिर पाद-प्रक्षालन के लिए जल देना चाहिए। पुनः कुशल-प्रश्न पूछकर जो अपने पास सुलभ हो, उसे सरल हृदय से निवेदन करके अन्नादि से सत्कार करना चाहिए। जिसके यहां विद्वान को पाद्य, अर्घ्य, मधुपार्क न मिलें, उस व्यक्ति के जीवन को आर्य पद्धति में जीवित रहना नहीं माना जाता।" इसी प्रसंग में सच्चे भिक्षु और पुण्यात्मा तपस्वी का लक्षण बताया गया है। युधिष्ठिर के यहां ऐसे लोगों का आना सौभाग्य माना जाता था। विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, वयोवृद्ध, बुद्धिवृद्ध, धनवृद्ध और अभिजन वृद्ध, इन छः प्रकार से लोगों को उचित सम्मान मिलना ही चाहिए। कोई मूढ़ ही इनका अपमान करेगा। इसी प्रकरण में यह बताया गया है कि राजा को कैसे एकान्त स्थान में किनके साथ मंत्र-विचार करना उचित है। धर्म, काम और अर्थ संबंधी कार्यों में जो करना हो, उसे कहकर नहीं, करके ही जताना चाहिए। जो सुहृत् न हो, या सुहृत् होने पर भी प्रज्ञावान् (पंडित) न हो, या पंडित होने पर भी जो आत्म-संयमी न हो, ऐसे व्यक्ति को अपना मंत्र बताने से कुछ लाभ नहीं।

प्रज्ञावाद और भाग्यवाद की तुलना

पहले कहा जा चुका है कि धृतराष्ट्र दिष्टवादी या भाग्यवादी दर्शन के मानने वाले थे। आचार्य मंखलि गोशाल ने नियतिवाद का विशेष प्रतिपादन किया था। यहां भी धृतराष्ट्र ने कुछ वैसा ही मत व्यक्त किया, "किसी बात के होने या न होने में (भावाभाव) में मनुष्य का हाथ नहीं, सब भाग्य के वश में हैं। ब्रह्मा सूत में बंधी कठपुतली की भांति सबको नचा रहे हैं।

> अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा।
> धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलायं तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम्॥
> (उद्योग ३९।१)

इस विदुर नीति को सामान्य नीति ग्रन्थ नहीं समझना चाहिए। यह

एक पूरा दार्शनिक मत था। इसे प्रज्ञावाद या प्रज्ञा का दर्शन कहा जा सकता है। यह प्रज्ञावाद उन अनेक मतवादों की काट था, जो भाग्य, निर्वेद, कर्मत्याग पर आश्रित समाज-विरोधी आदर्शों का प्रतिपादन करते थे। प्रज्ञावाद पुरुषार्थ, सत्कर्म, धर्म, गृहस्थ, प्रजापालन आदि आदर्शों पर आश्रित था, जिनसे जीवन का संवर्धन होता है, निराकरण नहीं। यदि इस दृष्टि से विदुरनीति या प्रजागर पर्व का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो आदि से अन्त तक प्रज्ञावाद के सैकड़ों सिद्धान्तों का प्रतिपादन इसमें मिलेगा। प्रज्ञावाद का इतना सुन्दर समन्वित विवेचन अन्यत्र कहीं भी भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। प्राचीन भारत में प्रज्ञावाद एक प्रौढ़दर्शन के रूप में प्रचलित था। इसकी बहुत-सी चूलें अन्य दार्शनिक मतों के साथ, विशेषतः बौद्धमत के साथ, भी मिली हुई थीं। बुद्ध स्वयं प्रज्ञावादी थे, किन्तु उनकी सारी विचारधारा ने श्रमण धर्म को आगे बढ़ाया, गृहस्थ धर्म को उसके सामने छोटा समझा, पर प्रज्ञावाद प्राचीन वैदिक परम्पराओं को लिये हुए था, जिसमें व्यक्ति की महिमा, गृहस्थाश्रम की महिमा, पुरुषार्थ और उत्थान की महिमा का प्रतिपादन किया गया। प्रज्ञावाद अभावात्मक नहीं, जीवन का भावात्मक दृष्टिकोण था—भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मतिम् (उद्योग, ३६।१६)। प्रज्ञावाद दर्शन की सबसे करारी टक्कर भाग्यवाद या नियतिवाद दर्शन से थी। इसे दिष्टवाद कहते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस दर्शन के माननेवालों को दैष्टिक कहा गया है (४।४।६०)। दार्शनिक मत या दृष्टिकोण को दिट्ठ कहा जाता था। उस युग की अनेक दिट्ठियों या मतों का उल्लेख बौद्ध और जैन साहित्य में आया है। संस्कृत परम्परा में वह सामग्री अब तक ज्ञात न थी। अब तुलनात्मक दृष्टि से महाभारत के सैकड़ों अध्यायों में उसे पहचान कर अलग किया जा सकता है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद आदि दिट्ठ या मतों के संबंध में मूल्यवान सामग्री का बड़ा भंडार शान्ति पर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्म पर्व में एकत्र बच गया है और कुछ सामग्री दूसरे पर्वों में भी बिखरी हुई है। इस विषय में स्पष्ट तुलनात्मक विवेचन शांति पर्व की व्याख्या में करना उचित होगा। यहां इतना जान लेना चाहिए कि प्रज्ञावाद के अन्तर्गत जो दृष्टि-

कोण पाया जाता है, उसका प्रतिपक्षी दृष्टिकोण नियतिवाद था। नियतिवाद के सिद्धान्तों के साथ तुलना करके देखने पर ही विदुर के प्रज्ञादर्शन का पूरा महत्त्व, अर्थ एवं संगति स्पष्ट हो सकेगी।

दिष्टवाद या भाग्यवाद के संस्थापक आचार्य मंखलि गोशाल थे। शान्ति पर्व में मंकि ऋषि के नाम से उनकी कहानी आई है और वहीं उनके मत के पांच सिद्धान्त वताये गए हैं—वे इस प्रकार हैं १. सर्वसाम्य (सबको समान समझना), २. अनायास (हाथ पैर न हिलाना, परिश्रम न करना), ३. सत्यवाक्, ४. निर्वेद (कर्म के प्रति नितान्त उपेक्षा), ५. अविवित्सा (किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा न करना, तृष्णा-त्याग यहां तक कि आत्मा आदि के विषय में भी वौद्धिक प्रयत्न या ऊहापोह का परित्याग) :

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये। (शान्ति, १७१।२-३)। कर्म मत करो, शान्ति ही श्रेयस्कर है—यह मस्करी परिव्राजकों का दृष्टिकोण था, जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है (मा कर्म कार्षीः, शान्तिर्वः श्रेयसी)। निर्वेद, निवृति, तृप्ति, शान्ति, ये दिष्टवाद के अंग थे। भाग्य के माननेवाले सत्य, दम, क्षमा और सर्वभूत दया को भी मानते थे, पर उनके मतवाद का सवसे वड़ा तमंचा भाग्य या दैव में अटल विश्वास था। (शान्ति० १७१। १३, ४५)।

नियतिवाद की विशेष व्याख्या

प्रज्ञावाद के निरूपण में विदुर ने इन मतों का वहुत ही कुशलता से खंडन करते हुए अपने कर्म-परायण मत का प्रतिपादन किया है। नियतिवाद भूत, भविष्य और वर्तमान के हरएक पल को और जीवन के हरएक कर्म को विल्कुल बंधा हुआ मानता है, उसमें मनुष्य को वुद्धिपूर्वक कर्म की गुंजायश नहीं रहती। नियति में प्रज्ञा या वुद्धि से कुछ प्रयोजन नहीं। अतएव नियतिवाद का उलटा दर्शन आयतिवाद कहलाता था। उसके अनुसार वुद्धिपूर्वक कर्म से भविष्य को सुधारा जा सकता है। विदुर आयतिवाद और प्रज्ञावाद के समर्थक थे, जैसा धृतराष्ट्र ने कहा है :

सर्वं त्वमायति युक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम्।
न चोत्सहे तु तं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥

नियतिवाद के अनुसार विधाता ने जैसा भविष्य लिख दिया है, वैसा होकर रहेगा। प्रज्ञावाद के अनुसार पराक्रम से अनर्थ को टाला जा सकता है और बुद्धि से भविष्य को सुधारा जा सकता है (३९।३२,४१)। भाग्यवादी कहते थे कि हाथ-पैर हिलाने से कुछ लाभ नहीं, आयास या यत्न व्यर्थ है। इसके उत्तर में प्रज्ञावाद उत्थान, समारम्भ एवं पराक्रम का दृष्टिकोण रखता है (३९।५४,३२)। विदुर के अनुसार इन्द्रियों का कर्म छोड़ बैठना ऐसा ही है, जैसे मृत्यु हो जाना (३९।३८)। उत्साह ही जीवन है। जिन्होंने उत्साह छोड़ दिया, उन्होंने मानो लक्ष्मी और श्री से भी बिदा ले ली। नियतिवाद निर्वेद या वैराग्य पर जोर देता है, किन्तु प्रज्ञावाद के अनुसार अनिर्वेद या उत्साह-परायण कर्म ही सुख की प्राप्ति, दुःख के नाश और श्री का मूल है। जिसका मन नहीं बुझा, वही जीवन में महान् बन सकता है (३९।४४)। नियतिवादी भी क्षमा का उपदेश करते थे, किन्तु प्रज्ञावाद के अनुसार जो प्रभविष्णु या सामर्थ्यवान् है, उसी की क्षमा सच्ची क्षमा है। जो अशक्त है उसके पास तो क्षमा के सिवा और कुछ है ही नहीं। जो अर्थ और अनर्थ दोनों को एक समान समझ बैठा हो, वही नित्य क्षमा का आश्रय लेता है।

नियतिवाद में सर्वसाम्य या सबको बराबर समझा जाता था, किन्तु प्रज्ञावाद छोटे और बड़े, विद्वान और मूर्ख में उचित भेद करता है। इसके अनुसार छोटों को बड़ों का स्वागत, सत्कार, अभिवादन करना आवश्यक है (३८।१, ३९।६०)। सर्वसाम्य का यह भी अर्थ था कि व्यक्ति को निन्दा और प्रशंसा में शोक या हर्ष नहीं मानना चाहिए। इसका समर्थन प्रज्ञावादी विदुर ने भी किया है, (३६।१५)। इन वादों के अनेक सिद्धान्त प्रज्ञावादी बुद्ध के दर्शन में भी जा मिले हैं। धम्मपद के अनेक स्थलों की तुलना प्रज्ञा-वाद या नियतिवादियों के दृष्टिकोण से की जा सकती है। धम्मपद में पंडित को निन्दा या प्रशंसा से अलग रहने का उपदेश दिया गया है (धम्म, ८१)। यह विदुर के 'निन्दाप्रशंसासु समस्वभावः' से मिलता है।

नियतिवाद में सत्यवाक् का उपदेश दिया गया है। प्रज्ञावाद उसकी

व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए वाक्य के चार रूप मानता है। तूष्णी या मौन भाव सबसे अच्छा है। बोलना ही पड़े तो सत्य कहना, सत्य भी जो प्रिय हो, और प्रिय भी ऐसा, जो धर्मयुक्त हो। विदुर के प्रज्ञावाद में रूक्ष या कटीली वाणी की बहुत निन्दा की गई है। जो मर्म, हड्डी, हृदय और प्राणों को छेद दे, ऐसी घोर वाणी मनुष्य को जलाकर राख कर देती है। प्रज्ञावाद में उसके लिए कोई स्थान नहीं। हृदयस्थ प्रज्ञा देवी ही तो वाग्देवी के रूप में प्रकट होती है। प्रज्ञावाद में जैसे श्री का महत्व माना गया है, वैसे ही वाक् या सरस्वती का भी। महाप्राज्ञ महर्षि हंस और साध्यों के संवाद में सर्व-प्रथम धर्ममयी और काव्यमयी उदार वाणी पर ही बहुत बल दिया गया है। जो प्रज्ञामयी वाणी है, उसे ही काव्यमयी कहा जाता है। प्रज्ञावाद में सबसे अधिक गौरव आर्जव या हृदय की शुद्ध और सरलता को दिया गया है। विदुर धृतराष्ट्र को बार-बार आर्जव का महत्व समझाते हैं :

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे एते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥

यद्यपि नियतिवादी आचार्य मंखलि गोशाल ने भी सर्वभूत दया का उपदेश दिया है (शान्ति १७१।४५), पर नियतिवाद के अनुयायी धृतराष्ट्र के लिए कौरव-पाण्डव दोनों में ऋजुता और समता की नीति से व्यवहार करना संभव नहीं हो रहा था। इस संघर्ष में आर्जव का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए था इसी के बताने के लिए विदुर ने विरोचन और सुधन्वा का वह दृष्टान्त सुनाया था। माया, छल, जिह्मता या टेढ़ापन, इनके लिए प्रज्ञावाद में कोई स्थान नहीं।

ज्ञात होता है कि नियतिवाद के साथ ही योनिवाद का भी कुछ समझौता था। योनिवाद के अनुसार जन्म ही पुरुष के पद का निर्णयकर्त्ता है, कुल या आचार नहीं। प्रज्ञावादी दार्शनिक इन दोनों के समन्वय में विश्वास करते थे, अर्थात् कुल भी प्रधान है, और आचार भी महत्वपूर्ण है। सदा-चार से ही कुलों को महिमायुक्त बनाया जाता है। अतएव इसी प्रसंग में प्रज्ञावाद दर्शन के अन्तर्गत महाकुलों की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। नियतिवाद की दृष्टि से व्यक्ति के गुणों का कुछ मूल्य नहीं, क्योंकि उत्कर्ष और अपकर्ष का निर्णय भाग्य ही कर देता है। इसके विपरीत

प्रज्ञावाद गुणों का समर्थक है। व्यक्ति स्वयं अपनी बुद्धि से और पुरुषार्थ से गुणों का उपार्जन कर सकता है एव उनसे धर्म, अर्थ, काम की उपलब्धि कर सकता है। विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह, त्याग, शान्ति, स्वाध्याय, दान, धृति, सत्य, शम आदि सद्‌गुणों से व्यक्ति का उत्थान संभव है, इसमें भाग्य बाधक नहीं। कोई धन से बड़े और कोई गुण से बड़े होते हैं। धन-वृद्ध की अपेक्षा गुण-वृद्ध श्रेष्ठ हैं। ज्ञात होता है कि भाग्यवादी धन के उत्कर्ष को बड़प्पन का हेतु मानते थे और प्रज्ञावादी गुणों को।

भाग्यवाद में धर्म के लिए स्थान नहीं, किन्तु प्रज्ञावाद की मूलभित्ति धर्म ही माना जाता था :

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये।
नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्यः॥
(उद्योग, ४०।११-१२)

अर्थात्, काम से, भय से, लोभ से या प्राणों के भय से भी धर्म को न छोड़ना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं, जीव नित्य है और शरीर अनित्य है। अनित्य को छोड़कर नित्य का आश्रय लेना चाहिए। यह उत्तम श्लोक ही महाभारत के दृष्टिकोण की कुंजी है। इसे सम्पूर्ण महाभारत के अन्त में पुनः दोहराते हुए भारत-सावित्री कहा गया है।

नियतिवाद का पांचवां सिद्धान्त अविवित्सा अर्थात् वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा का निराकरण था। इसके विपरीत प्रज्ञावाद विवित्सा का समर्थन करता है, अर्थात् मनुष्य को व्यावहारिक जीवन में घर-गृहस्थी, खान-पान, वस्त्र-शयनासन, भूमि, राज्य-शासन आदि सब रुचि लेनी चाहिए। जो कुछ भाग्य ने दे दिया, नियतिवादी उससे सन्तोष मान लेता है, किन्तु पुरुषार्थवादी या प्रज्ञावादी कुटुम्ब, खेत, भूमि, घर, रहन-सहन, भोजन-वस्त्र सबको अच्छे कुल की कसौटी समझता है और उनमें सुधार करना चाहता है (३९।३३)। यदि घर में दरिद्रता के कारण जीविका का अभाव है तो उसे भाग्य पर न टाल कर विनय या जीवन में प्राप्त शिक्षा से उपलब्ध करना चाहिए (अवृत्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः, ३९।३३)

कार्य में अध्यवसाय प्रज्ञा का लक्षण है। कभी ऐसा भी देखने में आता है कि बुद्धि होने पर भी धन लाभ नहीं होता और मूढ़ के पास रुपये पैसे की तरावट देखी जाती है। ऐसी घटना से प्रज्ञावादी को घबड़ाना नहीं चाहिए। लोक-पर्याय धर्म से ऐसा संभव है, किन्तु अन्त में प्रज्ञा का फल मिलता ही है। भाग्यवादी मूढ़ जन विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, बुद्धिवृद्ध आदि वृद्ध जनों का अपमान कर बैठते हैं, क्योंकि वे गुणों को नहीं मानते।

जब धृतराष्ट्र ने स्पष्ट शब्दों में विदुर से यह कहा कि भाग्यवाद ही यहां सब कुछ है तो विदुर को अपना उत्तर बहुत सोच-समझकर देना पड़ा। विदुर ने सोचा कि यदि दिष्टवाद का सीधे खंडन किया जाय तो धृतराष्ट्र को अच्छा न लगेगा। उन्होंने कहा, "यदि स्वयं बृहस्पति भी बिना अवसर की बात कहें तो उन्हें नीचा देखना पड़ेगा। ये बृहस्पति कौन हो सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा ध्यान लोकायत दर्शन के संस्थापक आचार्य बृहस्पति की ओर जाता है, जो चार्वाक भी कहलाते थे। विदुर का तात्पर्य यही था कि बृहस्पति के समान भी कोई सुन्दर भाषण करने वाला हो तो उसे भी अवसर के अनुकूल ही बोलना चाहिए। इस भूमिका के बाद में विदुर ने द्वेष्य और प्रिय व्यक्तियों का विवेचन किया, "मन जिसे अप्रिय मानता है, उसे उसका कुछ भी अच्छा नहीं लगता, पर प्रिय का सबकुछ सुहाता है। नियतिवादी की दृष्टि में प्रिय वह है,जो दान से, चापलूसी से या मंत्रौषधि से प्रिय बन जाता है, किन्तु प्रज्ञावादी उसे ही प्रिय मानता है, जो सहज स्नेह से प्रिय और हितू है। इसी प्रकार क्षय और वृद्धि भाग्य के खेल नहीं, इनमें भी मनुष्य के पुरुषार्थ का करिश्मा और कर्म का जादू काम करता है। कैसा भी क्षय हो, यदि उसके साथ पुरुषार्थ जुड़ा हुआ है और वह वृद्धि की ओर उन्मुख है तो उसे क्षय नहीं माना जा सकता। किन्तु कैसी भी समृद्धि हो, यदि वह पुरुषार्थ से शून्य है तो उसे क्षय ही समझना चाहिए।" ज्ञात होता है कि बृहस्पति के लोकायत दर्शन का भी किसी अंश में मंखलि गोशाल के प्रत्यक्षवादी दर्शन में अन्तर्भाव हो गया था। भिन्न-भिन्न दर्शनों के इन बंटे हुए तारों को पहचानने और अलग करने के लिए बहुत प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता है।

अविवित्सा का एक अर्थ अधिक जानने की इच्छा का अभाव भी है।

नियतिवादी या अन्य नास्तिक दर्शन आत्मा, ब्रह्म आदि के संबंध में ऊहा-पोह से भागते थे। ऐसा मानने वाले गुरुकुलवास या पढ़ने-लिखने को व्यर्थ समझकर खट्वारुढ़ बन जाते थे, अर्थात् वैदिक स्वाध्याय और चरणों के नियमित अध्ययन से विमुख होकर गृहस्थ हो जाते थे (३९।२७)। प्रज्ञावाद की दृष्टि से ऐसा करना उचित नहीं, क्योंकि उससे बाद में पछताना पड़ता है। नियतिवाद का परिणाम श्रमणधर्म था, अर्थात् घर-बार छोड़कर वैराग्य साध लेना। यह अच्छी स्थिति न थी। प्रज्ञावादी की दृष्टि में अग्निहोत्र, शील, सदाचार, विवाह, दान, भोग, स्त्री, धन, अध्ययन और वेद, इन सबका मूल्य है और जीवन में सबके लिए इनकी आवश्यकता है। धम्मपद के मलवग्ग और क्रोधवग्ग के कुछ श्लोक और विचार प्रज्ञावादी दर्शन में ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं, जैसे 'अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्' आदि।

विदुर-नीति प्रज्ञावाद का रोचनात्मक शास्त्र प्रतीत होता है। आस्तिक ब्रह्मवाद या कर्मयोग का समन्वय प्रज्ञावादी दर्शन से था। कृष्ण ने गीता में 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' (गीता, २।११) कहकर अर्जुन के प्रज्ञावाद की कुछ हँसी की है, किन्तु वह असली प्रज्ञावाद की निन्दा नहीं, वह तो प्रज्ञा-वाद का रंगा चोला पहने हुए उन झूठे विचारों की निन्दा है, जिनके द्वारा अर्जुन कर्म और पुरुषार्थ पर हरताल पोत देना चाहता था। यह कहा जा चुका है कि धृतराष्ट्र नियतिवादी और विदुर एवं युधिष्ठिर प्रज्ञावाद के अनुयायी थे। धृतराष्ट्र ने प्रज्ञावादी युधिष्ठिरके बारे में चर्चा छेड़ी थी कि वे किस प्रकार रहते और कर्म करते हैं। विदुर ने बहुत तरह से प्रज्ञावाद का दृष्टिकोण धृतराष्ट्र के सामने रक्खा, पर फल कुछ न निकला। ढाक के वही तीन पात। अन्त में धृतराष्ट्र ने स्पष्ट कह दिया, "हे विदुर, तुम जैसा कहते हो, ठीक है। तुम्हारे समझाने से मेरी मति भी वैसी बन जाती है। पर पाण्डवों के प्रति मेरी वह बुद्धि दुर्योधन को देखते ही चट बदल जाती है। कोई भी मनुष्य दिष्टि या भाग्य का उल्लंघन नहीं कर सकता। इसलिए भाग्य प्रधान है, पौरुष निरर्थक है (४०।२८-३०)। किस शिष्य में शिक्षक का प्रयत्न कभी ऐसा व्यर्थ हुआ होगा ? धृतराष्ट्र तो केवल कान के रसिया थे। उन्होंने शुरू में ही कहा था, "हे विदुर, तुम कहो, मैं

सुनने के लिए बैठा हूं (३९।१)।" इस कान से सुना, उस कान से निकाल दिया—यही धृतराष्ट्र का रवैया था। हृदयपरिवर्तन के लिए सच्चा प्रयत्न और निश्चयात्मक विचार धृतराष्ट्र के चरित्र में न था। अतएव सुनने के लिए उन्होंने एक करवट और ली, जैसा हम सनत्सुजात नामक पर्व के अगले प्रकरण में देखते हैं।

४६ : : ऋषि सनत्सुजात का उपदेश

(अ० ४१—४६)

उद्योग पर्व के अ० ४२ से अ० ४५ तक का नाम सनत्सुजात पर्व है, जिसे सनत्सुजातीय भी कहते हैं, क्योंकि इसमें महर्षि सनत्सुजातकृत अध्यात्म-विद्या का उपदेश है। इस प्रकरण का महत्त्व इस बात से प्रकट है कि इस पर श्री शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है। शान्तिपर्व (३८।१२) के अनुसार सनत्कुमार पिता ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र थे, जिनसे भीष्म ने अध्यात्म-शास्त्र की शिक्षा पाई थी। एक दूसरे स्थान पर (शान्ति अ० ३२७) यह कल्पना की गई है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो मार्गों के आदिकर्ता दो प्रकार के सप्तर्षि थे। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ ये सात ब्रह्मा के मानसपुत्र प्रवृत्तिधर्मी सप्तर्षि थे, जिन्होंने क्रियामय प्राजापत्य मार्ग का अनुसरण किया। इनके ज्ञान का स्रोत वेद-विद्या थी। अतएव ये वेदाचार्य कहे गये। इनके प्रवृत्ति मार्ग को भागवतों ने अनिरुद्ध, इस प्रतीक संकेत से स्वीकार किया (३२७।६१-६३)। ब्रह्मा के दूसरे मानसपुत्र सप्तर्षि निवृत्ति मार्ग के अनुयायी हुए। सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन, कपिल, ये सात मोक्षशास्त्र के आचार्य और मोक्षधर्म के प्रवर्तक थे। इन्हें योगविद और सांख्यधर्मविद् कहा गया है (शान्ति पर्व अ० ३२७।६४-६६)। प्राचीन धर्म और अध्यात्मसाधना की ये दो धाराएं किसी समय एक-दूसरे से मिल गईं और उस समन्वय के फलस्वरूप भाग-

वत धर्म का विशेष प्रचार हुआ, जिसमें भुक्ति और मुक्ति इन दोनों आदर्शों पर बल दिया गया। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि नारद अपने समय के सबसे बड़े वेदाचार्य अर्थात् ऋक्-यजु-साम रूपी त्रयी विद्या और वेदांगों के परम ज्ञाता थे। वे एक बार सनत्कुमार के पास उपदेश के लिए गये। वहां नारद को वेदवित् और सनत्कुमार को आत्मवित् कहा गया है। आत्मविद्या की परम्परा में ही सनत्कुमार और सनत्सुजात आदि सप्तर्षि थे। इन्हीं से सांख्य शास्त्र के निवृत्तिमार्ग की परम्परा विकसित हुई और उसी परम्परा में आगे चलकर श्रमणधर्म का विकास हुआ। उपनिषद् की कथा में नारद और सनत्कुमार वेदविद्या और आत्मविद्या के प्रतिनिधि हैं। यों तो मूल में वेद ही क्रियामार्ग अर्थात् कर्मकाण्ड और ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या का एकमात्र स्वरूप था। वैदिक दर्शन मुख्यतः ब्रह्मदर्शन ही हैं, किन्तु क्रमशः गृहस्थों के लिए कर्मकाण्ड और मुमुक्षुओं के लिए ब्रह्मविद्या इन दो विचारधाराओं ने जन्म लिया। निवृत्तिमार्गी आचार्यों को स्वयमागतविज्ञान कहा गया है, अर्थात् इन आचार्यों के मन में ज्ञान का प्रादुर्भाव स्वयं अपनी साधना से हुआ, शब्दमय वेदविद्या के पारायण और अध्ययन के फलस्वरूप नहीं।

'स्वयमागतविज्ञान' (शा० ३२७।६५) शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्याकरण शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख आता है कि कुछ विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन वैदिक चरणों के अन्तर्गत हो रहा था और कुछ ऐसे नये शास्त्र भी थे, जिनकी उद्भावना चरणों से बाहर विद्वान् आचार्य स्वयं कर रहे थे। शाकटायन और पाणिनि के व्याकरण ऐसे ही थे। इन शास्त्रों को तदुपज्ञ अर्थात् आचार्यविशेष की बुद्धि से उत्पन्न कहा जाता था। दर्शन के क्षेत्र में तदुपज्ञ चिन्तन को ही स्वयमागतविज्ञान कहा गया है। सनत्सुजात और कपिल इसी परम्परा के थे। इसके विपरीत नारद चरणों के अन्तर्गत वैदिक परम्परा के आचार्य थे। पहली परम्परा में ही और अधिक स्वतंत्र विकास के अनन्तर प्रज्ञावादी बुद्ध और महावीर जैसे स्वतंत्र आचार्यों ने जन्म लिया।

प्रज्ञादर्शन में कर्म-ज्ञान का समन्वय

विदुरनीति के संबंध में कहा जा चुका है कि वह साक्षात् प्रज्ञावाद दर्शन का ग्रन्थ था। उसकी युक्तियों का झुकाव न केवल मंखलिगोशाल के नियतिवाद की कांट-छांट करना है, बल्कि प्राचीन वैदिक कर्मयोग-परायण गृहस्थमार्ग को गौरव प्रदान करना भी है। प्रश्न यह है कि प्रज्ञावाद दर्शन के तुरन्त बाद ही सनत्सुजातीय प्रकरण को रखने में महाभारतकार का क्या हेतु हो सकता था ? प्रज्ञावाद अत्यन्त व्यापक दर्शन था। कृष्ण प्रज्ञावादी थे। बुद्ध भी प्रज्ञावादी थे, किन्तु कृष्ण ने वैदिक कर्मयोग का आश्रय लिया और बुद्ध प्रज्ञावाद के मार्ग पर चलते हुए भी श्रमणधर्म या निवृत्ति मार्ग के प्रभाव में आ गये और उन्होंने व्यवहार में सांख्यविदों की त्याग-प्रधान परम्परा को ही उत्तम समझा। हम देख चुके हैं कि सनत्सुजात उसी निवृत्ति-मार्गी परम्परा के आचार्य थे, जिसके सांख्यविद् कपिल; किन्तु सनत्सुजात स्वतंत्र चिन्तन के समर्थक होते हुए भी वैदिक परम्परा से दूर न हटे थे और वेद की उच्च अध्यात्म विद्या या ब्रह्मदर्शन उन्हें मान्य था। तत्त्वचिंतन के विकास में यह स्थिति निश्चय बुद्ध के पूर्व रही होगी। कृष्ण ने भी एक ओर प्रज्ञावाद और उससे मिले हुए कर्म और पुरुषार्थ को अपनाया एवं दूसरी ओर वैदिक विचारधारा का जो तेजस्वी ब्रह्मदर्शन था, उसे बहुत पल्लवित रूप में प्रतिपादित किया है और उससे भी अधिक विचित्रता यह है कि निवृत्तिमार्गी सांख्य कपिल की विचारधारा को भी पर्याप्त आदर दिया है। विचारों के ये भिन्न-भिन्न तन्तु, जो महाभारत के कई प्रकरणों में फैले हुए स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, अति सुन्दरता से गीता के बुद्धियोग-शास्त्र में एक में बट दिये गए हैं। गीता-शास्त्र की इस काव्यमयी कला को देखकर हार्दिक रोमांच होता है। बहुत विशिष्ट कल्याणमयी प्रज्ञा से ही इस प्रकार की युक्ति संभव हो सकती है। वस्तुतः अकेला प्रज्ञावाद भी जीवन के लिए पूर्ण दर्शन नहीं बन सकता, जबतक उसके साथ ब्रह्मवाद का मेल न हो; पर यह ब्रह्मवाद केवल कहने-सुनने की वस्तु न हो और न शुष्क तर्क का मुखापेक्षी हो। इसे तो अनुभव के भीतर से पल्लवित होना चाहिए और इसका अटूट प्रवाह हृदय के भीतर से आना चाहिए। गीता की यही

विशेषता है। उसका ज्ञान-सुपर्ण प्रज्ञावाद और ब्रह्मवाद इन दोनों पंखों को एक साथ फड़फड़ाकर उड़ना चाहता है। विदुरनीति और सनत्सुजात पर्व जानबूझकर एक-दूसरे के साथ रखे गये हैं, पर इनमें गीता जैसी कलात्मकता नहीं। हां, दो प्राचीन दर्शनों की बहुव्यापी पृष्ठभूमि अवश्य है, जो उपनिषत्कालीन ज्ञानमंथन के द्वार को कुछ क्षण के लिए अनावृत्त करदेती है।

ऋषि सनत्सुजात का आना

विदुर द्वारा व्याख्यात प्रज्ञावाद दर्शन की दृष्टि को सुनकर भी धृतराष्ट्र पर कोई प्रभाव न हुआ। वे अपने दिष्टवाद या भाग्यवाद पर जमे रहे। उन्होंने कहा, "कोई भी प्राणी भाग्य का अतिक्रमण नहीं कर सकता। भाग्य ही कर्म का रूप है, पौरुष व्यर्थ है, पर यदि इससे अधिक तुम्हारे पास कुछ कहने को हो तो सुनाओ। मुझे तुम्हारी बात अच्छी लगती है।" विदुर ने अपने प्रयत्न को यों निष्फल देखकर फिर स्वयं कुछ कहने का साहस नहीं किया और उन्होंने सनत्कुमार का परिचय देते हुए कहा कि वे मृत्यु को नहीं मानते और वे ही तुम्हारे हृदय के गुप्त और प्रकट प्रश्नों पर प्रकाश डालेंगे। विदुर ने सनत्सुजात का ध्यान किया और वे वहां आ उपस्थित हुए। धृतराष्ट्र ने एकान्त में पूछा, "हे भगवन्, मैंने सुना है कि मृत्यु नहीं है, यह आपका उपदेश है। देवता और असुरों ने भी मृत्यु को जीतने के लिए ब्रह्मचर्य धारण किया, क्या यह बात सत्य है?"

सनत्सुजात ने उत्तर दिया, "किसी का मत है कि कर्म से अमृत मिलता है। औरों का कहना है कि मृत्यु है ही नहीं। ये दोनों मत पहले से चले आते हैं और दोनों ठीक हैं। प्रज्ञावान् मोह को मृत्यु मानते हैं, पर मेरा मत है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है। प्रमाद से असुर हारे। अप्रमाद से लोग ब्रह्मपद पा लेते हैं। मृत्यु बाघ की तरह मनुष्यों को नहीं खाती और न उसका कोई प्रकट रूप है। एक मत यह है, कि यम ही मृत्यु है। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य-वास करता हुआ आत्मा अमृत का रूप है। मृत्यु कहीं बाहर से नहीं आती, वह मनुष्यों के भीतर ही उत्पन्न होती है। क्रोध, प्रमाद, मोह ये ही तो मृत्यु के रूप हैं। इनसे मोहित व्यक्ति यहां से

मरकर पुनः वहां जाते हैं और फिर यहां आते हैं।"

सनत्सुजात का यह मत प्राचीन निवृत्तिमार्गी दर्शन का अंग था। जैन और बौद्ध दर्शनों में भी प्रमाद मृत्यु है, अप्रमाद अमृत है, इस सिद्धान्त को अपनाया था। धम्मपद के अन्तर्गत अप्पवाद वग्ग में लिखा है :

अप्पमादो आमतपदं पमादो मच्चुनो पदम्।
अप्पमत्ता नमीयन्ति ये पमत्ता मता यथा॥

उत्तराध्ययन सूत्र के अप्पमाद अध्ययन में महावीर ने गौतम गणधर को अप्रमाद का उपदेश दिया, 'समयं गोयम मा पमायये'।

वस्तुतः संसार के दुःखवादी दार्शनिकों ने मृत्यु को सबसे भारी दुःख माना। फिर इस मृत्यु-दुःख से छूटने की मीमांसा कई प्रकार से होने लगी। ब्रह्मचर्य सूक्त में वैदिक दृष्टिकोण का उल्लेख हुआ है कि ब्रह्मचर्य और तप से देवों ने मृत्यु को जीत लिया था (ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत, अथर्व० ११।५।१९)।

अमृत के विषय में कर्मवादियों का मत भी दिया गया है। ये यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म मानने वाले कर्मकाण्डी पूर्वमीमांसक जान पड़ते हैं, जो यज्ञ-कर्मों द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति को ही मृत्यु पर विजय मानते थे। मृत्यु कुछ है ही नहीं, यह दृष्टिकोण ज्ञानवादी निवृत्तिमार्गी आचार्यों का विदित होता है। सनातन ब्रह्मचारी सनत्कुमार कपिल आदि उनमें अग्रणी थे। यदि मृत्यु की पृथक् सत्ता होती तो ये सनातन आयुष्य का उपभोग न कर सकते। सनत्सुजात ने अमृतत्व और अप्रमाद को पर्यायवाची मानते हुए यज्ञादि बाह्यकारणों से मृत्यु को हटाकर अमृत प्राप्त करने का निराकरण किया है। वे उसे एक नैतिक प्रश्न के रूप में देखते हैं, जैसे बुद्ध ने मीमांसकों के कर्मवाद को बाह्य हेतुओं से छुड़ाकर आंतरिक नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया था। क्रोध, प्रमाद, मोह ये मनुष्य के भीतर से ही उत्पन्न होते हैं और इन्हीं का नाम मृत्यु है। यदि पितृलोक में धर्मराज यम को मृत्यु का देवता मान लिया जाय तो वे भी स्वयं निरपेक्ष ही हैं। अतएव अच्छों के लिए अच्छे और बुरों, के लिए बुरे, यही उनका व्यवहार है (शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम्)। क्रोध, प्रमाद, मोह-रूपी असत्कर्मों का चक्र ही मनुष्य को जन्म-मरण के बंधन में डालता है। यही कर्मोदय होने का कर्मफल है।

जो विषयों में गुण देखता हुआ, अबुद्ध रहकर, उत्पन्न होते हुए विषयों के हनन में अनादरसे काम लेता है, वह मृत्यु रूप हो जाता है। मृत्यु के समान तीव्रता से वह उन विषयों का भोग करता है। पर जो विद्वान् है, वह कामों का हनन कर लेता है (४२।९)। कामना और तृष्णा के पीछे भागने वाला मनुष्य उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। जो कुछ यहां रजोगुण है, मनुष्य कामों को उठाकर स्वयं उसे उत्पन्न कर लेता है। तम और प्रकाश के अभाव का ही नाम नरक है। जैसे कोई मुंह उठाए हुए गड्ढे की ओर जाता हो, ऐसे ही मनुष्य उस नरक की ओर दौड़ रहे हैं। विषयों में गुण का चिंतन, यह पहली मृत्यु है। फिर काम, क्रोध उसे पकड़कर मारते हैं। मूर्खों की मृत्यु यही है। जो धीर हैं, वे धैर्य से इस मृत्युरूप काम, क्रोध के पार हो जाते हैं। क्रोध, लोभ और मोह का अंतरात्मा में प्रवेश, यही शरीरस्थ मृत्यु है और बाहर कोई मृत्यु नहीं है, जो बाघ की तरह बछड़े को उठा ले जाय। इस प्रकार जो मृत्यु की उत्पत्ति को जान लेता है, वह ज्ञान का आश्रय लेकर मृत्यु से नहीं डरता। उसके लिए फिर मृत्यु उसी तरह नहीं रहती, जैसे मृत्यु के चंगुल में पड़ा हुआ मनुष्य नहीं रहता। यह ज्ञानमार्गी सांख्यविदों का मत था, जो कहते थे कि मृत्यु की वास्तविकता कुछ नहीं है।

धर्म और अधर्म का तारतम्य

इस भूमिका के बाद धृतराष्ट्र ने एक और टेढ़ा प्रश्न पूछा, "कुछ मनुष्य धर्म का आचरण नहीं करते, कुछ करते हैं, तो सच बात क्या है? पाप धर्म को मार डालता है या धर्म पाप को।" प्रश्न जैसा स्पष्ट है सनत्सुजात का उत्तर भी वैसा ही स्पष्ट है: "धर्म और अधर्म दोनों का फल भोगना पड़ता है। विद्वान् धर्म से अधर्म को हटाता है। अवश्य ही उसके लिए धर्म अधर्म से बलवान है।"

धृतराष्ट्र का अगला प्रश्न ब्राह्मणों के उस बाह्य आचार के विषय में है, जिसके द्वारा वे उत्तम लोकों की प्राप्ति संभव मानते थे और जो उनके बाह्य आचार और कर्मकांड से जकड़ा हुआ था। वे लोग उसी की रट लगाते थे और उसके अतिरिक्त और कोई कर्म न मानते थे। उत्तर में सनत्सुजात

ने धम्मपद के ब्राह्मण वर्ग की तरह बाह्य आचारों का खंडन करके नैतिक जीवन और सदाचार को ही श्रेष्ठ ब्राह्मणधर्म कहा, "बलधारी की भांति ब्राह्मण को बल का घमंड नहीं होता। सच्चा ब्राह्मण वही है, जो इसलोक से नहीं, स्वर्ग के प्रकाश से प्रकाशित होता है। जहां वर्षा ऋतु के घास-फूस की तरह बहुत-सा अन्न-पान भरा हुआ हो, सच्चा ब्राह्मण उसके लिए संतप्त नहीं होता। जो बंधु-बांधवों के बीच में रहता हुआ भी अज्ञातचर्या से रहता है, वही ब्राह्मण है। जो अपरिग्रह या न लेने के व्रत में कभी खिन्न नहीं होता, वही ब्रह्मवित् ब्राह्मण है। जो मानुषी धन का धनी नहीं, वेदों का धनी है, वही अडिग है और उसे ही सच्चा ब्राह्मण समझो। जो मान के लिए प्रयत्न नहीं करता फिर भी पूजित होता है, उसी का मान सच्चा है। जिस सम्मान के लिए ब्राह्मण को स्वयं प्रयत्न करना पड़े, वह मान नहीं। विद्वान् ही योग्य व्यक्ति को मान देते हैं, मूर्ख नहीं। इसलिए अमान से संतप्त न हो। मान और मौन कभी साथ नहीं रहते। मान से यह लोक मिलता है, मौन से वह लोक, ऐसा जानने वालों का कहना है। कुछ लोग श्री में सुख का वास मानते हैं, पर वह श्री विघ्नयुक्त है। प्रज्ञाशील की जो ब्राह्मी श्री है, वही सच्ची श्री है। सत्य, आर्जव, ह्री, दम, शौच और विद्या, ये छह उस श्री के द्वार हैं।"

पाप से बचने के लिए सत्य में स्थिति आवश्यक है

धृतराष्ट्र ने फिर एक कटीला प्रश्न पूछा, "जो ऋक्, यजु या सामवेदों को पढ़ता हुआ पाप भी करता है, उसे पाप लगता है या नहीं?" सनत्सुजात का उत्तर और भी खरा है, "न साम, न ऋक्, न यजु, कोई भी पाप से रक्षा नहीं कर सकता, मैं तुमसे मिथ्या नहीं कहता :

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंषि विचक्षण ।
त्रायन्ते कर्मणः पापन् न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ (उद्योग ४३।२)

"जो मायावी छल-कपट में लीन है, उसे वेद पाप से नहीं तारते। पंख निकलने पर जैसे पक्षी घोंसला छोड़ जाते हैं, ऐसे ही अन्तकाल में उसे वेद छोड़ जाते हैं।"

उत्तर सुनकर धृतराष्ट्र कुछ विचलित हुए और उन्होंने अधिक साहस

के साथ कहा, "यदि वेद वेदविद् को नहीं बचा सकते तो ब्राह्मणों का यह सनातन प्रलाप क्यों होता आया है?" उत्तर में सनत्सुजात ने वेदों के सुग्गा-पाठ और तपोमय सत्यपरायण जीवन इन दोनों के तारतम्य पर ध्यान दिलाया। यहां उस समय के विद्वानों को तीन वर्गों में बांटा गया है। पहले वे हैं, जो बहुपाठी अर्थात् पदक्रम, जटा, घन आदि की रीति से वेदों को कंठ रखते थे, उन्हें छन्दोविद् कहा जाता था। दूसरी कोटि में वे विद्वान् थे, जो वेदवेदिता कहलाते थे, अर्थात् षडंग वेद का जो अर्थसहित अध्ययन-अध्यापन करते थे। वे शुष्क छन्दविदों से कुछ अच्छे थे। किन्तु उनसे भी बढ़कर तीसरी कोटि के वे विद्वान् थे, जिन्हें वेद्यवित् कहा जाता था, अर्थात् जानने योग्य जो परम तत्त्व है, उसे वे जानते थे। छन्दोवित्, वेदवित् और वेद्यवित् इन तीनों में अंतिम वेद्यवित् ही श्रेष्ठ है। जो केवल वेद जानता है वह वैद्य (जानने योग्य) को नहीं जानता। पर जिसने सत्य का आश्रय लिया है, वह जानने योग्य को भी जान लेता है :

यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यम्।
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ॥ (उद्योग० ४३।३१)

"मैं तो उसी को वेद का चतुर आख्याता (अध्यापक) मानता हूं, जो स्वयं छिन्नसंशय हो गया हो। मौन तप से कोई मुनि बनता है, जंगल में बसने मात्र से नहीं। जो अक्षर तत्त्व को यथावत् जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि है। जब ब्राह्मण सत्य में प्रतिष्ठित होता है तभी ब्रह्म का दर्शन कर पाता है। चारों वेदों का क्रम से यही मत है।" छान्दोग्य उपनिषद् में भी सनत्कुमार ने नारद को सबकुछ बताकर अन्त में सत्य का उपदेश किया है (सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति, ७।१६।१)। सदाचार और सत्यदर्शन इन पर ही यहां विशेष आग्रह किया गया है। कैसा भी बढ़ा-चढ़ा तप हो, वह नीतिमय जीवन के बिना रीता है, और सच्चे धर्म के बिना वेद का ज्ञान भी कोरा बुद्धि का व्यायाम ही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, शोक, मान, असूया, स्पृहा, विवित्सा (संग्रहवृत्ति), कृपा (दैन्य), घृणा ये बारह महा दोष हैं। जैसे शिकारी मृगों को ढूंढ़ता है ऐसे ही इनमें से हर-एक मनुष्य की टोह में रहकर उसे अपने चंगुल में फंसाता है। इसके विपरीत ब्राह्मणवृत्ति मनुष्य के लिए ये बारह महाव्रत हैं—धर्म, सत्य, दम, तप,

यज्ञ, दान, श्रुत, धैर्य, अमात्सर्य, ह्री, तितिक्षा और अनसूया। जो इन बारह गुणों से शून्य है, अथवा दम, त्याग और अप्रमाद ये तीनों या इनमें से दो या एक भी जिसके पास नहीं है, उसका अपना आत्मा जैसे कुछ बना ही नहीं। दम, त्याग और अप्रमाद इनमें ही अमृत कहीं रखा हुआ है। मनीषी ब्राह्मण कहते हैं कि ये सत्य के तीन मुख हैं। इन तीन गुणों का विशेष उल्लेख यवन देशीय भागवत हिलियोदोर के विदिशास्थित गरुड़ध्वज लेख में भी पाया गया है। उसे अवश्य भागवतों ने महाभारत के इसी प्रकरण से लिया था। पंचरात्र भागवतों के पास धार्मिक चर्या तो अपनी थी; किंतु दर्शन उन्होंने सांख्यवादियों से लिया। जैसा पहले कहा जा चुका है, सनत्सुजात का दृष्टिकोण प्राचीन सांख्ययोग की परम्परा से आया हुआ था।

सत्य ही एकमात्र वेद है

धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया, "लोक में अनेक प्रकार के विद्वान् हैं। कोई इतिहास-पुराण नामक पांचवें वेद के ज्ञाता होने से प्रसिद्धि पाते हैं, कोई चतुर्वेद, कोई द्विवेद और कोई केवल एक वेद जानते हैं, और कोई ऋचाओं से बिलकुल कोरे हैं। इनमें सच्चा ब्राह्मण किसे माना जाय?" सनत्सुजात ने इस चुभते प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिया, "सत्य ही एकमात्र वेद है। सत्यरूपी एक वेद के अज्ञान से वेदों को बहुत कहा जाने लगा। जो अपने ज्ञान या बुद्धि को सत्य में स्थित कर लेता है, उसी की प्रज्ञा महान् आत्मा में प्रतिष्ठित होती है। जितने यज्ञ हैं, सत्य पर आरूढ़ होने से ही उनका वितान होता है।" इसके बाद सनत्सुजात ने अनैभृत्य सिद्धान्त का उल्लेख किया। नैभृत्य का अर्थ है चुपचाप रहना या संकोच। अनैभृत्य का आशय था प्रगल्भता, अर्थात् सत्य के आग्रह या प्रगल्भता से ही प्रवृत्तिमार्ग है, जिसमें यज्ञ दीक्षा भी सम्मिलित है, सफल होता है, और सत्य से ही निवृत्तिमार्ग की आध्यात्मिक शांति (धातु-निवृ ति) प्राप्त होती है। जो परोक्ष तप है, जब सत्य के धारण से वह जीवन में प्रत्यक्ष बनता है तो वही ज्ञान कहलाता है (४३।२८)।

इस प्रकार सत्य को सब वेदों का सार और सच्चे ब्राह्मण की पहचान

बताकर सनत्कुमार ने उस युग के विद्वानों की कई कोटियों का उल्लेख किया है। एक वे थे जो बहुपाठी कहलाते थे, अर्थात् पद-पाठ, क्रम-पाठ आदि की रीति से वेदों को कंठ करते थे। पाणिनि के अनुसार इनका पारिभाषिक नाम श्रोत्रिय था (श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते)। इस प्रकार के छन्दोविद आचार्य वेदों के अर्थ की ओर से उदासीन थे। वे स्वयं वेदों का पारायण करते और छात्रों को उन्हें कंठ कराते थे। इनसे ऊँची कोटि के वे विद्वान् थे, जिन्हें वेद-वेदिता कहा जाता था, अर्थात् जो वेद के अर्थों को भी जानते थे और आचार्य रूप में शिष्यों का उपनयन करके उन्हें वेद के रहस्य-ज्ञान की शिक्षा देते थे। इन्हें छान्दोग्य उपनिषद् के सनत्कुमार-नारद संवाद में वेदवित् या मंत्रवित् कहा गया है। वैदिक चरणों की परिभाषा में यही 'आख्याता' पद धारण करते थे। किन्तु विद्वानों की एक कोटि इनसे भी ऊपर थी और सत्य का साक्षात् दर्शन करनेवाले आत्मवित् या ब्रह्मवित् पुरुषों की गणना इसमें की जाती थी। वेद्य अर्थात् सत्य या ब्रह्म के ज्ञाता होने के कारण इन्हें वेद्य-वेदिता कहा गया है। सत्य के दर्शन से जिनके हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है और जिनके संशय छिन्न हो जाते हैं, ऐसे व्यक्ति विचक्षण आख्याता कहलाते थे, अर्थात् वे आचार्य, जिन्होंने सत्य का स्वयं दर्शन किया हो। वेदिता नामक विद्वानों में जो एक शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करते उन्हें एकविद्य, जो कई शास्त्र जानते, उन्हें भूयोविद्य और जो अपने युग के सब शास्त्रों में पारंगत होते थे, उन्हें सर्वविद्य या महाब्रह्मा कहा जाता था। किन्तु आत्मवित् या ब्रह्मवित् का पद सर्वविद्य से भी ऊपर था। यही उस समय ज्ञान के क्षेत्र की तरलता थी। ग्रन्थ-पाठ की अपेक्षा प्रत्यक्ष दर्शन का अधिक मूल्य समझा जाता था। जो लोक का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, वही सच्चा सर्वज्ञ है :

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः। (४३।३६)

ज्ञात होता है कि महाभारत के सनत्सुजात ऋषि और छान्दोग्य उपनिषद् के सनत्सुजात आचार्य एक ही व्यक्ति थे। जिस प्रकार सनत्सुजात ने यहां सत्य को एकमात्र ब्रह्मदर्शन का हेतु कहा है (सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठन् ब्रह्म पश्यति क्षत्रिय, ४३।३७) उसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार भी नारद को अन्त में सत्य का ही उपदेश करते हैं (सत्यं त्वेव

विजिज्ञासितव्यमिति। सत्यं भगवो विजिज्ञास इति, छां० उप० ७।१५।१)।

महाभारत का यह सनत्सुजातीय प्रकरण प्राचीन अध्यात्म विद्या का नवनीत है। इसमें चार अध्याय हैं। अध्याय ४२ में मृत्यु की समस्या पर विचार किया गया है। जीवन में प्रमाद या स्खलन का ही नाम मृत्यु है। यह सनत्सुजात की पहली स्थापना है। बुद्ध के प्रज्ञावाद में भी प्रमाद की इसी प्रकार निन्दा की गई है। अध्याय ४३ में सनत्सुजात ने इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिया है कि जीवन में शब्दमय राशि वेद का ज्ञान पर्याप्त नहीं है। यहां जीवन को संयम में ढालकर सत्य के अनुसार आचरण ही महत्त्वपूर्ण है। इसे ही अक्षर-ब्रह्म का साक्षात्कार कहते हैं। जिसने यह नहीं किया, उसका वेद पढ़ना व्यर्थ है। अब अध्याय ४४ में सनत्सुजात ने यह बताया है कि उस अक्षर-ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए ब्रह्मचर्य की दीर्घकालीन साधना आवश्यक है। 'काता और ले उड़े' की वृत्ति से ब्रह्मतत्त्व को कोई चटपट नहीं पा सकता (नैतद्ब्रह्म त्वरमाणेन लब्धम्)। अक्षरब्रह्म सम्बन्धी इस चर्चा को उस समय ब्राह्मी वाक् कहते थे (४४।१)। इसी का दूसरा नाम अव्यक्त विद्या था, जो प्राचीन काल के ऋषियों की परम्परा में सुविदित थी। यह सनातनी अव्यक्त विद्या प्रज्ञा और ब्रह्मचर्य से सिद्ध की जाती थी; किन्तु धृतराष्ट्र ने स्पष्ट कहा है कि उनके समय में कोई इस विद्या में रुचि नहीं लेता था। ब्रह्मतत्त्व या अमृतत्त्व की परम्परा उस समय टूट चुकी थी। इसी से इसे अनारब्धा कहा गया है। वेदों के कण्ठाग्र करने वालों की संख्या उस समय बढ़ गई थी। जैसा पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ में लिखा है—लोगों की ऐसी वृत्ति हो गई थी कि इधर वेद पढ़ा और उधर ज्ञान बघारने लगते थे। पूर्व काल में ऐसी बात न थी। सनत्सुजात का कथन है कि जैसे यत्नपूर्वक मूंज के भीतर से सींक निकाली जाती है, वैसे ही भौतिक देह के भीतर निगूढ़ आत्मतत्त्व का साक्षात् दर्शन किया जाता है। भौतिक शरीर तो माता-पिता से मिल जाता है, किन्तु सत्य के संसार में नया जन्म केवल आचार्य की कृपा से ही होता है। अतएव आचार्य के ज्ञानगर्भ में प्रविष्ट होकर ब्रह्मचर्य का आचरण आवश्यक है। जो इस प्रकार ज्ञानसाधना करते हैं वे ही सच्चे पद के अधिकारी हैं और उन्हें जीवनयोग सिद्ध होता है। इसके उपरान्त यह

बताया गया है कि गुरु कौन है और शिष्य को किस प्रकार उसके समीप जीवन बिताना चाहिए। जो तपश्चर्या द्वारा शरीर की चर्बी जला कर उसे झकझोर डालता है (य आशयेत् पाटयेच्चापि राजन् सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः, ४४।१६) वही जीवन में अपनी मूर्खता को जीत पाता है और अमृत की प्राप्ति से मृत्यु को हटा पाता है। जीवन में ब्रह्म को कभी-न-कभी जानना ही होगा, दूसरा मार्ग या गति नहीं (नान्यः पन्था अयनाय विद्यते)।

उस समय लोग ध्यान में नीला, काला, लाल, श्वत रंग देखने का ढोंग रचते थे और उसे ब्रह्मदर्शन कहते थे। धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया कि क्या सचमुच अमृत अक्षर ब्रह्मत्व का कोई ऐसा रंग है। सनत्सुजात ने स्पष्ट कहा कि सफेद, लाल, काले, नीले रंगों की कोई कल्पना ब्रह्म में नहीं है। वह पृथिवी में, अन्तरिक्ष में, समुद्र के जल में, आकाश में, ताप में, मेघ और विद्युत में, चन्द्र और सूर्य में, ऋक्, यजु, साम और अथर्व में, बृहत् और रथन्तर में किसी के रूप में नहीं है और सब उसी के रूप हैं। अणु और महान् रूपों में उसी की सत्ता है। वही विश्व की प्रतिष्ठा और अमृत है। उस ब्रह्म की ही संज्ञा यश या विश्व का सुन्दर पूर्णतम स्वरूप है (४४।१९-२२)।

सनातन ब्रह्म की व्याख्या

औपनिषद ब्रह्म की इस प्रकार व्याख्या करके अगले अध्याय में सनत्सुजात ने उपनिषदों और वेदों के वाक्यांशों को लेकर अत्यन्त उदात्त शैली एवं रोचनात्मक शब्दों में सनातन ब्रह्म का गान किया है। 'योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्' यह इस सुन्दर अध्यात्म गीत की टेक है। वेद उपनिषद्, गीता आदि के सुन्दर वाक्यांश लेकर इस माला को गूंथा गया है। इसकी शैली अध्यात्म भावों की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक है। उदाहरण के लिए: सुनहले पत्तों वाला एक अश्वत्थ है। जबतक पंख नहीं निकलते तबतक पक्षी उस पर बैठते हैं। किन्तु पंख निकलने पर वे मनचाही दिशा में उड़ जाते हैं। सनातन ब्रह्म ही वह हिरण्यपर्ण अश्वत्थ है जिसका दर्शन योगियों को मिलता है, औरों को नहीं।

जैसा ऊपर कहा है, यह सनत्सुजातीय प्रकरण उपनिषद् युग के अध्यात्म-

प्रधान साहित्य से छटककर महाभारत में आ गया है। उस युग में भिन्न-भिन्न मति, दृष्टि या दिट्ठियां थीं। उनके भी इसमें कई संकेत हैं और तत्सम्बन्धी शब्दावली भी पाई जाती है। गीता में 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते' (गीता २।६२-६३) इत्यादि श्लोकों में विषयों के ध्यान से क्रमशः मानव के विनाश या विनष्ट होने की बात कही गई है। उसे ही प्राचीन परिभाषा में अभिध्या कहते थे :

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति चैनं कामक्रोधौ गृह्य चैनं तुपश्चात्।
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥

यद्यपि सनत्सुजात के इस अध्यात्म प्रकरण पर शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध है, किन्तु विभिन्न दिट्ठियों के इतिहास और प्राचीन पारिभाषिक शब्दावली के संकेतों की दृष्टि से महाभारत के इन चार अध्यायों पर पुनः स्वतंत्र अनुसंधान होने की आवश्यकता है।

४७ : : यानसंधि पर्व

(अ० ४७—७१)

ऊपर कहा जा चुका है कि धृतराष्ट्र ने संजय को पाण्डवों के पास इस उद्देश्य से भेजा था कि युद्ध करने के विषय में उनके विचारों और चेष्टाओं की थाह लें (अ० २०-३२)। इसके बाद के प्रजागर पर्व (अ० ३३-४०) और सनत्सुजात पर्व (४१-४६) ये दो लम्बे प्रकरण धृतराष्ट्र के समय बिताने के लिए रक्खे गए हैं। अब फिर कथासूत्र पहले के साथ जुड़ जाता है।

संजय का लौटकर हाल कहना

प्रातःकाल होने पर धृतराष्ट्र की सभा जुड़ी और भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदि सब प्रमुख लोग पाण्डवों का उत्तर जानने के लिए उत्सुकता से एकत्र

हुए। सभा में धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा, "हे संजय, पहले बताओ कि युद्धों में अग्रणी अर्जुन ने क्या कहा?" इसके उत्तर में संजय ने एक सौ तीन त्रिष्टुप् श्लोकों में अर्जुन की ओर से पाण्डवों और कृष्ण के विविध पराक्रमों का वर्णन किया, जिनमें अनेक प्रकार से दुर्योधन को घुड़कते हुए युद्ध के भयंकर परिणाम के विषय में सावधान किया गया है। यह प्रकरण (अ० ४७) अत्यंत तेजस्वी भाषा में भागवतों द्वारा लिपिबद्ध किया गया जान पड़ता है। इसके अनन्तर भीष्म ने दुर्योधन से नर-नारायण की महिमा का बखान किया। उस कीर्तन को ब्रह्मा के मुख में रक्खा गया है। इसके अनुसार नर-नारायण देवों के भी पूर्वज देव हैं। वे एक रथ में स्थित सनातन महात्मा हैं। कृष्ण नारायण का रूप और अर्जुन नर का रूप है। एक ही शक्ति-तत्त्व नारायण और नर के रूप में द्विधा विभक्त हो गया है—

एष नारायणः कृष्णः फल्गुनस्तु नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥ (४८।२०)

नर-नारायण की महिमा के विषय में यह दृष्टिकोण भागवतों की एकान्तिन् शाखा का था, जिसका उल्लेख भागवत में भी आया है।[1]

इस वर्णन में एक बात स्पष्ट कही गई है कि नर और नारायण पूर्व देव थे। वे ही वासुदेव और अर्जुन के रूप में प्रकट हुए। इससे सूचित होता है कि वैदिक परम्परा में नर-नारायण की जो उपासना स्वीकृत हो चुकी थी, उसे ही कालान्तर में भागवतों ने वासुदेव और अर्जुन की पूजा के रूप में स्वीकार किया:

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथे।
नर-नारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः॥ (४७।१८-१०६)

इसी प्रसंग में भीष्म ने कर्ण पर भी छींटा कसा कि वही दुर्योधन को अपने मत में चलाता है और अपनी हेकड़ी बघारता रहता है। कर्ण ने तुरन्त इसका प्रतिवाद किया कि मैं क्षात्र धर्म का पालन करता हूं, यदि मुझमें कोई आचार-दोष हो तो कहिए। भीष्म से इसका कुछ उत्तर न बन पड़ा।

---

१. ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिंचनानां पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात्।
(भागवत ११।६।२७)

धृतराष्ट्र के प्रश्न के उत्तर में संजय ने एक-एक पांडव के पराक्रम का बखान किया। उससे सभा में आतंक छा गया। तब दुर्योधन ने अपने पिता को सम्बोधन करके कहा, "महाराज! डरने की कोई बात नहीं। हमारे लिए भी आप शोक न करें। हम युद्ध में शत्रुओं को जीतने की शक्ति रखते हैं। लोग हमें सलाह देते हैं कि राज्य पांडवों को दे दो, पर मेरा मत है कि पाण्डव अपने वचन पर दृढ़ नहीं रहेंगे, क्योंकि कृष्ण हम सबका जड़ से नाश चाहते हैं। तो क्या हमारे लिए उचित है कि प्रणाम करें और भाग जायं या प्राणों को त्याग कर युद्ध करें। हे पिता! मैं ऐसा कर भी लूं तो भी मुझे आपका शोक है, आपने मेरे लिए दुःख उठाया है और वे पाण्डव बिना आपके कुल का नाश किये न मानेंगे। शत्रु हमारा क्या कर सकते हैं? हममें से एक-एक उन्हें जीतने योग्य है। देखिए, युधिष्ठिर मेरी सेना के भय से पांच गांव मांगने पर उतर आया है। आप भीम को बड़ा बलवीर मानते हैं। बताइए, गदायुद्ध में धरती पर कौन मेरे समान है?" इस प्रकार धृतराष्ट्र को दिलासा देकर दुर्योधन ने संजय से ही पूछा, "कहिए, युधिष्ठिर क्या चाहते हैं?" उत्तर में संजय ने पुनः पांडवों के पराक्रम का वर्णन किया। एक अलग प्रश्न के उत्तर में संजय ने पांडवों के मुख्य सहायक वीरों की सूची भी गिनाई। बार-बार की इस प्रशंसा से क्षुब्ध होकर दुर्योधन ने धृतराष्ट्र की ओर उन्मुख होकर कहा, "हे तात, मैंने यह युद्ध-रूपी यज्ञ आपके, द्रोण के या अश्वत्थामा के भरोसे नहीं फैलाया। मुझे केवल कर्ण का भरोसा है। इसमें हम दोनों दीक्षित हो चुके हैं, अब युधिष्ठिर को पशु बनाकर रथ की वेदी, तलवार का सुवा, बाणों की कुशा और अपने यश की हवि बना कर वैवस्वत यमराज के लिए यजन करेंगे और विजयी होंगे। मेरा निश्चय है कि या तो मैं पांडवों को मारकर इस पृथ्वी का भोग करूंगा और या पांडव ही मुझे मारकर पृथ्वी भोगेंगे। मैं अपना जीवन, धन और राज्य छोड़ सकता हूं, पर पांडवों के साथ मिलकर नहीं रह सकता। मेरा निश्चय है कि सूई की नोक के बराबर भूमि भी पाण्डवों के लिए नहीं छोड़ूंगा।" (५७।१०-१८)। इन शब्दों में दुर्योधन के मन का अटल सांचा प्रकट हो गया है। ऐसे हठी व्यक्ति के लिए कहने-सुनने या समझाने-बुझाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि

से इस खरी बात के लिए दुर्योधन की प्रशंसा करनी पड़ती है। उसकी लट्ठमार भाषा में चरित्र की एकरूपता है। वह लल्लो-चप्पो की बात नहीं कहता। उसके जो मन में है, वही ऊपर है। झुंझलाहट तो धृतराष्ट्र के ऊपर आती है। वह समझता है कि बातों के कुहासे से सचाई को छिपाया जा सकता है।

कौरवों की सभा में किचकिच

धृतराष्ट्र ने उलट-पुलट कर बातों को फिर मोड़ना चाहा। कभी वह दुर्योधन को समझाता और कभी संजय से पूछता कि कृष्ण ने क्या कहा? संजय ने बताया कि एकांत में जहां केवल कृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और सत्यभामा थीं, अंतःपुर के उस भाग में मुझे बुलाकर कृष्ण ने कहा, "हे संजय! मेरी ओर से धृतराष्ट्र से कहना कि जो यज्ञादि पुण्य कर्म करना चाहो, कर लो, ब्राह्मणों को दक्षिणा दे लो और स्त्री-पुत्रों के साथ सुख मना लो, क्योंकि तुम्हारे ऊपर एक भारी विपत्ति आने वाली है। जब कृष्ण ने दूर से मुझे गोविन्द कहकर पुकारा था, वह ऋण में आज भी भूला नहीं हूं। अर्जुन ने मेरे भरोसे युद्ध छेड़ा है। देव, असुर, मनुष्यों में कोई मुझे नहीं दीखता, जो अर्जुन को जीत सके।" इस तरह की बात का दुर्योधन पर क्या प्रभाव होना था। उसने कहा, "देवता मेरे पक्ष में हैं। मैं जब मंत्रों से बुलाता हूं, अग्नि आते हैं। जहां मैं जाता हूं, वायु और जल अनुकूलता दिखाते हैं। मैं पानी का बहाव रोक देता हूं तो सेना पार उतर जाती है। देवों और असुरों के कार्यों का प्रवर्त्तक मैं ही हूं।" (देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता, ६०।१४) कर्ण ने भी सुर-में-सुर मिलाते हुए कहा कि मैंने अपने गुरु को अपनी सेवा और बल से प्रसन्न करके जो अस्त्र प्राप्त किया, उसके द्वारा मैं क्षण भर में पुत्र-पौत्रों के साथ समस्त पाण्डवों को मार डालूंगा। कर्ण की डींग भीष्म से न सही गयी, उन्होंने कुछ खरी बात कही, पर दुर्योधन ने छेका कि यह आपकी क्या आदत है, जो सदा पाण्डवों की ही जय चाहते हैं। बीच में कुछ तत्तोथम्बो करने के लिए विदुर ने एक कहानी सुनाई। एक बहेलिया था। उसने दो पक्षियों को फँसा लिया। वे एक जैसे बली थे।

जाल को लेकर आकाश में उड़ गये। यह देखकर बहेलिया भी उनके पीछे दौड़ा। इस दृश्य को कोई आश्रमवासी मुनि देख रहा था। उसने चिड़ीमार से पूछा कि ये पक्षी तो आकाश में जा रहे हैं और तुम पैदल दौड़ते हो। चिड़ीमार ने कहा, "आप नहीं समझते। अभी तो ये दोनों मिलकर मेरा जाल लिये जा रहे हैं, पर जब ये झगड़ेंगे तो धरती पर आ गिरेंगे।" जिनकी मृत्यु आ पहुंची थी, ऐसे वे दोनों पक्षी लड़ पड़े और जैसा व्याध ने सोचा था, वही हुआ।" कहानी सुनाकर विदुर ने समझाया कि वे सम्बन्धी भी, जो आपस में झगड़ते हैं, उन पक्षियों की तरह शत्रु के वश में हो जाते हैं। उचित तो यह है कि अपने बन्धुओं के साथ मिलकर उठना-बैठना, भोजन और बातचीत करनी चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे लपट की तरह धधकते हैं; पर जो आपस में विरोध करते हैं वे राख की तरह धुंधुआते हैं। विदुर ने अपना एक अनुभव और सुनाया, "एक बार मैं किरातों के साथ गन्ध-मादन पर्वत पर गया था। वहां मैंने क्या देखा कि एक झरने के पास छत्ते से टपका हुआ शहद घड़े में भरे हुए की तरह जम गया था और मक्खियां भी उसके पास नहीं थीं। जो मेरे साथी मन्त्रसाधक ब्राह्मण थे, उन्होंने बताया कि यह अमृत है। इसे चखकर मनुष्य अमर बन जाता है। अन्धे को दृष्टि मिल जाती है और बुड्ढा जवान हो जाता है। यह सुनकर किरात उसे लेने के लिए झपटे। उन्होंने शहद तो देखा, पर सामने का खड्ड उन्हें नहीं दिखाई दिया। ऐसे ही हे धृतराष्ट्र! तुम्हारे पुत्र की गति है (मधु पश्यति संमोहात्प्रपातं नानुपश्यति, ६२।२७)। मेरी तो राय है कि तुम दुर्योधन को बुलाकर अपनी गोद में बैठा लो। उसे तुमने वश में कर लिया तो युद्ध कदापि न होगा, क्योंकि दो हाथों से ताली बजती है, एक से नहीं।" धृतराष्ट्र को मानो एक सहारा और मिला। उसने फिर कुछ घिसे-पिटे वाक्यों से दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न किया।

कृष्ण का माहात्म्य

इस किचकिच से ऊबकर सब सदस्य सभा से उठ गये। केवल धृतराष्ट्र जमे रहे और उनके कारण संजय को भी वहीं बैठना पड़ा। अकेले में

धृतराष्ट्र ने कुछ भेद की बात जाननी चाही, "हे संजय, तुम पाण्डवों के सैनिक बल को भी अच्छी तरह देख आये हो और हमारे पक्ष की भी जानते हो, इसलिए साफ कहो कि दोनों का क्या बलाबल है।" संजय धृतराष्ट्र के अस्थिर स्वभाव को जानते थे। उन्होंने कहा कि अकेले में मैं कुछ न कहूंगा, क्योंकि सुनकर तुम चिढ़ जाओगे, इसलिए व्यासजी को और गन्धारी को बुला लो, जिससे तुम्हारा सन्तुलन ठीक रहे। ऐसा ही किया गया, तब संजय ने चार अध्यायों (अ० ६६-६९) में कृष्ण के माहात्म्य का वर्णन किया। स्पष्ट है कि जब सभा के लोग उठ गए थे तभी यह प्रकरण समाप्त हो जाना चाहिए था। उसके बाद के ये अध्याय थेकली की तरह हैं, जिसे भागवतों ने जोड़ा; कुछ काश्मीरी प्रतियों में ये अध्याय हैं भी नहीं। गुप्त युग में वासुदेव, कृष्ण की जो अतिशय महिमा लोक में प्रख्यात हुई, उसी का सार यहां मिलता है। जैसे : 'धनुर्धारी अर्जुन और वासुदेव परम पूज्य हैं। भगवान कृष्ण का चक्र द्युलोक तक अपनी शक्ति से घूम रहा है। कृष्ण चाहें तो संसार को भस्म कर सकते हैं। जहां सत्य है, जहां धर्म है, वहां कृष्ण हैं। और जहां कृष्ण हैं, वहां जय है।[1] पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में पुरुषोत्तम विष्णु क्रीड़ा करते हुए सब कर्म करते हैं। कालचक्र, संसारचक्र और युगचक्र को भगवान केशव रात-दिन अपनी शक्ति से घुमा रहे हैं। चर और अचर, काल और मृत्यु सबके स्वामी वे ही हैं। महायोगीश्वर हरि सबके अध्यक्ष होकर भी एक सामान्य किसान की तरह काम करते हैं।[2] यह सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा, "हे संजय ! तुम कृष्ण का माहात्म्य कैसे जानते हो ? मैं उसे क्यों नहीं जानता ?" संजय ने खरा उत्तर दिया, "हे राजन् ! तुम्हारी विद्या सच्ची विद्या नहीं। मेरी विद्या बुझती नहीं। तुम

---

१. यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥(६६।९)

२. विष्णु के लिए हरि शब्द का प्रयोग कुषाण युग से आरंभ हुआ। उससे पूर्व महाभाष्य, अर्थशास्त्र आदि बड़े-बड़े ग्रंथों में यह शब्द केवल इन्द्र, अश्व आदि अर्थों में है। अतएव विष्णुवाची हरि शब्द का यह प्रयोग (६६।१४) इस प्रसंग के बाद में जोड़े जाने का सूचक है।

विद्याहीन और तमोग्रस्त होने के कारण केशव को नहीं जानते।" धृतराष्ट्र ने फिर पूछा, "संजय ! ऐसी क्या बात है कि तुम्हारा ज्ञान कम नहीं होता? और तुम अपनी स्थायी भक्ति से मधुसूदन को जानते हो?" संजय ने कहा, "मैं कपट का सेवन नहीं करता। विपरीत धर्म का आचरण नहीं करता। शुद्ध भाव से भक्ति करता हूं और शास्त्र में जैसा कहा है, वैसा कृष्ण को जानता हूं" (६७-५)। संजय के ये चार वाक्य मानो गुप्तकालीन किसी भागवत की आस्था का निचोड़ हैं। इसी बातचीत में भाग लेते हुए व्यासजी ने धृतराष्ट्र की कृष्ण-भक्ति की सराहना करते हुए बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में गुप्तकालीन एकायन मार्ग अर्थात् एकान्तिन् भागवतों का उल्लेख किया है।"[1] इससे सूचित है कि गुप्त युग में धृतराष्ट्र को भी महाभागवतों की सूची में सम्मिलित कर लिया गया था और स्वयं व्यासजी के द्वारा इस पर छाप लगवाई गई। एक शब्द और ध्यान देने योग्य है, वह है 'आगम' (६७-२१)। गुप्त युग में पंचरात्र और माहेश्वर आदि इन शास्त्रों को आगम कहने की परिपाटी चल गई थी। कालिदास ने अनेक धर्म मार्गों के भिन्न शास्त्रों को आगम कहा है।

भागवत में भी भागवत शास्त्र को आगम कहा गया है (११।३।४८।) अध्याय ६८ में विष्णु के भिन्न नामों का निर्वचन संजय ने धृतराष्ट्र से कहा है। यह भी भागवतों के साहित्य की एक नई शैली थी। महाभारत शान्तिपर्व (अ० ३२८, ३३७) में इसे गुणकर्मज, अर्थात् गुण और कर्मों के आधार पर नामों के निर्वचन की शैली कहा है। मत्स्य पुराण (अ०२४८) में भी कृष्ण, नारायण, गोविन्द आदि सोलह नामों की ऐसी ही व्युत्पत्तियां कही गई हैं। वायुपुराण अध्याय ४ एवं ५ तथा लिंग पुराण अध्याय ७० में भी हम इस शैली को पाते हैं, यद्यपि इन सूचियों में आये हुए नाम भिन्न हैं। इस शैली का उत्कृष्ट रूप विष्णुसहस्रनाम के शांकर भाष्य में प्राप्त होता है। यद्यपि वह उत्तर गुप्तकाल के बाद का है।

---

१. एष एकायनः पंथा येन यान्ति मनीषिणः।
तं दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महास्तत्र न सज्जते॥ (६७।१५)

४८ : : भगवद्यान पर्व

(अ० ७२—१५०)

जैसे कौरवों की ओर से प्रमुख व्यक्ति के रूप में संजय पाण्डवों के यहां आए थे, वैसे ही अब दूसरे पक्ष से किसी विशिष्ट प्रतिनिधि के भेजे जाने की बारी थी। वस्तुतः संजय के भेजने में धृतराष्ट्र के मन में कोई निश्चित लक्ष्य न था। उसने गोलमोल बात कही थी कि हे संजय ! जाकर कुशल-प्रश्न पूछना और ऐसा प्रयत्न करना कि युद्ध न हो। संजय उपप्लव में पाण्डवों से मिले। लम्बी-चौड़ी बातचीत की और उनके लौटने पर कौरवों की सभा में जो भांति-भांति के मोड़-मुड़क से भरा हुआ लम्बा संवाद हुआ, उसे हम केवल दोनों पक्षों के नेताओं के मनोभाव का वैज्ञानिक विश्लेषण कह सकते हैं। ज्ञात होता है कि फोड़ा दोनों तरफ काफी पक चुका था। युद्ध की टक्कर निकट आ रही थी, पर उससे पहले कृष्ण जैसे बुद्धिमान व्यक्ति ने युद्ध टालने का एक सच्चा प्रयत्न और किया। कृष्ण जानते थे कि युद्ध होकर रहेगा। पर नीति की बात से भी मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। अतएव वे शान्ति का संदेश लेकर कौरवों की राजसभा में आये। अध्याय ७२ से १५० तक का लंबा प्रकरण भगवद्यानपर्व कहलाता है, जिसका सम्बन्ध धृतराष्ट्र की सभा में कृष्ण के उपस्थित होने, अपना संदेश कहने, फिर पाण्डवों के पास लौट कर वहां की परिस्थिति रखकर विचार-विमर्श करने से है। इसी के पेटे में कई छोटे चरित्र भी आ गए हैं। पहला गालव चरित है (अ० १०४ से १२१)। दूसरा कर्ण के साथ कृष्ण और कुन्ती का गुप्त संवाद है (अ० १३८ से १४४)। इसी से पूर्व जब कृष्ण लौट रहे थे तो कुन्ती ने पांडवों के लिए अपना संदेश देते हुए विदुला और उसके पुत्र के संवाद रूप में एक महत्त्वपूर्ण आख्यान सुनाया था (अ० १३१-१३४)। इस प्रकार पहले की अपेक्षा इस पर्व का यह अंश घटनाओं के अधिक उदात्त धरातल से हमारा परिचय कराता है।

युधिष्ठिर और कृष्ण का संवाद

कथा का आरम्भ युधिष्ठिर और कृष्ण के संवाद से होता है। युधिष्ठिर ने कहा, "हे कृष्ण ! आपने संजय की बात सुनी। संजय ने जो कहा वह धृतराष्ट्र का ही मत था। वह चाहते हैं कि बिना राज्य दिये ही शांति हो जाय। उनके मन में पाप और भेदभाव है। बूढ़े राजा धृतराष्ट्र स्वधर्म नहीं देखते या देखते हुए भी अपने पुत्र का ही पक्ष करते हैं। मैंने तो केवल पांच गांव मांगे थे—कुशस्थल, वृकस्थल, आसन्दी, वारणावत और कोई एक; किन्तु दुर्योधन ने वह भी नहीं माना। जीवन में दरिद्रता मृत्यु के तुल्य है। शम्बर के मत में इससे अधिक पापिष्ठ अवस्था दूसरी नहीं कि जब आज और कल के भोजन के भी लाले पड़ जायं। धन ही परम धर्म है, धन ही सबकी नींव है, धनी ही लोक में जीते हैं, निर्धन मरे हुए हैं। जो किसी का धन हड़प लेते हैं, वे उसके धर्म और काम को भी मटियामेट कर देते हैं। इस दीन अवस्था को पहुंचकर तो कुछ लोगों ने प्राणों से ही हाथ धो लिये, कुछ बन में चले गये, कुछ का मस्तिष्क ही फिर गया और कुछ ने दासता ओढ़ ली। सम्पत्ति ही धर्म और काम का मूल है। जो श्रीमान् है, वही पुरुष है। आपने स्वयं देखा है कि मैं राज्यहीन होकर किस दशा में रह रहा हूं। किसी भी दृष्टि से हमारा राज्यहीन होकर रहना अच्छा नहीं। उसके लिए प्रयत्न करते हुए मृत्यु हो जाय तो अच्छा है। हमारे जीवन का प्रथम कल्प यही है। मैं जानता हूं कि ज्ञातियों का वध पाप है, किन्तु हमारे लिए तो यही सुधर्म है। ब्राह्मण भिक्षा-कपाल ले सकते हैं, क्षत्रिय नहीं (अ० ७०।८-४७)।" यहां ग्रन्थकार ने युधिष्ठिर के मुख से राजनीति का वह सिद्धान्त कहलाया है, जो युद्ध को राज्य के लिए आवश्यक समझता था। युद्ध की इस नीति को 'आरम्भ' कहते थे। पहले सभापर्व में आरम्भवाद या युद्ध के दृष्टिकोण का उल्लेख हो चुका है। वहां कहा है कि बिना युद्ध के राजा मिट्टी की बांबी की तरह ढक जाता है (अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति, १४।७)।

वायपुराण में युद्ध को क्षत्रिय का यज्ञ कहा है (आरम्भयज्ञः क्षत्रस्य, ५७।५०)। क्षत्रिय क्षत्रिय को मारता है, मछली मछली को खाती है, कुत्ता

कुत्ते से लड़ता है, यही तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी से आया हुआ धर्म है (७०।४७)। पूर्व पक्ष के रूप में युद्धनीति की बात कहकर युधिष्ठिर ने फिर युद्ध के भयंकर परिणाम कहे, "युद्ध में कलियुग का वासा है। युद्ध में सदा प्राणों को खटका बना रहता है। जीना और मरना अपने हाथ में नहीं। कभी कायर शूर को भी मार लेता है। निर्बल और सबल दोनों पक्षों की हार-जीत सम्भव है। कदाचित् अपना ही मरण हो जाय, तो फिर जय-पराजय एक-सी है। जो हारता है, वह तो मर ही गया, पर जो जीतता है, उसकी भी हानि होती है। जिसके हृदय में कुछ करुणा है, वह जीतकर भी पश्चा-ताप करता है। हे कृष्ण! वैर से वैर शान्त नहीं होता, बल्कि इस तरह बढ़ता है, जैसे आहुति से आग बढ़ती है (७०।६३)। युद्ध ऐसा ही है, जैसे दो कुत्तों का लड़कर एक-दूसरे को फाड़ना। उनमें और युद्ध करने वाले मनुष्यों में कुछ भी भेद नहीं। हे कृष्ण! धृतराष्ट्र हमारे पूज्य हैं। हमें चाहिए कि उन्हें प्रणाम करें, पर पुत्र के वशीभूत हो, वे हमारे प्रणाम को भी ठुकरा देंगे। हे कृष्ण! अब हम क्या करें, जिससे अर्थ और धर्म दोनों की हानि न हो? आप ही हमारी गति हैं, आपके अतिरिक्त हमारा सुहृत् और कौन है?" युधिष्ठिर के इस प्रकार के कातर वचन सुनकर कृष्ण भी द्रवित हुए होंगे। उन्होंने और कुछ नहीं कहा, किन्तु अपने मन की सारी शक्ति को एक निश्चय के रूप में ढालकर वह बोले, हे युधिष्ठिर! मैं कौरवों की सभा में जाऊंगा कि शान्ति करा सकूं, जिससे तुम्हारे स्वार्थ की हानि न हो (७०।७६-७०)।" कृष्ण से ऐसे प्रस्ताव के लिए युधिष्ठिर सम्भवतः तैयार न थे। उन्होंने कहा, "हे कृष्ण! मेरा यह मत नहीं कि आप कौरवों के यहां जायं। इस समय सब राजा दुर्योधन के वश में हैं। उनके बीच में आपका जाना ठीक नहीं। चाहे सब देवों का ऐश्वर्य भी हमसे छिन जाय पर मैं आपका निग्रह नहीं सह सकता।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "दुर्योधन की पापबुद्धि को मैं समझता हूँ, पर मेरे जाने से फिर हमारे ऊपर उंगली उठाने का किसी को अवसर न रहेगा। और फिर सारे राजा भी मिलकर मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। हे पार्थ! मेरा जाना निरर्थक न होगा।" कृष्ण के निश्चय को समझकर युधिष्ठिर ने तुरन्त कहा, "हे कृष्ण! आपको जो रुचे, वह करें। मैं तो आपको सकुशल लौटा हुआ देखना चाहूंगा।

आप हमें जानते हैं, उन्हें भी जानते हैं, जो कार्य है, उसे भी समझते हैं, और भाषण में भी समर्थ हैं। अतएव जिससे हमारा हित हो, वह कहियेगा, चाहे शांति हो, चाहे युद्ध हो।" उत्तर में कृष्ण ने सारी परिस्थिति को आंकते हुए युधिष्ठिर के सामने सब पक्षों को रखा और कहा, "मैं शान्ति के लिए यत्न करूंगा और उनकी चेष्टाओं को भी देखूंगा कि कहीं युद्ध की ओर उनका झुकाव तो नहीं है ?"

भीम की व्यंग्य वाणी

इस अवसर पर भीम ने भी कृष्ण से सन्देश कहा, पर अपने जन्मजात स्वभाव के एकदम विरुद्ध, "हे कृष्ण ! जिस प्रकार से शान्ति हो, वही कहना। दुर्योधन बड़ा क्रोधी है, उससे प्रचण्ड वाक्य मत कहना। शान्ति ही बरतना। वह मर जाय तो भी अपना मत न छोड़ेगा। ऐसे के साथ शान्ति कठिन होती है। दुर्योधन के साथ अट्ठारह राजा बड़े दुष्ट स्वभाव के हैं। दुर्योधन भी कुलांगार ही है। इसलिए हे कृष्ण ! उससे नम्र बात ही धीरे से कहना, उग्रता से नहीं। भले ही हम नीचे होकर रहें, किन्तु भरतों का नाश न हो। वहां पितामह भीष्म से तथा और भी जो बूढ़े सभासद हैं, उनसे कहना कि भाइयों में मेल हो जाय और दुर्योधन शांति ग्रहण करे।" भीम का यह सारा कथन आदि से अंत तक चोखा व्यंग्य था, जैसा कि उसने स्वयं अंत में प्रकट कर दिया, "कृष्ण ! मैं ऐसा इसलिए कहता हूं, क्योंकि राजा युधिष्ठिर दुर्योधन की प्रशंसा करते रहते हैं और अर्जुन भी युद्ध नहीं चाहते, वे बड़े दयालु हैं।"[1] भीम का यह कटाक्ष बहुत ही चोखा रहा कि हे कृष्ण ! कहीं तीक्ष्ण बात कहकर तुम युद्ध न्यौत आये तो यहां लड़ेगा कौन ? भीम के मृदुता-भरे वचन सुनकर कृष्ण मुस्कराये और उसको ठंडा होने से बचाने के लिए उकसाते हुए बोले, "हे भीम ! तुम तो सदा युद्ध की बड़ाई करते रहे। तुम क्रूर कौरवों को पीस डालना

---

१. अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने ॥ (७२।२३)

चाहते थे। तुम्हें कभी ठीक से नींद भी नहीं आती थी, तुम्हारे भीतर बदले की आग सदा धधकती रही। रात और दिन तुम्हें चैन न था। आज शान्ति के लिए तुम्हारी बुद्धि कैसे हुई ? क्या डर गए हो या तुम्हारा हृदय कांपता है ? मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे जैसा पर्वत भी क्यों हिल गया। क्षत्रिय उसका भोग नहीं करता, जिसे वह अपने पराक्रम से प्राप्त न करे।" उत्तर में भीमसेन ने अपने पराक्रम के अनुरूप कुछ वचन कहे, "हे कृष्ण ! अपनी प्रशंसा आर्य कर्म नहीं। फिर भी तुम देखना कि यदि सदा अडिग रहने वाले पृथ्वी और आकाश भी चलायमान हो जायं, तो मैं उनको भी अपने भुजदण्डों से रोक दूंगा। मुझे तनिक भी भय नहीं। जितना कहता हूं, उससे अधिक युद्ध में मुझे पाओगे, किन्तु एक सौहृद भाव से मैंने भी वह बात कही थी, जिससे कि भरतवंशियों का नाश न हो (७४।१८)।" इस कथन से ज्ञात होता है कि भीम जैसे युद्धप्रिय वीर के मन में कहीं मानवोचित कृपा-भाव का अंकुर छिपा हुआ था। कृष्ण ने भी बात को नया मोड़ देते हुए कहा, "हे भीम ! क्या मैं तुम्हारा भाव जानता नहीं ? मैंने तो प्रेमवश वैसा कहा। तुम्हारा परिभव मुझ इष्ट नहीं था। जितना तुम अपना सम्मान करते हो, उससे सहस्र गुणा मेरे मन में तुम्हारा सम्मान है।" भीम जिस स्वभाव के थे, उसमें भाग्यवादी दर्शन को स्थान न था। सोच-विचार कर न्यायानुकूल कर्म करना ही मनुष्य के लिए सबकुछ है। इस प्रकार का ठोस कर्मवाद भीम का लक्षण था।

अर्जुन का सन्देश

इस अवसर पर अर्जुन ने भी कुछ मिली-जुली बात कही। उसका आशय था कि शान्ति की बात करना और यदि दुर्योधन न माने तो युद्ध ही सही। उत्तर में कृष्ण ने इस प्रसंग को स्फुट करते हुए कहा, "खेत को तैयार करना किसान का काम है, किन्तु वृष्टि दैव के अधीन है। कितना भी पुरुषार्थ किया जाय, वृष्टि के बिना दैव कृषि को सुखा डालता है। दैव और मानुष के मिलने से ही सफलता होती है। मैं वह करूंगा, जो पुरुषार्थ से सम्भव है, पर दैव को बांधकर कर्म कराना मेरे वश में नहीं। मैं कर्म

और वाणी से भरसक प्रयत्न करूंगा, पर दुर्योधन का जैसा स्वभाव है उससे मुझे शान्ति की आशा नहीं।" नकुल और सहदेव ने भी अपने विचार प्रकट किये।

द्रौपदी का सन्देश

फिर द्रौपदी के मन में विचारों का जो बांध रुका हुआ था वह इस अवसर पर फूट पड़ा। उसने कहा, युधिष्ठिर सन्धि चाहते हैं, वह ठीक है, पर यदि दुर्योधन राज्य देने के लिए तैयार न हो तो "हे कृष्ण! सन्धि कभी मत करना। जो साम और दाम नहीं समझते, उन पर कृपा कैसी? उन पर तो महादण्ड ही चलाना चाहिए। हे कृष्ण! पुनरुक्ति होते हुए भी मैं फिर कहूंगी, मेरे समान पृथिवी में और दुखिनी कौन है? द्रुपद की पुत्री, महात्मा पांडु की पुत्रवधू और पांडवों की पटरानी होकर भी मैं केश खींचकर सभा में लाई गई। पांडुपुत्र बैठे देखते रहे और तुम भी कृष्ण जीवित थे, तब यह अनर्थ हुआ! मैं सभा के बीच उन पापियों की दासी बनाई गई। जिस समय पांडव निश्चेष्ट होकर देखते रहे, उस समय हे गोविन्द! मैंने अपने मन की शक्ति से तुम्हें पुकारा था। उस समय मेरे ससुर राजा धृतराष्ट्र ने कृपा कर मुझे वरदान देते हुए पांडवों को अदास किया और उससे छूटकर हम सबको वन में जाना पड़ा। हे कृष्ण! हमारे ये दुःख क्या तुमसे छिपे हैं? भीमसेन के बल को धिक्कार है, अर्जुन के धनुष को धिक्कार है, यदि क्षण भर दुर्योधन जीवित रहता है। यदि मेरे ऊपर तुम्हारी कुछ भी कृपा हो तो, हे कृष्ण! अपना सारा क्रोध कौरवों पर उंडेल देना।" इतना कहकर द्रौपदी ने अपने लम्बे केशों को बाएं हाथ में लेकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा, "हे कृष्ण! जब शत्रु सन्धि की बात कहें तो मेरे इन केशों को मत भूल जाना। आज महाबाहु भीम को धर्म दिखाई पड़ता है। उनकी बात सुनकर मेरा हृदय फटा जाता है।" इतना कहकर आंसुओं से रुंधे कण्ठ से द्रौपदी ढाड़ मार कर रोने लगी। कृष्ण ने उसे सांत्वना देते हुए कहा, "हे द्रौपदी! धैर्य रखो। शीघ्र ही तुम भी भरतवंश की स्त्रियों को रोते देखोगी। जिनके भाई-बंधु, पति और हितू मारे जायंगे, ऐसी वे स्त्रियां,

जिन पर तुम्हारा क्रोध है, विलाप करेंगी। यदि काल से पके हुए कौरव मेरी बात नहीं मानेंगे तो रणभूमि में गिरे हुए उन्हें सियार और कुत्ते नोचेंगे। हे द्रौपदी ! हिमालय चाहे विचलित हो जाय, धरती चाहे फट जाय, आकाश चाहे गिर पड़े, पर मेरी बात झूठ न होगी। हे कृष्णे ! अपने आंसुओं को रोको। मेरी सत्य प्रतिज्ञा है कि तुम्हारे पति अपने शत्रुओं को मारकर शीघ्र राज्य प्राप्त करेंगे (८०।२०-४६)।"

कृष्ण का दूत रूप में हस्तिनापुर आना

अगले दिन सूर्योदय होने पर पौर्वाह्णिक कृत्यों से निवृत्त होकर और मंगलाचरण करके कृष्ण रथ पर बैठकर कौरवों के यहां चले। कृष्ण ने वह रात वृकस्थल में बिताई। अगले दिन प्रातः हस्तिनापुर की ओर चले। तब भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि गुरुजन और बहुत से कौरव और पुरवासी उनके स्वागत के लिए आगे बढ़कर मिले और उन्हें साथ लेकर नगर में आये। कृष्ण सीधे धृतराष्ट्र के भवन में गये और उसकी तीन कक्ष्याओं को पार करके राजा धृतराष्ट्र से जाकर मिले। कृष्ण ने गुरुजनों का यथोचित आदर किया और धृतराष्ट्र की आज्ञा से वे एक ऊंचे स्वर्णासन पर बैठे। पुरोहित ने अर्घ्य-मधुपर्क से उनका आतिथ्य किया। वहां कुछ देर हँसी-विनोद करके कृष्ण विदुर के घर पधारे। तीसरे पहर विदुर को साथ ले अपनी बुआ कुन्ती से मिलने गये। कुन्ती कृष्ण के गले लगकर अपने पुत्रों को याद करते हुए विलाप करने लगी। बहुत तरह से उसने अपना दुःख सुनाया। कुन्ती ने चौदह वर्षों से अपने पुत्रों को देखा न था, अतएव उसके मातृ-हृदय का शोक स्वाभाविक था। उसने कहा, "हे कृष्ण ! अर्जुन से और भीम से कहना कि जिस लिए क्षत्राणी पुत्र जनती है, उसका अब समय आ गया है (यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ८८।७४)।" कृष्ण ने उसे धीरज देते हुए समझाया।

कुन्ती से विदा लेकर कृष्ण दुर्योधन के घर गए। उस भवन में भी तीन कक्ष्याएं थीं। महल के पहले चौक में बहुत लम्बा-चौड़ा खुला हुआ आंगन होता था, जिसमें राजा के निजी अश्व और हाथियों के लिए मंडप

होते थे। दूसरे चौक या कक्ष्या में सभाभवन या आस्थान मंडप रहता था, जिसे मध्यकाल में दरबार-ए-आम कहने लगे। तीसरी कक्ष्या में राजा का अन्तःपुर होता था। प्रायः प्राचीन वास्तुविद्या के अनुसार राजा और रानियों के निवास-गृह ऊपर की मंजिल में होते थे। प्रस्तुत वर्णन से ज्ञात होता है कि दुर्योधन ने कृष्ण से मिलने का प्रबंध सभाभवन में ही किया था। उस सभा में अनेक कौरव और राजा उपस्थित थे। इस अवसर पर सामान्य शिष्टाचार के विरुद्ध दुर्योधन ने कृष्ण का न तो अभिनन्दन किया और न भोजन का निमंत्रण दिया। उसने कर्ण के साथ कानाफूंसी करके कृष्ण से कहा, "आपके लिए जो अन्न, पान, वस्त्र आदि लाये गए थे, आपने उन्हें क्यों स्वीकार नहीं किया? आपके लिए दोनों पक्ष समान होने चाहिए। आप तो धर्मज्ञ हैं, फिर क्या कारण है कि आपने हमारा सत्कार नहीं माना?" कृष्ण ने शिष्टाचार से शून्य इस कथन का उत्तर देते हुए कहा, "दूत लोग कार्य सिद्धि होने पर ही पूजा स्वीकार करते और भोजन करते हैं। कार्य सिद्ध होने पर आप अपने मन्त्रियों के साथ मेरा पूजन करें।" इस पर दुर्योधन ने उजड्डता की मात्रा बढ़ाते हुए कहा, "हमारे प्रति आपका ऐसा व्यवहार अनुचित है। काम हुआ हो या न हुआ हो, हमने जब आपकी पूजा की तो आपने क्यों हमें अवसर नहीं दिया? आपके साथ हमारा वैर या विग्रह नहीं। ऐसी स्थिति में आपने जो कहा, वह उचित नहीं।" स्थिति संभालने के लिए कृष्ण कुछ मुस्कराए और कहने लगे, "काम से, क्रोध, से, द्वेष से या लोभ से मैं कभी धर्म नहीं छोड़ता। दूसरे का भोजन प्रेम के वश किया जाता है या आपत्ति में पड़कर। तुम्हारे भीतर प्रीति नहीं और हमारे ऊपर आपत्ति नहीं। मैं धर्मचारी पांडवों के साथ हूं और तुम उनसे अकारण वैर करते हो। इसलिए तुम्हारा अन्न मेरे लिए अभोज्य है। मैं विदुर के यहां ही भोजन करूंगा।" यह सुनकर दुर्योधन की त्योरी चढ़ गई। कृष्ण भी तत्काल वहां से बाहर चले आये और विदुर के स्थान पर गये।

रात में खा-पी चुकने के बाद विदुर ने अपने मन की बात कही, "हे कृष्ण! आना ठीक नहीं हुआ। दुर्योधन मूढ़, मानी और क्रोधी है। उस दुरात्मा को साधु मार्ग पर चलाना कठिन है। कर्ण, अश्वत्थामा और

जयद्रथ पर भरोसा करके उसे शान्ति अच्छी नहीं लगती। जिन्होंने यह ठान लिया है कि पांडवों को उनका उचित भाग नहीं देंगे, उनसे कुछ कहना व्यर्थ है। बुद्धिमान को चाहिए कि सूक्त और दुरुक्त को एक जैसा समझने वाले के सामने अपना वचन व्यर्थ न करें, जैसे बहरे के सामने गाना। निर्मर्याद कौरवों के सामने कुछ कहते आप अच्छे नहीं लगते। अकड़कर बैठे हुए उनके बीच में आपका जाना भी मुझे अच्छा नहीं लगता। पहले ही से आप पर उसका संदेह है। वह आपकी बात न मानेगा। वह तो अपने लिए पृथ्वी का असपत्न राज्य चाहता है। आपके प्रभाव, बल और बुद्धि को मैं जानता हूं, फिर भी पांडवों के लिए जो मेरा प्रेम है, उससे भी अधिक आपके लिए है। अतएव उसी प्रेम और सम्मान के कारण मैंने यह कहा है।" कृष्ण ने विदुर की बात को बड़े मीठे ढंग से लिया, "हे विदुर! तुमने तो पिता और माता के जैसे हितू वचन कहे हैं। मैं दुरात्मा दुर्योधन के वैरभाव को भली-भांति जानता हूं, पर मेरा भाव यह है कि अश्वरथ, कुंजरों से भरी हुई इस पृथ्वी को जो यमराज के फन्दे से छुड़ा सकेगा, उसे धर्म होगा। धर्म के लिए यत्नशील पुरुष सफल न भी हो तो भी उसके लिए पुण्य है। इसलिए मैं शान्ति का उपाय करूंगा। यदि मित्र का झोंटा खींचकर भी उसे अकार्य से रोका जा सके तो सज्जन उसे भला कहते हैं। मैं निष्कपट होकर कौरव-पांडवों के हित का यत्न करूंगा। उसके बाद तो भाग्य का वश है।" यह कहकर कृष्ण ने वह रात विदुर के यहां बिताई।

४९ : : धृतराष्ट्र की सभा में कृष्ण

दूसरे दिन शकुनि के साथ दुर्योधन ने विदुर के घर आकर कृष्ण से कहा, "राजा धृतराष्ट्र सभा में बैठे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" यह सुन कर कृष्ण रथ पर बैठ कर सभा में आये। वहां सहस्रों राजा उनके स्वागत में उठ खड़े हुए और धृतराष्ट्र द्वारा निर्दिष्ट स्वर्ण-खचित सर्वतोभद्र आसन

पर उनको बैठाया गया। जैसे सोने में जड़ी हुई मणि शोभित होती है वैसे ही कृष्ण सभा में प्रकाशित हुए। यथास्थित होने पर कृष्ण ने अपना भाषण आरम्भ किया :

"कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः॥ (९३।३)

हे भारत! कौरवों और पाण्डवों में बिना योद्धाओं के नष्ट हुए शान्ति हो जाय, इसके लिए यत्न करने मैं आया हूं। हे राजन्! आपके हित के लिए और मुझे कुछ कहना नहीं है, क्योंकि आप सब जानते हैं। आपका कुल आज सब राजकुलों में उत्तम है और उनमें अनेक गुण भी हैं। कृपा, करुणा, ऋजुता, क्षमा और सत्य कुरु वंश की विशेषता है। ऐसे महान् राजकुल में आपके होते हुए किसी अनुचित बात का होना ठीक नहीं। भीतर और बाहर कहीं भी कुरुओं द्वारा मिथ्याचार हो तो आप ही रोकने वाले हैं। दुर्योधनादि आपके पुत्र अर्थ और धर्म को पीछे फेंककर निष्ठुर आचरण पर उतारू हैं। लोभ ने उनके चित्त को ग्रस लिया है और उन्होंने अपने बन्धुओं के प्रति शिष्ट मर्यादा भी छोड़ दी है। यह भारी विपत्ति कौरवों पर आई है, यदि इसकी उपेक्षा की गई, तो सब पृथ्वी नष्ट हो जायगी। आप चाहेंगे तो विपत्ति टल सकेगी। मेरे मत से अभी शम कठिन नहीं हुआ। दोनों पक्षों में शान्ति आपके और मेरे अधीन है, आप कौरवों को रोक लें, मैं पाण्डवों को समझा दूंगा। पुत्रों को आपकी आज्ञा माननी चाहिए। आपके शासन में रहने में ही उनका हित है। पाण्डव मेरा शासन मानते हैं और मैं उनकी ओर से शान्ति के लिए यत्न करने आया हूं। स्वयं कसौटी पर कसकर आप जो उचित हो, करें। यदि भरतवंशी मिलकर रहेंगे तो आप ही उनके अधिपति होंगे। आप धर्म और अर्थ की मर्यादा बनाये रखें तो पाण्डव आपके रक्षक हैं। उनके जैसे व्यक्ति कठिनाई से होते हैं। महात्मा पाण्डव आपके रक्षक हों तो देवराज भी आपको जीतने का साहस नहीं कर सकता और राजाओं की तो बात ही क्या है? जिस दल में भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, जयद्रथ, युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन जैसे बली हों, उनसे कौन युद्ध करेगा! उनके साथ होने से जो राजा आपके समान हैं या आपसे भी उत्कृष्ट हैं वे सन्धि कर लेना चाहेंगे। पुत्र-

पौत्र, भ्राता, पिता और सुहृत् इन सबसे रक्षित होकर आप सुखपूर्वक जी सकेंगे। पूर्व के समान पाण्डवों का सत्कार करके आप सारी पृथ्वी का भोग करेंगे। अपने पुत्र और पाण्डु पुत्रों के साथ अन्य शत्रुओं को जीतना ही आपका सम्पूर्ण स्वार्थ है। हे महाराज ! यदि युद्ध हुआ तो भारी क्षय हो जायगा। दोनों ओर के नाश में क्या अच्छाई आप देखते हैं? रण में पाण्डव मारे गये या आपके पुत्र, इन दोनों से कौन-सा सुख आपको मिलेगा ? आपके पुत्र और पाण्डव दोनों ही शूर और शस्त्र-कुशल हैं। उन्हें इस बड़े भय से बचाइए। कुरु पाण्डवों को समर में नष्ट होते हुए हमें न देखना पड़े। हे राजन् ! इस लोक को बचाइये, जिससे प्रजाओं का नाश न हो। आप प्रकृतिस्थ रहेंगे तो और सब कुछ बचा रहेगा, अन्यथा नहीं। आपका जो सौहार्द पाण्डवों के प्रति कभी था अब वृद्धावस्था में भी वैसा ही हो। पांडवों ने आपको प्रणाम करके कहा है कि आपके होते हुए भी उन्हें दुःख सहना पड़ा ! उनके ये बारह वर्ष वन में बीते। तेहरवें में अज्ञातवास रहा। हमारे पिता अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे, आज भी हमारा यह विश्वास है। सब कष्ट सहकर भी हम अपने राज्य का अंश पा लें, यही हम चाहते हैं। आपको अपना गुरु मानते हुए ही हमने बहुत से क्लेश सहे।। यदि हम उत्पथ पर हों तो आप हमें ठीक कीजिए। आपकी परिषद में धर्मज्ञ सभासद हैं। उनके रहते हुए कुछ अनुचित न होना चाहिए। जहां धर्म को अधर्म और सत्य को अनृत दबा लेता है, उस सभा के सदस्य मृततुल्य है। अधर्म के बाण से बिंधा हुआ धर्म सभा में आता है, यदि सदस्य उसके कांटे को नहीं निकालते तो वे स्वयं उससे बिंध जाते हैं। जो मौन भाव से विचार पूर्वक धर्म को देखते हैं, वे ही सत्य, धर्म और न्याय के पक्ष में बोलते हैं। आपसे और क्या कहा जाय ? पांडवों को उनका अंश दें, यही उक्ति है अथवा सभा के सदस्य जो उचित हो, कहें। इन क्षत्रियों को मृत्यु के पाश से मुक्त कीजिये। शान्ति का आश्रय लेकर क्रोध को दूर कीजिये और पाण्डवों को उनका पित्र्य अंश दीजिये। आप जानते हैं कि युधिष्ठिर अजातशत्रु होकर सदा धर्म में स्थित हैं। पुत्र सहित आपमें उनकी ऋजु वृत्ति है। उन्हें जलाया गया और निर्वासित किया गया, फिर भी वे आपकी अपेक्षा करते हैं। इन्द्रप्रस्थ में रहते हुए भी युधिष्ठिर ने और राजाओं को

अपने वश में लाकर आपके ही अनुकूल किया। इतना होने पर भी शकुनि ने कपट से उनका राज्य और धन-धान्य हर लिया। उस अवस्था में भी जब द्रौपदी सभा में लाई गई, युधिष्ठिर क्षात्र धर्म से नहीं डिगे। मैं आप और पाण्डव दोनों का कल्याण चाहता हूं। आप अपने लोभी पुत्रों को वश में करिये। पाण्डव आपकी सेवा के लिए और यदि आवश्यक हो तो युद्ध के लिए भी तैयार हैं। आपको जो हितकर जान पड़े, वैसा ही कीजिए (९३।३-६१)।" कृष्ण के इस भाषण को सुनकर उपस्थित राजाओं ने हृदय से उनकी सराहना की, पर कुछ कहने के लिए कोई सामने न आया।[1]

दुर्योधन को समझाने का यत्न

सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा, "हे कृष्ण, लोक और परलोक एवं धर्म और न्याय के लिए हितकारी आपके वचन मैंने सुने, पर मैं स्ववश नहीं हूं। आप दुर्योधन को मनाइए।" यह सुनकर कृष्ण विशेष रूप से दुर्योधन को सम्बोधित करके बोले। उन्होंने परिस्थिति के अनेक उतार-चढ़ाव समझाते हुए अंत में आधा राज्य पाण्डवों को देने का प्रस्ताव रक्खा और कहा, "पाण्डवों से शान्ति करके, अपने हितू जनों की बात मानकर मित्रों के साथ चिरकाल तक सुख भोग सकोगे।" इसके बाद भीष्म और द्रोण ने एवं धृतराष्ट्र ने भी दुर्योधन को विशेष रूप से समझाया (अ० १२३-१२४)। अब दुर्योधन की बारी थी कि वह भी कुछ कहे, "हे कृष्ण, आपको सोच-समझ कर कहना चाहिए। पाण्डवों का पक्ष करके आप मुझे ही विशेष रूप से क्यों चांपते हैं? मैं अपनी कोई त्रुटि नहीं देखता, पर आप, विदुर, मेरे पिता, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म मुझमें ही त्रुटि निकालते रहते हैं। गहराई से सोच कर देखता हूं तो मुझे लगता है कि पाण्डवों ने मन-चाहा जुआ खेला, उसमें शकुनि से वे अपना राज्य हार गये तो इसमें क्या हमारा दोष है? पांसों से दांव खोकर यदि वे वन में गये तो क्या यह

---

१. यहां से अट्ठाइस अध्यायों तक कथा का सूत्र (अ० ९४-१२१) एकदम टूटा हुआ है। इस क्षेपक प्रकरण की चर्चा हम आगे करेंगे।

हमारा अपराध है ? हमने उनका क्या बिगाड़ा है ? किसलिए वे हमें मारना चाहते हैं ? फिर ऐसे कर्म और वचन से हम भी डरनेवाले नहीं हैं। कौन-सा योद्धा है, जो क्षात्र धर्म में हमारे सामने टिक सके? और यदि युद्ध में हम मर भी जायं तो भी वह स्वर्ग ही है। शत्रुओं के सामने विना झुके वीर-गति पा जाने से हमें संताप न होगा। क्षत्रिय का धर्म है कि सीधा खड़ा रहे, झुके नहीं। उद्यम ही पौरुष है। चाहे बांस की तरह विना पोरी के स्थान पर टूट जाय, पर झुके नहीं। मातंग ऋषि के इस वचन को हम मानते हैं। केवल धर्म और ब्राह्मणों को प्रणाम करके जीवित रहे और किसी की परवा न करे। यह जो क्षत्रिय के लिए नियम है, वही मुझे सुहाता है। पिता ने जो राज्य मुझे दे दिया है, अव जीतेजी उसमें से मैं किसी को कुछ देने वाला नहीं। हे कृष्ण ! सूई की नोक के वरावर भूमि भी अव मैं पाण्डवों को न दूंगा।"

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण माधव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥ (१२५।२६)

दुर्योधन की वात सुनकर कृष्ण ने क्षुब्ध होकर कहा, "ज्ञात होता है, भारी युद्ध होगा। तुम वीरगति पाने के लिए तैयार रहो। तुम्हारा जो यह विचार है कि सारा दोष पाण्डवों का है, तुम्हारा कुछ नहीं, तो तुमने ही पाण्डवों की राज्यश्री से जलकर जुए का प्रपञ्च कराया। उसमें तुमने सदाचार का पालन किया। तुम्हारे सिवाय और कौन अपने कुटुम्ब की स्त्री को सभा के बीच में लाकर उसे इस प्रकार अपमानित करेगा, जिस प्रकार तुमने द्रौपदी को किया ? तुमने पाण्डवों को वाल्यावस्था में ही उनकी माता के साथ लाक्षागृह में जला डालने का षड्यन्त्र किया। उन पर विष के प्रयोग भी तुमने किये। तुम्हारे मन में सदा कपट रहा। फिर कैसे तुम्हारा अपराध नहीं है ? सवने तुम्हें शान्ति के लिए समझाया, पर तुमने एक की न सुनी।"

जव कृष्ण इस प्रवाह में वह रहे थे, दुःशासन ने वीच में ही बात काटकर दुर्योधन से कहा, "हे राजन, मुझे तो लगता है कि यदि तुमने पाण्डवों से सन्धि न कर ली तो कौरव लोग तुम्हें बांधकर युधिष्ठिर को सौंप देंगे। भीष्म, द्रोण और हमारे पिता तुम्हें, कर्ण को और मुझे अवश्य

पाण्डवों को दे डालेंगे।" दुःशासन का निशाना ठीक बैठा। उसकी बात कान में पड़ते ही दुर्योधन महासर्प की तरह फुंकारने लगा और सभा की मर्यादा तोड़कर जाने के लिये उठ पड़ा। उसके भाई भी उठ गए। उसके जाने के बाद भीष्म ने किसी तरह स्थिति को सम्भाला और कहा, "जो धर्म और अर्थ से मुंह मोड़कर क्रोध करता है, उसके शत्रु उस पर हँसते हैं। दुर्योधन इस समय क्रोध और लोभ के वश में है। ज्ञात होता है कि सारा क्षत्रिय दल काल-पक्व हो चुका है।" इस अवसर पर कृष्ण ने एक बात कही, "दुर्योधन का व्यवहार सब कुरुवृद्धों का अपमान है। आप लोग क्या बलपूर्वक उसे मर्यादा में नहीं रख सकते ? मेरी राय है कि जैसे कंस को मारकर उग्रसेन को राज्य दिया गया, वैसे ही कुल की रक्षा के लिए दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुःशासन को बांधकर पाण्डवों को सौंप दिया जाय (अ० १२६।४७)।"

गान्धारी का दुर्योधन को समझाना

कृष्ण की बात सुनकर धृतराष्ट्र पर जो बीती, उसकी केवल कल्पना की जा सकती है। उन्हें भय हुआ कि कहीं राजा लोग कृष्ण के प्रभाव में आकर सचमुच दुर्योधन को बांध न लें। उन्होंने हड़बड़ाते हुए विदुर से कहा, "जल्दी गान्धारी को बुलाओ।" विदुर के साथ गान्धारी वहां आई तो धृतराष्ट्र ने कहा, "हे गान्धारी, तुम्हारा वह मूढ़ पुत्र अशिष्टता से सभा छोड़कर चला गया है।" गान्धारी के चरित्र में धृतराष्ट्र जैसी दुरंगी चाल न थी। वह एकदम सीधे स्वभाव की आर्य नारी थी। भीतर-बाहर की सचाई, यही उसका जीवन-मंत्र था। उसने कहा, "हां, शीघ्र दुर्योधन को सभा में वापस बुला लाओ। पर हे धृतराष्ट्र, सारा दोष तुम्हारा ही है। तुम पुत्र के दुलार में आकर उसके पाप को जानते हुए भी सदा उसी की बुद्धि के पीछे चलते रहे[1]। अब बात इतनी बढ़ गई है कि तुमसे भी वह

---

१. त्वं ह्येवात्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः।
   यो जानन् पापतामस्य तत्प्रज्ञामनुवर्तसे॥ (१२७।११)

नहीं रुकता। इतने में दुर्योधन को विदुर फिर सभा में ले आये। उसकी आंखें लाल थीं और वह क्रोध से फुफकार रहा था। उसे आये हुए जानकर गान्धारी कहने लगीं, "पुत्र दुर्योधन, मेरी बात समझो। इससे तुम्हारा हित होगा। यदि तुम शान्त होगे तो हम सबका इससे पुनः सम्मान होगा। जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं, वह राज्य का भोग नहीं कर सकता। मेधावी और विजितात्मा ही राज्य की रक्षा कर सकता है। इन्द्रियजय का ही नाम राज्य है। इन्द्रियों को वश में करने से बुद्धि बढ़ती है। अतएव सबसे पहले अपने को ही देश समझ कर जीतना चाहिए। जैसे महीन जाल में दो मछलियां फंसी हों, वैसे ही इस शरीर में रहकर काम-क्रोध बुद्धि को कुतरते रहते हैं। बेटा, युद्ध की बात मन में मत लाओ। आधा राज्य पाण्डवों को दो, तुम्हारे लिए आधा पर्याप्त है। तेरह वर्षों से बिगाड़खाता चला आया है, उसे अब एक दिन भी मत बढ़ाओ। हे तात, लोभ को अब बस करो।"

कृष्ण को पकड़ लेने की कूट मंत्रणा

माता के इन वचनों का दुर्योधन पर कुछ प्रभाव न हुआ। वह क्रोध में भरा हुआ मंत्रणा के लिए फिर अपने साथियों के पास लौट गया। वहां शकुनि, कर्ण और दुःशासन ने दुर्योधन से मंत्रणा की, "अरे, यह कृष्ण हमें पकड़ने की सलाह दे रहा था। इसके पहले कि वह ऐसा करे, क्यों न हम ही उसे बांध लें? उसे पकड़ा हुआ सुनकर पाण्डव टूटे दांत वाले सांप की तरह छटपटाने लगेंगे। धृतराष्ट्र कितना भी चिल्लावें, बस हम कृष्ण को बांध कर शत्रुओं को समझ लेंगे।" यह बात झटपट सात्यकि ने समझ ली और बाहर आकर कृतवर्मा से कहा, "तुम सेना की टुकड़ी सजाकर कृष्ण, धृतराष्ट्र और विदुर से जाकर यह हाल कहो। सभाद्वार पर प्रतीक्षा करो, मैं तबतक कृष्ण को सूचना देता हूं।" उसने कृष्ण, धृतराष्ट्र और विदुर से कहा, "हे राजन्! आपके पुत्र मृत्यु के मुख में आकर बलपूर्वक कृष्ण को पकड़ना चाहते हैं। वे आग में पतिंगों की भांति कहीं के न रहेंगे।" विदुर की बात सुनकर कृष्ण ने कहा, "हे राजन्, यदि ये लोग ऐसे निन्दित

कर्म पर उतारू होंगे तो इससे युधिष्ठिर का काम ही बनेगा। मैं ही इन सबको बांधकर पाण्डवों को सौंप दूंगा। पर ऐसा निन्दित काम मैं करना नहीं चाहता। दुर्योधन की इच्छा पूरी हो।" यह सुनकर धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा कि फिर दुर्योधन को यहां ले आओ, जिससे मैं उसे और उसके साथियों को समझा सकूं।" विदुर ने वैसा ही किया और धृतराष्ट्र दुर्योधन को समझाने लगे। यह समझाना क्या था, कृष्ण के बल का बखान करना था। यहीं पर बारह श्लोकों में विदुर ने भी कृष्ण के अनेक पराक्रमों और बाललीलाओं का वर्णन किया है, जो भागवतों द्वारा लगाया हुआ छोटा-सा साफ-सुथरा पैबन्द है। चालीसवें श्लोक के "इत्युक्ते-धृतराष्ट्रेण" का सटीक अन्वय १२९ अध्याय के पहले श्लोक से जा मिलता है।

अब समय आ गया था कि कृष्ण भी दो टूक बात कहते। उन्होंने कहा, "हे दुर्बुद्धि ! क्या तुम मुझे अकेला समझकर पकड़ लेना चाहते हो ? यहां ही सब अन्धक, वृष्णियों को देखो। वसु, रुद्र और आदित्य आदि देव भी यहीं मेरे इस विराट् रूप में हैं।" यह कह कर कृष्ण अट्टहास करके हँसे। इसके बाद बारह श्लोकों में भागवत दृष्टि से अन्य अनेक देवताओं का उल्लेख करते हुए कृष्ण के विराट् रूप का उपबृंहण किया है (१२९।४-१६)।

तब सात्यकि का हाथ पकड़ कर कृष्ण सभा से चले गये। धृतराष्ट्र ने कृष्ण के जाते-जाते कहा, "हे कृष्ण, मेरा अपने पुत्रों पर जो प्रभाव है, वह आपने देख लिया। अब इस सारी स्थिति से परिचित होकर मुझ पर संदेह मत करियेगा।"

कुंती का युधिष्ठिर को संदेश

वहां से कृष्ण कुंती के घर गये और सभा का सब हाल सुनाया। कुंती ने सुनकर कुछ व्यंग्य से कहा, "हे केशव, धर्मात्मा युधिष्ठिर से कहना कि कोई ऐसा काम न करे कि धर्म का लोप हो जाय। उसकी बुद्धि केवल धर्म को देखती है, पर धर्म को भी तो ठीक तरह समझना चाहिए। ब्रह्मा ने क्षत्रियों को इसलिए बनाया है कि अपने बाहु बल से जियें और प्रजा का पालन करें।" मैंने बड़े-बूढ़ों से सुना था कि कुवेर ने प्रसन्न होकर राजा

मुचकुन्द को यह पृथ्वी देनी चाही, पर मुचकुन्द ने कहा, "जो मैं अपने भुजवल से अर्जित करूंगा, वही भोगूंगा। और उसने अपने बाहु-वीर्य से प्राप्त राज्य ही भोगा। यही क्षत्रिय धर्म है। दंडनीति ही राजा का सुधर्म है। राजा द्वारा दंडनीति का पालन, यही सतयुग है। काल राजा को बनाता है या राजा काल को, इसमें कभी संदेह मत करना। राजा ही काल का कारण है[1]। राजा के दोष से जगत् और जगत् की त्रुटियों से राजा प्रभावित होता है। तुम जो सोचते हो, वह राजर्षियों का आचार नहीं। तुम्हारी जैसी बुद्धि हो रही है, वैसी तुम्हारे बाप-दादों की कभी नहीं थी। पितर पुत्रों से आशा लगाते हैं। तुम क्षत्रिय हो। अपने बाहु-वीर्य से जीवन बिताओ और पिता के डूबे हुए राज्य का उद्धार करो। इससे अधिक क्या दुःख होगा कि मैं दूसरों के टुकड़ों पर निर्भर रहूं ?"

यहां कुन्ती ने विदुला का इतिहास सुनाया, "वह क्षात्र धर्म के आदर्श को मानती थी। उसके पुत्र को सिंध देश के राजा ने हरा दिया था। तब दीनचित्त उस पुत्र को विदुला ने राजसभा में क्षात्र धर्म का उपदेश दिया, "अरे, न मैंने, न तुम्हारे पिता ने तुम्हें जन्म दिया। कहां से तुम आ गये ? अपने को छोटा मत समझो। जीवन में निराश मत बनो। उत्थान के लिए राज्य का भार सम्भालो। मुहूर्त्त भर धधकना अच्छा, देर तक धुंधुआना अच्छा नहीं।" इस प्रकार अनेक प्रकार से विदुला ने अपने पुत्र को उत्साह पुरुषार्थ, उद्यम का दृष्टिकोण समझाया। तत्पश्चात् उसके पुत्र ने माता के अनुशासन का पालन किया और विजयी हुआ (अ० १३१-१३४)। इस दर्शन का सम्बन्ध विशेषतः क्षात्रधर्म एवं प्रज्ञावादी दर्शन के साथ था। पराक्रम ही वास्तविक जीवन है। इस तथ्य के सूचक अनेक विशेषण उस उपाख्यान के अंत में आये हैं, जहां इस तेजोवर्धन दृष्टिकोण का पालन करने वाले व्यक्ति को विद्याशूर, तपःशूर, दमशूर, बलयुक्त महाभाग, अपराजित, गोप्ता, सत्यपराक्रम, ब्राह्मतेज से दीप्तिमान और किसी के घर्षण को न मानने वाला कहा गया है।

---

१. कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥ (१३०।१५)

कुंती का अर्जुन को संदेश

कृष्ण के प्रस्थान करते समय कुंती ने अर्जुन को लक्ष्य करके विशेष संदेश दिया, "मैं महान धर्म को प्रणाम करती हूं। धर्म प्रजाओं को धारण करता है। क्षत्राणी पुत्र को जिस लिए जन्म देती है, उसका समय अब आ गया है। तुम्हारे जन्म के समय जो आकाशवाणी ने कहा था कि यह पुत्र प्रतापी राज्य का उद्धार करेगा, वह बात सत्य हो।" तब कृष्ण ने कुन्ती को प्रणाम करके विदा ली और नगर के बाहर आकर बहुत देर तक कर्ण से कुछ बातचीत की। धृतराष्ट्र के पूछने पर संजय ने उन संवाद का सार कहा। कृष्ण ने कर्ण के सामने एक नया पांसा फेंका। उन्होंने कहा, "तुम भी पाण्डवों के समान कुन्ती के पुत्र हो और धर्मशास्त्र के अनुसार ज्येष्ठ होने के कारण तुम्हीं राजा बनोगे। मेरे साथ चलो तो आज ही पाण्डव तुम्हारे चरण पकड़ेंगे और उनके पुरोहित तुम्हारा अभिषेक करेंगे। युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज बनेंगे।" किन्तु कर्ण जिस मिट्टी से बना था वह ब्रह्मा के पास भी थोड़ी ही है। कृष्ण जैसे व्यक्ति का दिया हुआ यह प्रलोभन उसे तिल भर भी न डिगा सका। उसकी आंख का तेज जैसा-का-तैसा रहा। उसने कहा, "हे कृष्ण, दुर्योधन ने जिस शस्त्र-यज्ञ का वितान किया है, उसमें अनेक योद्धा काम आयंगे। उसमें यदि तुम अर्जुन के द्वारा मेरा वध देखो तो समझना यज्ञ पूरा हुआ। जाओ और युद्ध के लिए अर्जुन को लेकर लौटना। यह जो तुमने कहा है, इसे गुप्त रखना। हे कृष्ण! जाओ या तो इस महायुद्ध से जीते बचकर हम तुम्हें मिलेंगे या फिर स्वर्ग में भेंट होगी।" इन वाक्यों में कर्ण का तेजस्वी व्यक्तित्व और विचारों का ऊंचा धरातल फूट पड़ा है। महाभारत के सब पात्रों में मानवीय चरित्र की दृष्टि से यदि किसी एक को चुनना हो तो कर्ण का चरित्र बार-बार हमारे मन में टकराता है। कर्ण ने इस रहस्य को गुप्त रखने की बात कृष्ण से क्यों कही? उसने बहुत ऊंचे उठकर सोचा कि यदि ये लोग जान पायंगे कि आपस में फूट डालने के लिए कृष्ण ने ऐसा तुच्छ प्रस्ताव किया तो कृष्ण की कीर्ति को बट्टा लगेगा। सचमुच कर्ण जैसा महात्मा दुर्लभ है।

कुंती और कर्ण

कर्ण के मन को पाण्डवों की ओर मोड़ने के लिए एक प्रयत्न कुन्ती ने भी किया। कृष्ण को छोड़कर विदुर कुन्ती के पास आए और सम्भव है, उन्होंने यह प्रसंग चलाया होगा। कर्ण गंगातट पर सूर्योपासना कर रहे थे। कुंती अपना कार्य निश्चित करके वहीं पहुंची। कुन्ती ने स्पष्ट शब्दों में वह कथा कह डाली जब कन्या दशा में ही उसने कर्ण को जन्म दिया था और अनेक सुन्दर शब्दों से उसकी श्लाघा की। कर्ण ने दृढ़ता से उत्तर दिया, "तुम केवल अपना हित देखती हो। पहले तुमने माता जैसा व्यवहार मेरे साथ नहीं किया कि जन्म के बाद ही मुझे छोड़ दिया। आज तुम मुझे समझाती हो। यदि मैं पाण्डव पक्ष में मिल जाऊं तो क्षत्रिय मुझे क्या कहेंगे ? मैं कदापि दुर्योधन को नहीं छोड़ सकता, किन्तु तुम्हारा यह प्रयत्न भी विफल नहीं होगा। अर्जुन के सिवा तुम्हारे और किसी पुत्र को मैं न मारूंगा। मेरा युद्ध तो अर्जुन के साथ है। हम दोनों में से कोई न भी रहे तो भी तुम पांच पुत्रों की माता रहोगी (१४४।२२)।

५० : : सैन्य पर्व

(अ० १५१—१७२)

युद्ध की परामर्श-सभा और पाण्डव-सेना

कृष्ण ने उपप्लव्य नगर में लौटकर हस्तिनापुर की सभा का विस्तृत हाल सुनाया और कहा कि यद्यपि मैंने सत्य और पथ्य वचन कहे, पर दुर्योधन ने कुछ नहीं माना (अ० १४५-१४८)। तब युधिष्ठिर ने उचित समझा कि अपने सब भाइयों से उनका मत सुनें। एक प्रकार से वह युद्ध की परामर्श-सभा बन गई और यही निश्चय हुआ कि युद्ध के अतिरिक्त

अब दूसरी गति नहीं है। सहदेव ने राजा मत्स्यराज विराट को सेनापति बनाने का प्रस्ताव किया एवं नकुल ने पाञ्चालराज द्रुपद को सेनापति वनाये जाने की इच्छा प्रकट की, किन्तु अर्जुन ने धृष्टद्युम्न के लिए सम्मति दी। भीम ने शिखण्डी के नाम का प्रस्ताव किया। इस पर युधिष्ठिर ने कृष्ण की सम्मति जाननी चाही। कृष्ण ने व्यक्तिविशेष का नाम न लेकर साभिप्राय अर्जुन की ओर देखा, जिससे उनका आशय स्पष्ट हो गया और धृष्टद्युम्न ही सेनापति वनाये गए। पाण्डवों की ओर सात अक्षौहिणी सेना थी, जिसके अलग-अलग सात सेनानी ये थे—द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और भीमसेन। इन सात नेताओं में भी अग्रणी स्थान धृष्टद्युम्न को दिया गया। सेना के साथ पाण्डव कुरुक्षेत्र पहुंचे और वहां उन्होंने अपना शिविर लगाया। कुरुक्षेत्र में हिरण्यवती नदी के किनारे शिविर-मापन किया गया और शिविर के चारों ओर गुप्ति के लिए खाई खोदी गई। शिविर में भक्ष्यभोजन, काष्ठ, जल आदि का जैसा प्रवन्ध चाहिए, वह सब किया गया। वहां वेतनभोगी अनेक शिल्पी, कुशल वैद्य, शस्त्र, मधु, घृत, दाहक राल आदि की राशियां एकत्र की गईं। नाराच, तोमर, परशु, शक्ति, धनुष, कवच आदि के पहाड़ लग गए।

दुर्योधन की सेना

दुर्योधन को जब पाण्डवों के अभियान की सूचना मिली तो उसने भी अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेना को शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर कूच का आदेश दिया। इस प्रसंग में लेखक ने प्राचीन काल के कितने ही शस्त्रों की सूची दी है, जो सैनिक सामग्री में प्रयुक्त होते थे, जैसे—अनुकर्ष, तूणीर, वरूथ (रथ को ढकने के लिए बाघ आदि का चर्म), तोमर, उपासंग (भारी तरकश), शक्ति, निषंग, पोथिक, शरासन, परिस्तर, कचग्रह, व्याघ्रचर्म (बाघ की खाल से बनी ढाल), द्वीपिचर्म (तेंदुए की खाल से बनी ढाल), वस्ति (पानी फेंकने का यंत्र), शृंग, प्रास, कुठार, कुदाल, पाश आदि। इसके अतिरिक्त गुड़ अर्थात् गोले और तेल मिली हुई बालू, राल का चूरा और रस भी युद्ध में प्रयुक्त होते थे। इससे ज्ञात होता है कि इन

वस्तुओं को जलाकर शत्रु सेना पर फेंका जाता था।

कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना के अलग-अलग सेनापति थे—कृपाचार्य, द्रोण, शल्य, जयद्रथ, कम्बोजराज सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि एवं बाह्लीक। इन सबके ऊपर दुर्योधन ने प्रार्थना करके पितामह भीष्म को सर्वसेनापति नियत किया। भीष्म ने यह शर्त लगाई कि मैं पांच पाण्डु पुत्रों का वध नहीं करूंगा और दूसरी बात यह कही कि या तो पहले कर्ण ही युद्ध कर ले या मैं युद्ध करूंगा। कर्ण ने उदार हृदय से तत्काल कहा कि पहले भीष्म और पीछे मैं लड़ूंगा। इस प्रकार कौरव सेना भी कुरुक्षेत्र पहुंची और उसने वहां अपना शिविर लगाया।

बलराम का आना

यहीं पर एक छोटा-सा उल्लेख यह आता है कि पाण्डव शिविर में बलरामजी पधारे। सबने उनका सम्मान किया, तब उन्होंने कहा, "सर्व क्षत्रिय मुझे कालपक्व दिखाई पड़ते हैं। भारी युद्ध होगा। मैंने कृष्ण से बहुत कहा कि दोनों अपने सम्बन्धी हैं, दोनों में समान वृत्ति रखो। जैसे पाण्डव हमारे हैं, वैसे ही दुर्योधन भी, पर उन्होंने मेरी बात न मानी। भीम और दुर्योधन दोनों गदायुद्ध में मेरे शिष्य हैं। दोनों पर मेरी एक-सी प्रीति है। मैं अपनी आंखों से कौरवों का नाश होते नहीं देख सकता, इसलिए सरस्वती तट के तीर्थों की यात्रा करने चला जाऊंगा।"

इसी अवसर पर महापराक्रमी रुक्मी ने, जिसे अपने तेज के कारण महेन्द्र-विजय धनुष प्राप्त हुआ था, पाण्डवों को अपनी सहायता अर्पित की, पर रुक्मिणी के विवाह के समय की पुरानी बात याद करके पाण्डवों ने कहा, "हमें तुम्हारी सहायता नहीं चाहिए।" विचित्र है कि रुक्मी के वैसा ही प्रस्ताव करने पर दुर्योधन ने भी उसे अपने पक्ष में न लिया और वह लौट गया।

उलूक का दूत बनकर पाण्डवों के पास आना

दुर्योधन के मन में पाण्डवों के विरुद्ध जो विष भरा हुआ था, उसमें एक ताजी लहर आई। उसने उन्हें चिढ़ाने के लिए उलूक को दूत बनाकर भेजा और एकदम मुंहफट होकर पाण्डवों को चिढ़ाने के वाक्य कहे, "तुम लोग अबतक व्यर्थ वकवास करते थे, अब कुछ करके दिखाओ। अरे, मुण्डे[1], पेटू भीम, तू सभा में दु:शासन का रक्त पीने की डींग हांकता था। अब कुछ करके दिखा। कुएं के मेंढक की तरह तू नहीं जानता कि मेरी सेना कितनी है? अरे अर्जुन, तेरे रोते-कलपते भी मैं तेरह वर्ष तक राज्य भोगता रहा। फिर तुझे मारकर वैसा ही करूंगा। तेरा वह गाण्डीव कहां गया? हजार कृष्ण भी आ जायं तो क्या मैं डरने वाला हूं?" दूत द्वारा उसके ऐसे वाग्वाण सुनकर पाण्डव छटपटाने लगे और सांप की तरह क्रोधित हो एक-दूसरे का मुंह देखने लगे, पर कृष्ण का सन्तुलन वैसा ही रहा। उन्होंने कहा, "हे उलूक, जाओ। सुयोधन से कहना कि हमने तुम्हारा कथन सुना और अर्थ भी समझ लिया। तुमने जो मुझ पर कटाक्ष किया है, वह भी अनुचित है, मैं युद्ध नहीं करूंगा। मुझे पाण्डवों ने केवल सारथी चुना है, तू डर न कर। यदि तू आकाश में उड़ जाय या धरती में समा जाय तो भी तुझे सबसे पहले प्रतिदिन अर्जुन का रथ सामने दिखाई पड़ेगा (अ० १५९)।

इसके बाद दुर्योधन के पूछने पर भीष्म ने अपनी और शत्रु की सेना के महारथी, रथी और अर्धरथी योद्धाओं का वर्णन किया (अ० १६२-१६९)। और अन्त में कहा कि जितने राजा हैं, मैं सबसे लड़ूंगा, केवल शिखण्डी से नहीं। दुर्योधन के कारण पूछने पर भीष्म ने अम्बा का उपाख्यान सुनाया।

---

१. (सं०) तूवरक=वह बैल, जिसके सींग न हों, अर्थात् बिना जवानी के फूला हुआ मुस्टण्डा।

५१ : : अम्बोपाख्यान

(अ० १७०—१६१)

इस उपाख्यान का पूर्वांश आदिपर्व में आ चुका है (भारत सावित्री भाग १, पृष्ठ ७८-७६, अ० ६१-१००)। काशिराज ने अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका नामक अपनी तीन कन्याओं का स्वयम्वर किया था। भीष्म को अपने भाई विचित्रवीर्य के विवाह की चिन्ता थी। वे बलपूर्वक तीनों कन्याओं को स्वयम्वर में से ले आए। ज्येष्ठ कन्या का नाम अम्वा था। उसका सौभराज शाल्व से प्रेम था। अतएव भीष्म ने उसे वहां जाने की सहर्ष अनुमति दे दी। शेष दो छोटी बहनों का विवाह विचित्रवीर्य से कर दिया। व्यासजी के नियोग द्वारा अम्बिका से धृतराष्ट्र और अम्बालिका से पाण्डु का जन्म हुआ। अम्वा जब शाल्व के यहां पहुंची तो उसके बहुत विनय करने पर भी शाल्व ने उसे लेना स्वीकार न किया। वह चिन्ता करने लगी कि अब मैं क्या करूं? इसी उलझन में वह शैखावत्य नाम के तपस्वी ब्राह्मण के आश्रम में पहुंची और वहां सहायता की याचना की। मुनियों ने उसका हाल जानकर सहायता का वचन दिया। पर वे निश्चय न कर सके कि कन्या को क्या करना चाहिए? उसी समय वहां होत्रवाहन नाम का राजा आया। उसने कन्या से कहा, "मुझे तू अपना पिता समझ, मैं तेरा दुःख दूर करूंगा। तू मेरे कहने से जमदग्नि के पुत्र, परशुराम के पास जा, वे तेरा उपाय करेंगे।" उसी समय वहां परशुराम के सखा अकृत-व्रण नाम के मुनि आये। उनसे भी वही चर्चा हुई। उन्होंने उसे भीष्म के पास जाने की सलाह दी, पर संयोग से रात्रि के समय परशुराम वहां आकर प्रकट हो गये। होत्रवाहन ने अम्वा का परिचय कराया और अम्वा ने रोते हुए उनसे प्रार्थना की कि मेरा दुःख दूर कीजिये। परशुराम ने धैर्य देते हुए कहा कि मैं तुम्हारा कार्य करूंगा। यदि भीष्म से भी युद्ध करना पड़े तो भी मैं पीछे न हटूंगा। तब परशुराम भीष्म के पास आये और उन्हें बहुत प्रकार से समझाया। पर भीष्म ने उनकी बात स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इसके बाद गुरु और शिष्य का घोर युद्ध

हुआ। भीष्म ने गुरु को रथविहीन देखकर आग्रह किया कि वे भी रथ ले लें। किन्तु परशुराम ने कहा, "मेरे जैसे ब्रह्मतेजस्वी ऋषि के लिए पृथ्वी ही रथ है, चारों वेद सुन्दर अश्व हैं, भगवान् मातरिश्वा मेरे सारथी हैं, वेद माताएं मेरा कवच हैं[1]। दोनों के अत्यन्त घोर संग्राम का विस्तृत वर्णन किया गया है। अन्त में ऋचीक, नारद आदि आठ ब्रह्मवादी ऋषियों ने बीच-बचाव किया और दोनों युद्ध से निवृत्त हुए। तब परशुराम ने अम्बा से कहा, "हे भद्रे, मैं जो कर सकता था, वह मैंने किया। अब भीष्म के विरुद्ध मेरी शक्ति नहीं। तुम जैसा चाहो, करो।" अम्बा ने उत्तप्त होकर कहा, "मैं भीष्म के पास कदापि नहीं जाऊंगी। मैं वह उपाय करूंगी, जिससे युद्ध में उसका वध करूं।" परशुराम तो महेन्द्र पर्वत पर चले गये और अम्बा तप करने के लिए वन में चली गई। वहां यमुना तट के एक आश्रम में उसने बारह वर्ष तक कठोर तप किया। अन्त में भीष्म के वध की इच्छा लिये हुए उसने शरीर त्याग दिया। दूसरे जन्म में भी वह कन्या होकर फिर तप करने लगी। उसके नाम से वत्स देश में एक छोटी बरसाती नदी भी अम्बा कहलाई। अगले जन्म में उसकी कठोर तपश्चर्या से प्रसन्न होकर शिव ने प्रकट होकर उसे वरदान दिया कि तू भीष्म का वध करेगी और जन्मान्तर में पुरुष रूप से जन्म लेगी। वही राजा द्रुपद के यहां शिखण्डी रूप में उत्पन्न हुई है।

शिखंडी का स्वरूप

कथा में आगे यह भी कहा है कि द्रुपद के यहां भी उसने कन्या रूप में जन्म लिया था। द्रुपद के कोई सन्तान न थी। उन्होंने तप करके शिव से वरदान मांगा तो भगवान् शिव ने कहा कि पहले तुम्हारे कन्या जन्म लेगी, किन्तु पीछे वह पुत्र रूप में परिवर्तित हो जायगी। द्रुपद केयहां कन्या उत्पन्न होने पर उन्होंने उसके कन्याभाव को छिपाकर दशार्ण देश के राजा

---

१. रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदाः सदश्ववत्।
सूतो मे मातरिश्वा व कवचं वेदमातरः॥ (१८०।३)

की पुत्री के साथ उसका विवाह कर दिया। पर बात खुल गई और दशार्ण के राजा को भी पता चला। वह सेना लेकर चढ़ आया। द्रुपद के लिए बड़ा संकट उपस्थित हो गया। राजा-रानी दोनों बहुत चिंतित हुए और भांति-भांति से देवताओं की आराधना करने लगे। इसी समय शिखण्डिनी कन्या भागकर वन में चली गई। वहां स्थूणाकर्ण नाम के यक्ष ने उसका हाल जानकर दयाभाव से उसे अपना पुरुषत्व दे दिया और उसका स्त्रीत्व स्वयं ले लिया। इस रूप में शिखण्डी नगर में पुनः प्रविष्ट हुआ। इससे द्रुपद को बहुत हर्ष हुआ और उसने दशार्ण राजा के पास सूचना भेजी कि आकर देख लो, मेरे यहां पुत्र है, कन्या नहीं। पहले दूत भेजे गए, फिर दशार्ण राजा ने स्त्रियों को भेजकर अपना समाधान किया और दोनों में संधि हो गई। उधर कुछ समय बाद यक्षराज कुबेर घूमते हुए अपने अनुचर स्थूण यक्ष के भवन के पास पहुंचे। स्थूणाकर्ण लज्जा से घर में छिपा रहा और उनके स्वागत के लिए नहीं आया। तब अनुचरों से पूछने पर कुबेर को सब हाल ज्ञात हुआ कि महाराज उसने तो कुछ समय के लिए अपना पुरुषत्व देकर स्त्री-लक्षण स्वीकार कर लिया है। कुबेर ने यक्ष को बुलवाया और वह लज्जावश स्त्री रूप में उनके सामने उपस्थित हुआ। तब कुबेर ने कहा, "तुमने अनहोनी बात की है, इसलिए आज से तुम स्त्री बने रहोगे और वह पुरुष रहेगा।" फिर अन्य यक्षों के अनुनय-विनय करने पर उन्होंने कहा कि जब युद्ध में शिखण्डी का अन्त हो जायगा तब फिर तुम अपना पुरुषत्व प्राप्त करोगे।

शिखण्डी को यक्ष ने अपना पुरुषत्व नियत समय के लिए ही दिया था। समय आने पर शिखण्डी उसके पास आया। इस सचाई से प्रसन्न होकर यक्ष ने कहा कि तुम्हारे कारण मुझे कुबेर शाप दे चुके हैं, अब तुम जाओ और जीवन भर पुरुषत्व का भोग करो। यह सुनकर शिखण्डी हर्ष के साथ अपने नगर को लौट आया।

अन्त में भीष्म ने कहा, "वही अम्बा नाम की कन्या शिखण्डी है। मेरा व्रत है कि मैं स्त्री पर या स्त्री नाम वाले व्यक्ति पर या जो पहले स्त्री रहा हो, उस पर बाण नहीं चलाऊंगा।" यह सुनकर दुर्योधन भी चुप हो गया।

शिखण्डी की कथा का क्षेपक रूप

यह कुछ उलझा हुआ उपाख्यान महाभारत के इस प्रसंग का आवश्यक अंग नहीं ज्ञात होता। एक तो आदि पर्व में अम्बा की कथा का उचित स्थान था ही। दूसरे, यहां की इस कथा के सूत्र बहुत ही उखड़े और उलझे हुए हैं। शैंखावत्यं का आश्रम, वहां अकृतव्रण राजा का अकस्मात् आ जाना और सबसे अधिक परशुराम का भी अकस्मात् प्रकट हो जाना, ऐसे अभिप्राय हैं, जो कथा की कृत्रिमता सूचित करते हैं। सर्वथा यह कहानी बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती है। भीष्म और जामदग्नि राम के इस घोर युद्ध की कल्पना भी जानबूझकर की गई है। हमें विदित है कि भार्गव राम का चरित्र महाभारत के कितने स्थलों पर अजेय योद्धा के रूप में रखा गया है, जिन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य कर दिया था। वही भार्गव वीर राम अपने ही शिष्य गांगेय भीष्म से परास्त होते हैं और निस्तेज एवं निरुपाय होकर महेन्द्र पर्वत पर चले जाते हैं। यह कथा किसने रची होगी ? इस पर विचार करते हुए हमारा ध्यान पंचरात्र भागवतों की ओर जाता है। गुप्त युग की भागवत मान्यता के अनुसार द्वादश महाभागवतों में भीष्म की प्रमुख गणना थी। जैसा भागवत में स्पष्ट कहा है :

स्वयंभूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥ (भागवत ६।३।२०)
द्वादशेते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ (भागवत ६।३।२१)

इस सूची में स्वयं शिव को भी भागवत कहा गया है। भीष्म वासुदेव कृष्ण के बड़े भक्त थे, ऐसा महाभारत में शांतिपर्व में आए हुए भीष्म-स्तवराज (अ० ४७) नामक स्तोत्र से सूचित होता है। भृगुवंशी परशुराम शिव के भक्त थे। एक मान्यता के अनुसार वे शिव के अवतार ही थे। इस प्रकार के परमशैव ऋषि, परम भागवत भीष्म के समक्ष प्रभाहीन हो जाते हैं। यही इस आख्यान की रचना का मार्मिक उद्देश्य था।

शिखण्डिनी में लिंग-परिवर्तन की घटना उसी प्रकार तथ्यात्मक जान पड़ती है, जैसी कई घटनाएं वर्तमान युग में सुनी जाती हैं। प्राचीनकाल में ठीक ही इसे दैवी चमत्कार समझा गया, जिसमें एक ओर शिव के वरदान और दूसरी ओर कुबेर के अनुचर यक्ष की सहायता की आवश्यकता पड़ी। यक्ष स्त्रीप्रसक्त मनोवृत्ति के प्रतीक माने जाते थे। ऊपर की पृष्ठभूमि में इस विचित्र कथा के तन्तुओं की संगति समझी जा सकती है।

५२ : : मातलीय उपाख्यान और गालव-चरित

(अ० ९४—१२१)

जब कौरवों की सभा में कृष्ण अपना भाषण समाप्त कर चुके तो स्वाभाविक यह था कि उपस्थित सदस्य अपना मत प्रकट करते। अवश्य ही मूल महाभारत में इसी प्रकार का पाठ रहा होगा, जिसके अनुसार अध्याय ९३ के बाद वह प्रकरण था, जो इस समय अध्याय १२३ में कृष्ण की उक्ति पर भीष्म के वचन से आरम्भ होता है। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, बीच के २८ अध्याय बेडौल पैवन्द की तरह अलग पहचाने जाते हैं। इनमें दो कथानक हैं। पहले में इन्द्र के सारथि मातलि की कन्या की कथा है (अ० ९४-१०३)। दूसरे में गालव द्वारा अपने गुरु विश्वामित्र को गुरुदक्षिणा में ८०० श्यामकर्ण घोड़े देने की कथा है (अ० १०४-१२१)। इन दोनों उपाख्यानों का लोक में पृथक् अस्तित्व था। वहां से पंचरात्र भागवतों की कृपा द्वारा इन्हें 'महाभारत' में स्थान प्राप्त हुआ। इन्हें पढ़ते ही रचयिताओं की छाप प्रकट हो जाती है। मातलि उपाख्यान इस प्रकार है :

जब कृष्ण हस्तिनापुर आ रहे थे, तो संक्षेप में एक सूचना दी गई है कि

मार्ग में उन्हें कुछ ऋषि मिले और उन्होंने अनुमति चाही कि आपका जो अभूतपूर्व भाषण कौरव-सभा में होने वाला है, क्या हम भी उसे सुनने आ सकते हैं ? कृष्ण को इसमें क्या आपत्ति होनी थी ? उनका संकेत पाकर ऋषि भी सभा में पहुंच गए। कृष्ण तो वहां थे ही। उन्होंने भीष्म से कहकर ऋषियों को भीतर बुलवाया और सम्मानपूर्वक आसन दिलवाया। वे चुपचाप कृष्ण का भाषण सुनते रहे। यहां तक तो किसी प्रकार संगति लगाई भी जा सकती है, पर इतने बड़े ऋषि सभा में आकर चुप रह जायं यह कैसे सम्भव था ? अतएव कृष्ण के बैठते ही जामदग्नि परशुराम ढीठ होकर कहने लगे, "एक सच्चा दृष्टान्त मैं कहता हूं, उसे पहले सुनकर फिर अपना मार्ग निश्चित कीजियेगा। कोई दम्भोद्भव नामक राजा था। युद्ध के लिए उसके भुजदण्ड फड़कते रहते थे। अपने योग्य प्रतिपक्षी से भिड़न्त करने के लिए जब सारी पृथ्वी में फिरकर उन्हें कोई न मिला, तो अपने यहां के ब्राह्मणों से पूछा कि ऐसे किसी पुरुष का नाम बताओ, जो मेरे सामने डट सके। बार-बार तंग करने पर उन्होंने भी कह दिया कि दो बबर शेर तुल्य मनुष्य ऐसे हैं कि तुम उनके सामने कुछ नहीं। राजा ने चट पूछा कि वे कौन हैं ? विनोदी ब्राह्मणों ने कहा, 'हमने सुना है कि वे नर-नारायण नाम के ऋषि हैं, जो मनुष्य लोक में जन्मे हैं। उनसे चाहो तो युद्ध करो। वे गन्धमादन पर तप कर रहे हैं।' यह सुनकर दम्भोद्भव बड़ी सेना सजाकर वहीं पहुंचा। ऋषियों ने स्वागत करके आने का कारण पूछा तो राजा ने कहा कि मैं युद्ध के लिए आया हूं, वही मेरा आतिथ्य है। ऋषियों ने कहा, "यह आश्रम है। यहां क्रोध, लोभ और युद्ध नहीं होता।' पर दम्भोद्भव उन्हें ललकारता रहा। इस पर नर ने सींकों की एक मुट्ठी उठाकर उसकी तरफ फेंक दी और कहा कि लो, इससे युद्ध कर लो। देखते-देखते वे सींकें धरती से आकाश तक छा गईं और सैनिकों की आंख, नाक तथा कानों में भर गईं। राजा का दर्प चूर हो गया और वह ऋषि के चरणों में गिर पड़ा। तब उसे अभय देते हुए ऋषि ने समझाया कि धर्म का पालन करो। जाओ, अब फिर ऐसा न करना। राजा अपने नगर को लौट आया। नर नामक ऋषि की इतनी महिमा थी, नारायण तो उनसे कितने ही गुना बढ़े थे।"

यह कहानी सुनाकर परशुराम ने समझाया कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मत्सर और अहंकार ये आठ घोर शत्रु हैं[1]। इनके वश में पड़ने से मृत्यु ही हो जाती है। हे दुर्योधन, इनसे बचो। नर-नारायण ही अर्जुन और कृष्ण हैं।

इस कथा का आशय नितान्त स्पष्ट है। दम्भोद्भव दुर्योधन का ही प्रतीक है। यह युद्ध के लिए तड़प रहा है और किसी को अपने जैसा नहीं समझता। किसी भागवत कथाकार ने उपयुक्त अवसर पर उसे यह संकेत देना उचित समझा कि जिन कृष्ण और अर्जुन को तुम तुच्छ समझ रहे हो, वे साक्षात् नर-नारायण ऋषि हैं जिनके सामने तुम तिनके के बराबर भी नहीं हो।

मातलि-चरित

वहां उपस्थित ऋषियों में कण्व भी थे। उन्होंने भी विष्णु की महिमा का वर्णन करते हुए एक कहानी सुनाई, "इन्द्र के सारथि मातलि की गुण-

---

१. यहां एक विचित्रकूट श्लोक है :

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसंतर्जनं तथा।
संतानं नर्तनं घोरमास्यमोदकमष्टमम्॥ (९४।३८)

(१) काकुदीक—कूचड़वाला सांड, काम।
(२) शुक—टांय-टांय करने वाला सुग्गा, क्रोध।
(३) नाक—मौज मजे वाला स्वर्ग, लोभ।
(४) अक्षि-संतर्जन—दुखती हुई आँख, मोह।
(५) संतान—कल्पवृक्ष, मद।
(६) नर्तन—मटकना, मटकता हुआ मोर, मान।
(७) घोर—सतानेवाला, भैरव, मत्सर।
(८) आस्यमोदक—मुंह लड्डू, अहंकार।

(संतान स्वर्ग के एक वृक्ष की संज्ञा है। इससे मद चुआया जाता था)। ये आठ दैवी अस्त्र जिसे बींध देते हैं, वह बिना मृत्यु के मर जाता है, बौरा जाता है या बेहोश हो जाता है।

केशी नामक एक ही कन्या थी। उसके योग्य कोई वर देवलोक या मनुष्य-लोक में जब पिता को नहीं मिला तो वह नागलोक में गया। मार्ग में नारद भी मिल गये और साथ हो लिये। वहां उन्होंने मातलि को वैष्णव चक्र और गाण्डीव धनुष दिखाया, जो दोनों अग्नि की ज्वालाओं से धधक रहे थे और देवता जिनकी रक्षा कर रहे थे। (६६।१८-१९)। ऐसे चमत्कारी अद्भुत रूप दिखाते हुए नारद ने नागलोक या पाताल में असुरों का हिरण्य-पुर दिखाया और अनेक नाग, असुर, सुपर्णों का दर्शन कराते हुए एक विष्णु-भक्त परिवार का परिचय कराया, जिसमें गरुड़ ने जन्म लिया था। उसके बाद रसातल में फेनपा नामक ऋषियों का दर्शन कराते हुए सुरूपा, हंसका, सुभद्रा और कामदुघा नाम की चार गउओं का परिचय कराया, जिनके दुग्ध से क्षीरसागर का निर्माण हुआ था, जिसे मथकर असुरों और देवों ने रत्नों को प्राप्त किया था। तब भोगवती नामक पुरी में वासुकि और शेष का दर्शन कराया। यहां ६० से अधिक नागों के नामों की एक सूची दी गई है। ज्ञात होता है कि यह किसी पुरानी अनुश्रुति का अंग थी। अंत में मातलि की निगाह सुमुख नाम के एक नागकुमार पर ठहरी और उसने अपनी कन्या उसे देनी चाही। सुमुख के पिता को गरुड़ ने खा डाला था। सुमुख के पितामह आर्यक ने उपयुक्त अवसर जानकर अपने पुत्र का जीवन माँगा। मातलि ने कहा, 'हमारी कन्या का और तुम्हारे पौत्र का सम्बन्ध तय रहा। तुम हमारे साथ स्वर्ग में इन्द्र के पास चलो। हम तुम्हारा कार्य करायंगे।' नागराज ने वैसा ही किया। सब लोग देवलोक में गये और वहां उन्होंने इन्द्र को देखा। संयोग से चतुर्भुजी विष्णु भी वहां इंद्र से मिलने आये हुए थे। नारद ने वह समस्या सुनाई। सुनते ही विष्णु ने इंद्र से कहा कि आर्यक को अमृत दो, जिससे उसका पुत्र जी उठे। इंद्र गरुड़ का पराक्रम समझकर सोच में पड़ गये और उन्होंने विष्णु से कहा कि आप ही दीजिए। विष्णु ने कहा, 'हे इन्द्र, तुम चराचर लोक के स्वामी हो। तुम्हारे दिये हुए को कौन उलट सकता है?' तब इंद्र ने उस नाग को आयु का वरदान दे दिया, किन्तु अमृत नहीं चखाया।

इससे आगे कथा एक नया मोड़ लेती है। गरुड़ ने जब इन्द्र के वरदान की बात सुनी तो वे आपे से बाहर हो गये। उन्होंने इन्द्र के पास

आकर कहा, "हे इन्द्र, ब्रह्मा ने हमारे भोजन का जो विधान किया है, उसमें वाधा डालने वाले तुम कौन हो ? यदि तुम इसी प्रकार हमारे साथ छेड़छाड़ करोगे तो हम प्राण त्याग देंगे। क्या तुम हमको इसलिए डपटते हो कि हम तुम्हारे छोटे भाई के नौकर हैं ? मेरे बल को देखो, मैं तुम्हारे भाई गरुड़ को अपने पंख की फुनगी पर वैठाकर ले जाता हूं।" विष्णु तो वहां थे ही। गरुड़ के दर्पयुक्त वचन सुनकर उन्हें भी ताव आ गया और उन्होंने कहा, 'हे गरुड़ ! मेरे सामने इस प्रकार अपने वल की डींग मारना उचित नहीं। तुम क्या, तीन लोक भी मेरा भार धारण नहीं कर सकते। मैं स्वयं अपने आपको और तुम्हें भी धारण करता हूं। तुम्हारी शक्ति हो तो केवल मेरी दाहिनी भुजा ही उठा लो। यदि ऐसा कर सको तो तुम्हारा दर्प सफल है।' यह कहकर विष्णु ने गरुड़ के कंधे पर अपनी भुजा रख दी। गरुड़ को ऐसा लगा, मानो समस्त पृथ्वी और पर्वतों का भार उन्हें दवा रहा हो। वे विह्वल हो गये और अपनी अल्पता जानकर उन्होंने विष्णु को प्रणाम किया, 'भगवन्, आपकी केवल एक भुजा ने मुझे पीस डाला। मुझे क्षमा कीजिए। मैंने आपका वल नहीं जाना'।"

कहानी सुनाकर कण्व ने फिर दुर्योधन को विष्णु के माहात्म्य के विषय में सावधान करना चाहा; पर दुर्योधन ने उनकी वात को हवा में उड़ाते हुए कहा, "अरे ऋषि, ब्रह्मा ने मुझे जैसा बनाया है, मैं वैसा हूं, वैसा ही रहूंगा। तुम व्यर्थ प्रलाप क्यों करते हो (१०३।३८) ?" कथासूत्र की दृष्टि से गरुड़ और इन्द्र की 'तू-तू' 'मैं-मैं' की यह कहानी नितान्त भौंड़ी है। विष्णु के माहात्म्य की मोहर दुर्योधन के मन पर लगाने के लिए इस प्रकार गरुड़ को ही निमित्त वनाना वहुत समीचीन नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि इन्द्र, विष्णु और गरुत्मा सुपर्ण (गरुड़) इन तीनों का जो वैदिक पृष्ठभूमि में ऐक्य सम्बन्ध था, उसे भागवतों ने कुछ अपने ढंग से ढाला है। कुषाण युग की कला में गरुड़ और नागों का संग्राम कई वार अंकित हुआ है, जिसमें गरुड़ विजयी दिखाये गए हैं। शक-यवन-संस्कृति में गरुड़ की अत्यन्त महिमा मानी जाती थी। उसी के उत्तर में गरुड़ के दर्पभंग की यह कथा पंचरात्र भागवतों द्वारा विरचित हुई, किन्तु विष्णु का वाहन होने से गरुड़ वैष्णवों के लिए भी पूज्य थे, अतएव उनके वल और

लोकव्यापी प्रभाव को इस प्रकार घायल करके छोड़ देना भी कथाकार को मनःपूत नहीं हुआ। तभी गालवचरित की एक नई कथा जोड़कर गरुड़ के माहात्म्य की पुनः प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया गया है। नारद भागवतों के आदर्श थे और वे ही इस अगली कथा के वक्ता हैं।

गालव- चरित

कौरवों की सभा में उपस्थित मुनियों में नारद भी थे। दुर्योधन को उपदेश देने की उनकी बारी आई, "हे कुरुनंदन, हितैषी सुहृद् दुर्लभ है। उसकी बात माननी चाहिए। हठ करना उचित नहीं, उसका परिणाम भयंकर होता है। एक कथा कहता हूँ, उसे सुनो। पहले विश्वामित्र ऋषि की गालव नाम के मुनि ने बहुत सेवा की। अपने शिष्य की भक्ति से विश्वामित्र प्रसन्न हुए और उसे जाने की अनुमति दी। गालव ने कुछ गुरु-दक्षिणा देनें की इच्छा प्रकट की। विश्वामित्र उसकी सेवा से ही प्रसन्न थे, पर गालव के बार-बार आग्रह करने से वे रुष्ट हो गये और उन्होंने ८०० श्यामकर्ण घोड़े, जिनका एक कान काला और शेष रंग श्वेत हो, लाने को कहा। गुरु की बात सुनकर गालव की तो भूख-प्यास जाती रही। वह सूखकर काँटा हो गया। चिन्ता में डूबा हुआ वह सोच रहा था कि मैंने आजतक किसी से कुछ नहीं मांगा, क्यों न मैं महायोगी सब देवों में श्रेष्ठ विष्णु की ही शरण में जाऊं? तत्काल उसके सामने गरुड़जी प्रकट हुए। गरुड़ ने उसकी इच्छा जानकर कहा, "भगवान् विष्णु सबकी कामना पूरी करते हैं। तुम जहाँ कहो, तुम्हारी कामनापूर्ति के लिए मैं तुम्हें वहाँ ले चलूं।" यह कहकर गरुड़ ने चारों दिशाओं के भूगोल का वर्णन किया (अ० १०६-१०६)।

दिक्-वर्णन

यह दिक्-वर्णन गुप्त युग की विशेषता थी। स्थल और जल से यात्रा करने वाले अनेक सार्थवाह और सांयात्रिक पोताध्यक्षों को इस प्रकार के

दिक्वर्णन की आवश्यकता पड़ती थी। उनके सगे-सम्बन्धी भी पुराणों की कथाओं के द्वारा इन्हें सुनना चाहते थे। अतएव इस प्रकार के छोटे-बड़े कई दिक्वर्णन उस समय रचे गए, जो साहित्य में पड़े रह गए हैं। महाभारत के सभापर्व में जो अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव इन चारों भाइयों की दिग्विजय का वर्णन है, उसमें कुषाण-गुप्त-युग के जल-थल मार्गों का विस्तृत उल्लेख है। उसी के आगे उपायन पर्व में भी दिक् वर्णन के आश्रय से उस समय की भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति और व्यापार का बहुत मूल्यवान् वर्णन सुरक्षित रह गया है। इसकी व्याख्या हम प्रथम भाग में विस्तार से कर चुके हैं (भारत सावित्री भाग १, पृष्ठ १३३-१४३, सभापर्व, अ० २३-२९; वही, पृष्ठ १५२-१५६, अ० ४५-४८)। इसी प्रसंग में 'वाल्मीकि रामायण' के किष्किन्धा कांड के दिग्वर्णन का भी स्मरण आता है (अ० ४०-४३), जिसमें यवद्वीप (जावा) के सप्त राज्य और सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) से लेकर मध्य एशिया की शैलोदा नदी (वर्तमान खोतन नदी, जहां यशब की खानें हैं) और उत्तर कुरु (चीनी तुर्किस्तान) तक का उल्लेख आया है।"

हरिमेधस् ऋषि की ध्वजवती कन्या का अर्थ

गरुड़ का यह दिग्वर्णन उन वर्णनों की अपेक्षा अधिक काल्पनिक और संक्षिप्त है, फिर भी पश्चिम दिशा के वर्णन में एक उल्लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है :

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात् ॥ (१०८।१३)

अर्थात् हरिमेधस् की ध्वजवती नाम की कुमारी कन्या सूर्य की आज्ञा से आकाश में खड़ी हो गई। यह श्लोक जितना क्लिष्ट और गूढ़ है, उतना ही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हरिमेधस् कौन हैं? उनकी कुमारी कन्या ध्वजवती कौन है? सूर्य के आदेश से वह आकाश में क्यों खड़ी है? इन तीन प्रश्नों का उत्तर भारतीय साहित्य में कहीं नहीं है। इनका उत्तर ईरानी पारसीक धर्म में है। 'अहुरमज्द' ईरानियों के सबसे बड़े देव हैं। उन्हें सासानी युग की पहलवी भाषा में 'हरमुज़' कहा गया। उन्हीं के लिए

गुप्तयुग की संस्कृत भाषा में 'हरिमेधस्' नाम का प्रयोग हुआ है। देव 'हरिमेधस्' का उल्लेख पश्चिम दिशा के सम्बन्ध में कितनी ही बार शान्ति पर्व के अन्तर्गत नारायणीय पर्व में आया है (३२३।१२, ३२५।४, ३३५।८ आदि)। वस्तुतः शक-कुषाण काल में सूर्य पूजा के साथ हरिमेधस् देव और उनके धर्म का साक्षात् परिचय भारतवासियों को प्राप्त हुआ था। इन्हीं अहुरमज्द की शक्ति या प्रभा ह्वरेनो कहलाती थी। उसका अंकन प्रभामंडल के भीतर होता था और उसके दोनों ओर फहराता हुआ पट या ध्वज दिखाया जाता था। इसी कारण यहां उसे ध्वजवती नाम दिया गया है। प्राचीन ईरानी और सासानी काल में इस प्रभारूपी शक्ति को युवती के रूप में आकाश में स्थित दिखाया गया है। अहुरमज्द या हरिमेधस् की उस शक्ति का प्रेमी सूर्य है, मानो सूर्य के लिए ही वह आजतक आकाश में व्याप्त है। मित्र या मिहिर की पूजा प्राचीन पारसी धर्म की विशेषता थी। शक-कुषाणों के समय में सासनी या उदीच्य वेशधारी सूर्य की अनेक प्रतिमाएं बनाई गईं। इनमें भी सूर्य के मस्तक से कन्धों के पीछे फहराता हुआ पट दिखाया जाता है, जो प्रायः सभी सासानी युग की मूर्तियों में देखा जाता है। गुप्तकला में भी वह बहुधा मिलता है। इसी पृष्ठभूमि में इस श्लोक की रचना हुई।

तत्पश्चात् गरुड़ की पीठ पर बैठकर गालव सर्वत्र हो आये, पर उन्हें घोड़े न मिले। तब वे गरुड़ की सलाह से ययाति राजा के यहां गये। प्रतिष्ठान के राजा ययाति ने कहा कि मेरे पास घोड़े तो नहीं, एक माधवी नामक कन्या है, उसे तुम ले जाओ। उसके विवाह-शुल्क में तुम्हें श्यामकर्ण अश्व राजाओं से प्राप्त हो जायंगे। गालव कन्या को लेकर पहले हर्यश्व नामक राजा के यहां गया और फिर काशिराज दिवोदास के यहां और इसी तरह अंत में भोजनगर के उशीनर राजा के यहां गया। प्रत्येक ने उसे दो-दो-सौ श्यामकर्ण अश्व दिये और अंत में शेष २०० घोड़ों के लिए उस माधवी कन्या को विश्वामित्र को ही अर्पण कर दिया। ययाति की कन्या माधवी के उपाख्यान के अन्त में स्पष्ट ही फलश्रुति का उल्लेख है। माधवी के चार पुत्रों ने अपने पुण्य फल से अपने नाना ययाति को स्वर्ग में भेजा। ज्ञात होता है कि यह उस कन्या का कोई दूसरा पुछल्ला था, जिसमें ययाति के स्वर्ग

जाने की और वहां से पुण्यफल क्षीण होने पर गिरने की कथा थी। ययाति का आख्यान प्रसिद्ध था और उसके दो भागों को पूर्व यायात और उत्तर यायात कहा जाता था (आदि० अ० ७०-८८), जैसा महाभाष्य (सूत्र ६।२।१०३) में आया है। ययाति कन्या माधवी के चार पुत्रों की कथा और उन दौहित्रों के पुण्य से ययाति की स्वर्गप्राप्ति उत्तर यायात आख्यान का उछटा हुआ अंग ज्ञात होता है। विश्वामित्र और गालव की कहानी के साथ उसका जोड़ नितान्त शिथिल है। भगवद्यान पर्व के साथ तो उसकी संगति किसी प्रकार बैठती ही नहीं। इसके कारण कथासूत्र के प्रवाह में असह्य विक्षेप उत्पन्न होता हैं।

(उद्योग पर्व समाप्त)

भीष्म पर्व

यहां से महाभारत के युद्ध की कथा आरम्भ होती है। भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य नाम के चार पर्वों में असली लड़ाई का वर्णन है। पूना संस्क-रण के अनुसार इनमें कुल मिलाकर ४१५ अध्याय और २२९१३ श्लोक हैं। मोटे तौर पर महाभारत की कुल ग्रन्थ-संख्या का यह लगभग चौथाई अंश होता है। इन पर्वों की एक विशेषता यह है कि इनमें बाहर की सामग्री कम-से-कम आने पाई है। 'भीष्मपर्व' का आरम्भिक भाग इसका अपवाद है। इस पर्व के कुल ११७ अध्यायों में पहले ४० अध्याय विषय की महत्ता की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं। उनमें से पहला है 'जम्बूखंड विनिर्माण पर्व' (अ० १-१३)। इसे 'भूमिपर्व' भी कहते हैं। इसमें प्राचीन भुवन कोश का सविस्तर वर्णन है। दूसरा 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर्व है, जिसमें प्राचीन भार-तीय अध्यात्म और दर्शन का निचोड़ भर दिया गया है और जो विचारों की गहराई, भाषा के प्रवाह और अनुभव की तीव्रता के कारण न केवल भारतवर्ष, बल्कि विश्व के साहित्य में अत्यन्त सम्मानित पद को प्राप्त

हुआ है। 'भगवद्गीता' के बाद तो शस्त्र-संपात शुरू हो जाता है और भीष्म ने दस दिन तक जो घोर युद्ध किया, उसका वर्णन पर्व के अन्त तक चलता है।

५३ : : भुवन कोश पर्व

(अ० १—१२)

इस पर्व में प्राचीन भारतीय भूगोल की विस्तृत सामग्री पाई जाती है। इसे हम सुविधा के लिए 'भुवनकोश' कह सकते हैं, जो नाम कई पुराणों में आता है। मत्स्य (अ० ११४), वायु (अ० ४५), ब्रह्माण्ड (अ० ४९), वामन (अ० १३) और मार्कण्डेय (अ० ५७) नामक पुराणों में भुवनकोश की सामग्री आई है। इन अध्यायों में विषय की दृष्टि से सामग्री के दो भाग हैं। एक तो भारत के बाहर के जो वर्ष और पर्वत थे, उनका वर्णन कहीं कम, कहीं विस्तार से किया गया है। जैसे भीष्म पर्व में ही शाक द्वीप का वर्णन बहुत विशद है। इसका कारण हो सकता है कि यह सामग्री शक-कुषाण-युग के प्रभाव से इस प्रकरण में आई हो। इस सामग्री का दूसरा अंश ठेठ भारतवर्ष के भूगोल से सम्बन्धित है, जिसमें पर्वत, नदी और जनपदों की विस्तृत सूचियां संगृहीत हैं। भारतीय भूगोल के विषय में इस प्रकार की दो सूचियां मिलती हैं। एक पुरानी और दूसरी नई। पुरानी सूची ही वस्तुतः पुराणों का भुवन कोश था। अनुमान होता है कि इस देश के नदी, जनपदों के नामों का संग्रह जनपद युग के अंत में ५०० ई० पूर्व के लगभग किया गया था। उसी समय पाणिनि ने भी पामीर पठार के कम्बोज जनपद से लेकर असम प्रदेश के सूरमस जनपद (सूरमा घाटी) तक के जन-पदीय भूगोल का अष्टाध्यायी में उल्लेख किया है। बाद में गुप्त युग के लगभग अनेक नई जातियां शक, यवन, तुषार आदि इस देश में आ गई थीं, तब बदली हुई परिस्थिति के अनुसार भौगोलिक नामों की एक नई सूची

बनाई गई, जिसे कूर्म संस्थान कहा गया। यह सूची बृहत् संहिता में मिलती है। मार्कण्डेय पुराण में पुरानी और नई दोनों सूचियां आगे-पीछे सुरक्षित हैं (अ० ५७-५८)। भीष्म-पर्व की नदी, जनपद सूची (अ० १२) पुरानी सूची का ही अवान्तर रूप है, कूर्म संस्थान से इसका सम्बन्ध नहीं है। पाठक देखेंगे कि इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है, जिसे स्पष्ट समझ लेने पर ही पृथ्वी के भूगोल की कुछ संगति लग सकेगी।

चतुर्द्वीपी भूगोल

मूल बात यह है कि प्राचीन भारतीय भूगोलवेत्ताओं ने पृथ्वी के भूगोल की दो प्रकार से व्याख्या की थी। एक को चतुर्द्वीपी भूगोल और दूसरे को सप्तद्वीपी भूगोल कहते हैं। चतुर्द्वीपी भूगोल की व्याख्या पुरानी थी, जो कि सम्भवतः वैदिक युग से चली आती थी। यह व्याख्या स्पष्ट, सरल और संक्षिप्त थी। जब आवागमन और व्यापार के कारण भारतीय जनता का परिचय मध्य एशिया के उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी देशों से बहुत अधिक बढ़ गया तो एक नए प्रकार से वर्ष और पर्वतों का क्रम बैठाया गया। इसके अन्तर्गत सात द्वीप, सात पर्वत और सात समुद्रों की कल्पना की गई। अकेले जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भी सात वर्ष मान लिये गए, जिनका स्पष्ट वर्णन हम आगे करेंगे। यदि पौराणिक लेखक चतुर्द्वीपी और सप्तद्वीपी भूगोल के वर्णनों को अलग-अलग रखते तो कोई उलझन न थी; किन्तु प्रायः सब पुराणों में और भीष्म पर्व में भी पुराने और नये दोनों वर्णनों का जोड़ लगाने के फेर में आपस में घोटाला हो गया। चतुर्द्वीपी भूगोल में पृथ्वी की उपमा चार पंखड़ियों वाले कमल से दी गई है (चतुष्पत्रं पार्थिवं पद्मम्)। इसे भीष्मपर्व में चक्रसंस्थान कहा गया है। इसका ठाठ इस प्रकार था—यह समस्त पृथ्वी एक परिमंडल के समान है।[1] इसके मध्य में मेरुपर्वत है। इस चक्र संस्थान की चार फांकें की जायं तो मेरु के चार पार्श्वों में चार द्वीप फैले हुए हैं—१. पूर्व में भद्राश्व, २. पश्चिम में केतुमाल,

---

१. परिमण्डलो महाराज द्वीपोऽसौ चक्रसंस्थितः। (६।१२)

स्वादुदसमुद्र
पुष्कर द्वीप
क्षीरसमुद्र
शाक द्वीप
दधिसमुद्र
क्रौंचद्वीप
घृत समुद्र
कुश द्वीप
सुरा समुद्र
शाल्मलि द्वीप
इक्षुरस समुद्र
प्लक्ष द्वीप
क्षार समुद्र
उत्तर कुरु
शृंगवान् प०
हिरण्मय वर्ष
श्वेत प०
रम्यक वर्ष
नील प०
सुपार्श्व प०
गंधमादन प०
निषध प०
हरिवर्ष
हेम कूट प०
किंपुरुष वर्ष
हिमवान् प०
भारतवर्ष
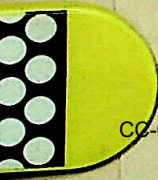
सप्तद्वीपी भूगोल

३. दक्षिण में जम्बूद्वीप और ४. उत्तर में उत्तर कुरु[२]। इनमें से प्रत्येक द्वीप के पर्वत, नदी, सरोवर एवं वन आदि के नाम अन्य पुराणों में मिलते हैं। जैसे—जम्बूद्वीप या भारतवर्ष में हिमवान् पर्वत, अलकनन्दा नदी, नन्दन वन, मानस सर एवं भगवान् का कच्छप रूप में अवतार हुआ है। पूर्व के केतुमाल वर्ष में ऋषभ, और पारियात्र पर्वत, स्वरक्षु नदी (वर्तमान वंक्षु या आक्सस नदी), वैभ्राज वन, शीतोद सर और वराह अवतार हुआ है। उत्तर कुरु में शृंगवान् और जारुधि पर्वत, महाभद्र सर और मत्स्य अवतार हुआ है। पूर्व के भद्राश्व द्वीप में देवकूट (चीनी थिएनशन) और जठर पर्वत, सीतानदी, चैत्ररथ वन, वरुणोद सर और हयग्रीव का अवतार हुआ है। पर भीष्म पर्व के लेखक ने इस प्रकार के ब्यौरे का संग्रह छोड़ दिया।

सप्त द्वीपी भूगोल

इसके बाद सप्तद्वीपी भूगोल के निर्माताओं ने सात वर्ष, सात पर्वत, सात समुद्र और सात द्वीपों की कल्पना करते हुए पृथ्वी के भूगोल का एक नया मानचित्र फैलाया। इसकी स्पष्ट रूपरेखा इस प्रकार है—सबके बीच में स्वर्णमय मेरु पर्वत है। उसे आजकल पामीर का बड़ा पठार कहा जाता है, जिसे प्राचीन परिभाषा में परम मेरु (१२।२४) और महामेरु (१२।२३) कहते थे। यहां भी मेरु को पृथ्वी का मध्य भाग माना गया। मेरु जिस भूभाग में था, उसकी संज्ञा इलावृत वर्ष या ऐरावत वर्ष हुई। मेरु के उत्तर में तीन वर्ष और तीन पर्वत एवं दक्षिण में भी तीन वर्ष और तीन पर्वत माने गये। यों इस परिमंडल में कुल सात वर्ष और सात पर्वत हुए। इन सबको मिलाकर जम्बूद्वीप कहा गया। इस नाम की व्याख्या में यह कल्पना की गई कि बीचोंबीच में कोई जम्बू नाम का महावृक्ष है, जिससे द्वीप का नाम जम्बू द्वीप प्रसिद्ध हुआ। उसके फलों का रस जिस नदी में मिलता है,

२. तस्य पार्श्वे त्विमे द्वीपाश्चत्वारः संस्थिताः प्रभो।
भद्राश्वः केतुमालश्च जम्बूद्वीपश्च भारत॥
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्य प्रतिश्रयाः॥ (७।११)

वह जम्बू नदी हुई और वहां की खानों से अर्थात् मध्य एशिया में जो स्वर्ण उत्पन्न होता था, वह जाम्बूनद स्वर्ण कहलाया।

मेरु के दक्षिण में सबसे पहले पूर्व से पश्चिम दिशा में, निषध पर्वत फैला हुआ है। उसके बाद हरिवर्ष है, फिर हेमकूट पर्वत है, जिससे सटा हुआ प्रदेश किंपुरुषवर्ष है। किंपुरुष के दक्षिण में हिमवान् पर्वत है, जिससे मिला हुआ भारतवर्ष है। अब मेरु के उत्तर की ओर क्रमशः चलें तो पहले नील पर्वत और रमणक वर्ष मिलेगा। रमणक वर्ष को रम्यक वर्ष भी कहा गया है। उसके उत्तर में दूसरे स्थान पर श्वेत पर्वत है, जिसके वर्ष का नाम हिरण्यमय वर्ष है। हिरण्यमय को हैरण्यवत भी कहा है और वहां की नदी हैरण्यवती कही गई है। उसके और उत्तर तीसरे स्थान पर श्रृङ्गवान् पर्वत पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ है, जिसके वर्ष का नाम उत्तरकुरु है। उत्तर-कुरु के बाद समुद्र है। वहां समुद्रान्त प्रदेश में शांडिली देवी का निवास है, जिसे सदा प्रकाशित रहने के कारण स्वयंप्रभा भी कहा जाता था।

उत्तरी ध्रुव की शांडिली देवी

यह उल्लेख कुछ आश्चर्यजनक है। ध्रुव प्रदेश में जो रंगबिरंगी उषा होती है और एक साथ महीनों तक जिसका प्रकाश बना रहता है, उसका यह वर्णन है। उधर की यात्रा करके आनेवाले व्यापारियों से यह परिचय प्राप्त हुआ होगा। जिसे आजकल 'अरोरा बोरिएलिस' (Arora Borealis) कहा जाता है उसी का प्राचीन भारतीय नाम शांडिली देवी था। शांडिली को अग्नि की माता कहा गया है। उत्तरी ध्रुव में रह-रहकर उठनेवाली आकाश को छूती हुई रंगबिरंगी लपटें ऐसी जान पड़ती हैं, मानो विना सूर्य और विना चन्द्र के अग्नि की माता की गोद में उसका तेजस्वी बालक खेल रहा हो। यही स्वयंप्रभा देवी शांडिली का दर्शन था, जिसकी ज्वालाओं की कीर्ति भारतीय भौगोलिकों के पास आ पहुंची थी।

जम्बूद्वीप का नया रूप

पाठक देखेंगे कि चतुर्द्वीपी भूगोल में जहां मेरु के उत्तर में उत्तरकुरु द्वीप और दक्षिण में भारत द्वीप या हैमवत द्वीप था, उन्हें ही फुलाकर तीन-तीन भागों में बांट दिया गया और उन्हें द्वीप न कहकर वर्ष कहा गया। अब पुराने चतुर्द्वीपी भूगोल के दो द्वीप बच गये। पूर्व का भद्राश्व और पश्चिम का केतुमाल। इन्हें ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया और यह मान लिया गया कि मेरु के चारों ओर का जो इलावृत वर्ष है उसके पूर्व में भद्राश्व वर्ष और पश्चिम में केतुमाल वर्ष है (मेरोस्तु पश्चिमे भागे केतुमालो महीपते, (७।२९, ८१३)। इस प्रकार तीन वर्ष बीचोंबीच में, तीन दक्षिण की ओर और तीन उत्तर की ओर मान लिये गए, और कुल मिलाकर ९ वर्षों की संख्या पूरी की गई। ये ९ वर्ष जम्बूद्वीप के ही अंग माने गये। प्रत्येक वर्ष के साथ एक-एक वर्ष पर्वत भी था, जो एक वर्ष को दूसरे वर्ष से अलग करता था। तदनुसार सात वर्षों के सात वर्ष पर्वत ऊपर कहे गए हैं। बीच में पश्चिम के केतुमाल वर्ष का वर्ष-पर्वत गन्धमादन एवं पूर्व के भद्राश्व वर्ष का वर्ष-पर्वत माल्यवान् कहा गया। इन दो वर्ष-पर्वतों का औरों से यह अन्तर था कि शेष सात पूर्व से पश्चिम की ओर फैले थे और ये दो उत्तर से दक्षिण की ओर। इस प्रकार बीच की मेरुसंज्ञक पठार भूमि चारों ओर से चार ऊंचे वर्षपर्वतों से घिरी हुई थी। उत्तर में नील, दक्षिण में निषध, पूर्व में केतुमाल और पश्चिम में माल्यवान्। आज जिसे हम मेरु या पामीर की ऊंची पठार भूमि कहते हैं, उसके लिए पुराना शब्द वेदि था। इसीलिए मेरु के उत्तर के तीन वर्षों को उत्तर वेद्यर्ध और दक्षिण के तीन वर्षों को दक्षिण वेद्यर्ध कहा जाता था। मेरु को स्वर्ण का पर्वत और शेष ६ को रत्न-पर्वत कहा जाता था (७।२, षडेते रत्न पर्वताः, ७।२०, १३।२६)।

इस प्रकार नौ वर्ष और नौ वर्ष-पर्वतों को मिलाकर भूमि की एक गोल इकाई मानी गई, जिसे जम्बूद्वीप, यह नया नाम दिया गया (तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बूद्वीपः सनातनः, ८।१९)। जम्बूद्वीप के चारों ओर का समुद्र क्षार समुद्र कहलाया। उसके बाद दूसरा प्लक्षद्वीप का घेरा, उसके

बाद इक्षुरस समुद्र, फिर तीसरा शालमलि द्वीप का घेरा, उसके बाद सुरा-समुद्र, फिर चौथा कुशद्वीप का मंडल, उसके बाद घृत-समुद्र, फिर पांचवां क्रौञ्च-द्वीप उसके बाद दधि-समुद्र, फिर छठा शाकद्वीप, उसके बाद क्षीर-समुद्र एवं सातवां पुष्कर द्वीप और उससे मिला हुआ मीठे जल का (स्वादूद) समुद्र था। इन द्वीपों और समुद्रों के नाम भीष्म पर्व में दिये गए हैं (१२।२-४, १३।२)। किन्तु ये नाम और यह वर्णन दूसरे पुराणों की तुलना में बहुत अधूरा है, जैसे द्वीपों की संख्या सात कहते हुए भी केवल पांच नाम गिनाये गए हैं और उस सूची में प्लक्ष और क्रौञ्च को छोड़ दिया गया है। इस दृष्टि से भीष्म पर्व का भुवनकोश प्रकरण वायु जैसे प्राचीन पुराण की तुलना में बाद का है और उससे घटकर है। न इसमें उतनी सूचनाएं हैं और न स्पष्टता। शेष द्वीपों के वर्णन भी छोड़ दिये गए हैं, केवल उत्तर कुरु वर्ष और उससे भी अधिक शाकद्वीप का वर्णन महत्त्वपूर्ण भौगोलिक और सांस्कृतिक सूचनाओं से भरा है।

उत्तर कुरु द्वीप

उत्तर कुरु प्रदेश की ठीक स्थिति कहां थी, इसे समझाना आवश्यक है। चतुर्द्वीपी भूगोल के अनुसार मध्यवर्ती मेरुपर्वत के उत्तर की समस्त भूमि उत्तरकुरु कहलाती है अर्थात् पामीर पठार से उत्तरी ध्रुव तक का सारा भूभाग किसी समय उत्तरकुरु के नाम से प्रसिद्ध था। जब सप्तद्वीपी भूगोल में इसे तीन भागों में बांट दिया गया, तो सबसे उत्तरवाला प्रदेश उत्तरकुरु कहलाता रहा। इससे यह सूचित होता है कि पामीर के उत्तर में जो चीनी तुर्किस्तान का बहुत लम्बा चौड़ा भूभाग है, वह सब और उसके उत्तर में 'साइबीरिया' की जो विस्तृत, गहन वन-भूमियां हैं, वे सब 'उत्तरकुरु' इस भौगोलिक नाम से प्रसिद्ध थीं। इस प्रदेश में शक जाति का आरम्भिक निवास-स्थान था, जो कालान्तर में पामीर पठार की ओर सरकती हुई क्षीरोद समुद्र (मध्यकालीन शीरवान, वर्तमान कास्पियन सागर) तक फैल गई। पीछे पामीर से क्षीरोद तक का प्रदेश शाकद्वीप नाम से प्रसिद्ध हो गया। संयोग से उत्तरकुरु और शाक द्वीप इन दो का ही विस्तृत वर्णन

भीष्मपर्व के भूगोल में बचा है।

उत्तरकुरु के सम्बन्ध में एक बहुत पुरानी अनुश्रुति चली आती थी, जो लगभग काल्पनिक है, अर्थात् इतिहास का अंश इसमें प्रायः नहीं है, जबकि शाक द्वीप का वर्णन इतिहास के दृढ़ आधार पर टिका है।

ऐसी मान्यता थी कि उत्तरकुरु में कुछ ऐसे कल्पवृक्ष होते हैं, जो वहां के निवासियों के भोजन, वस्त्र आदि सब आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं (सर्वकामफला वृक्षाः ८।४)। उनसे छहों रसवाले भोज्य पदार्थ, पहनने के दुकूल आदि वस्त्र और नाना प्रकार के आभूषण उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से स्त्री और पुरुषों के मिथुन या युगल जन्म लेते हैं, जो सदा स्वस्थ रहकर सहस्रों वर्ष जीवित रहते हैं। उत्तरकुरु एक ऐसा आदर्श लोक था, जहां अनायास सब प्रकार की सुख समृद्धि प्राप्त हो जाती थी। यह कल्पना लोकप्रिय हुई और अन्यत्र भी इसका वर्णन मिलता है। वाल्मीकि रामायण में जब सुग्रीव ने अपने वानर दल को उत्तर दिशा में भेजा तो उसने वहां के उत्तर-कुरु देश का इसी प्रकार का रोचनात्मक वर्णन किया (किष्किन्धा का० ४३-४८)। वायुपुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन है (४५।११-५०)। पाली साहित्य में भी ऐसी ही प्राचीन अनुश्रुति चली आती थी (महावाणिज जातक सं० ४९३)।

शाकद्वीप

सप्तद्वीपी भूगोल के नए संस्करण में 'शाकद्वीप' का तथ्यात्मक वर्णन जोड़ दिया गया, जो उस समय की आंखों-देखी सूचनाओं के आधार पर इकट्ठा किया गया था। शाकद्वीप के साथ इस प्रकार का परिचय एक ओर यूनानी इतिहास-लेखक हीरोदोतस को ज्ञात था, जैसा उसके इतिहास से प्रकट होता है। दूसरी ओर ईरान सम्राट् 'दारा' को भी ऐसा ही परिचय था, जैसा उसके 'भगस्थान' (बिहिश्तून) और 'शूषा' के लेखों से विदित होता है। तीसरी ओर भारतवर्ष का भी शकों के साथ प्रथम परिचय लगभग छठी शती ईसवी पूर्व से आरम्भ हो गया था, इसके कुछ प्रमाण पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' में मिलते हैं, जैसे ५ सूत्रों में आया हुआ 'कन्था' शब्द, जो

नगर के अर्थ में शक भाषा का शब्द था। अतएव भारतीय भुवन कोश में शाकद्वीप का जो वर्णन मिलता है, वह भी लगभग छठीं-५वीं शती ई० पूर्व में संकलित हुआ होगा। आगे चलकर पहली शती विक्रम पूर्व में तो शक स्थान से आये हुए, शक क्षत्रपों ने तक्षशिला, मथुरा और उज्जैनी में अपने राज्य जमा लिये। उस समय उनके धर्म और संस्कृति का गाढ़ा परिचय भारतवासियों को हुआ, जिसका छिपा हुआ वर्णन महाभारत के 'नारायणी-पर्व' में आया है और कुछ प्रकट वर्णन भविष्यपुराण के 'ब्राह्मपर्व' में विस्तार से आया है (अ० ५८-९५)।

शाकद्वीप का सम्बन्ध क्षीरोद समुद्र के साथ बार-बार दोहराया गया है (१२।९)। यह शाकद्वीप का स्थान समझने की कुंजी है। आजकल के 'कास्पियन सागर' का प्राचीन नाम क्षीर-सागर था। इसका प्रमाण यह है कि 'मार्कोपोलो' के समय तक यह क्षीरवान् नाम से प्रसिद्ध था। एक बार इस पहचान को स्वीकार कर लेने पर शाकद्वीप की स्थिति 'कास्पियन' से मध्य एशिया तक के प्रदेश के बीच में ठहरती है और शाक द्वीप से सम्बन्धित नदी और पर्वतों की अधिकांश पहचान मिल जाती है। 'दारा प्रथम' के लेख में 'कास्पियन समुद्र' के आसपास बसे हुए शकों को 'शका तर-दरिया' और 'शका पर-दरिया' कहा गया है। फारसी में दरिया समुद्र के लिए है, जिसका अभिप्राय 'कास्पियन सागर' से ही था। वे ही भारतीय भूगोल में 'क्षीरोद सागर' के शक कहलाये। और शाकद्वीप ही यूनानी लेखकों का 'सीथिया' हुआ। शाकद्वीप में सात पर्वत कहे गए हैं—१. परममेरु, २. मलय, ३. जलधार, ४. रैवतक, ५. श्याम, ६. दुर्गशैल और ७. केसरी (१२।१४-२१)। इन्हीं नामों की दूसरी सूची भी तुरन्त आगे (श्लोक २३-२४) दी गई है। उसमें मलय का पाठ 'जलद' है। और ६ठें 'दुर्गशैल' का नाम छूटा हुआ है। 'मत्स्य और वायु पुराण' में 'जलद' का पाठ 'उदय' है और भीष्म पर्व के कुछ हस्तलेखों में मलय की जगह जलद पाठ ही है। ज्ञात होता है, मूल नाम जलद ही था, जैसा कि मत्स्य के इस उल्लेख से कि वहां वृष्टि के लिए मेघ आते हैं और चले जाते हैं, ज्ञात होता है। वायु पुराण से यह भी संकेत मिलता है कि इन द्वीपों के पर्वतों, वर्षों और नदियों के नाम दो-दो प्रसिद्ध थे, जिसे द्विनामवती शैली कहा है (मत्स्य०

१२२।७०)। भीष्म पर्व की दूसरी सूची में पर्वतों के साथ वर्षों का भी उल्लेख है; किन्तु उसमें केवल पांच नाम हैं, जो इस प्रकार हैं :

पर्वत नाम पहली सूची	पर्वत नाम दूसरी सूची	वर्ष	सूची-मत्स्य०	वायु०	नदी सूची
१. परम मेरु	१. महामेरु	×	मेरु	मेरु	
२. मलय	२. जलद	कुमुद	उदय	उदय	
३. जलधार	३. जलधार	सुकुमार	जलधार	जलधार	सुकुमारी
४. रैवतक	४. रैवत	कौमार	×	रैवतक	कुमारी
५. श्याम	५. श्याम	मणीचक	श्याम	श्याम	मणिजल
६. दुर्गशैल			दुर्गशैल	दुर्गशैल (आम्विकेय)	
७. केसरी	७. केसर	मोदाकी	विभ्राज	केशरी	

पर्वत और वर्षों की पहचान यथासंभव इस प्रकार है—चतुर्द्वीपी और सप्तद्वीपी भूगोल का मध्य-बिन्दु जो महामेरु था वही यहां परममेरु या पामीर का पठार है। यह तथ्य है कि किसी समय शकों का राज्य मेरु के चारों ओर फैला हुआ था और वे वंक्षु नदी के किनारे बसे थे। वहां से १६० ई० पूर्व के लगभग उन्हीं की एक दूसरी प्रबल ऋणिक संज्ञक शाखा ने उन्हें पामीर से खदेड़ दिया और तब शक भाग कर ईरान और अफगानिस्तान की सीमा पर शकस्थान में बस गये। 'जलद पर्वत' का सम्बन्ध 'कुमुद वर्ष' से था, जिसकी पहचान टालमी के 'कोमेदाई पर्वत' से स्पष्ट है, जो 'सीर नदी' और 'आमू नदी' के उद्गम-स्थानों के बीच में था। 'स्टाइन' ने कुमुद नदी की पहचान 'वखशाव नदी' और 'कारातिगिन' तथा 'आक्सस नदी' के बीच की भूमि से की है। जलधार पर्वत और सुकुमारवर्ष इसी से मिलते हुए ऊपर की दोनों नदियों के बीच में कुछ पश्चिम की ओर रहे होंगे, जिसे टालमी ने 'कोमाराई' कहा है। 'श्यामगिरि' 'मुस्ताग' पर्वत था। 'मुस्ताग' का अर्थ 'काला पर्वत' है। 'अवस्ता' में भी श्यामक-पर्वत का उल्लेख आता है। 'दुर्गशैल' को आम्बिकेय भी कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि वहां 'दुर्गा' या 'मातृदेवी' का कोई पुराना मन्दिर था। केसरी और मोदाकी के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता, केवल इतना सूचित होता

है कि काश्मीर की तरह वहां भी 'केसर' की खेती होती थी। शाक द्वीप को सात नदियों के नाम दिये गए हैं—सुकुमारी, कुमारी, सीता, कावेरका, महानदी, मणिजला, इक्षुवर्धनिका। विष्णुपुराण के अनुसार 'सीता' मेरु के पूर्व की ओर और चक्षु पश्चिम की ओर बहनेवाली नदियां थीं (विष्णु० २।२।३५-३७)। यह चतुर्द्वीपी भूगोल का वर्णन था, जो सप्त द्वीपी भूगोल में भी बचा रहा। इक्षु, चक्षु, वक्षु या वंक्षु, ये सब एक ही बड़ी नदी की संज्ञाएं हैं, जिसे आजकल 'आक्सस' कहते हैं। 'सीता' को चीनी लेखकों ने 'सीतो' कहा है, जो वर्तमान 'यारकन्द नदी' है। 'मणिजला' शैलोदा नदी का ही दूसरा नाम जान पड़ता है, जिसकी पहचान पश्चिम की ओर बहनेवाली 'जरफशां नदी' से की जाती है, जिसपर समरकन्द स्थित है। 'आक्सस' (आमू) और सीर नदी के बीच में 'जरफशां नदी' वहती है। इस नदी के पास में श्वेत यशब की खानें थीं; जहां से वह भारत, चीन तथा अन्य देशों को जाता था। कावेर का नाम संदिग्ध है। उसका पाठ मत्स्य० में 'वेणुका और वायु० की एक प्रति में 'वेनिका' भी मिलता है। सम्भवतः यह वही प्रदेश था, जहां होनेवाले मोटे बांसों को संस्कृत साहित्य में 'कीचक वेणु' कहा गया है और जिनका उल्लेख रामायण और महाभारत दोनों में आया है (रामायण किष्किन्धा ४३।३७, सभापर्व ४८।२)। यह प्रदेश मेरु और मन्दर अर्थात् 'पामीर' और 'अल्ताइताग' के बीच में कहीं था।[1] इसी प्रकरण में शकों के चार जनपदों का उल्लेख है—मग, मशक, मानस और मन्दग। मगों को ब्राह्मण, मशकों को क्षत्रिय, मानसों को वैश्य और मन्दगों को शूद्रों की कोटि में रखा गया है। अपने देश में शाकद्वीपी ब्राह्मण अभी तक मग कहे जाते हैं। 'मशक' यूनानी लेखकों के 'मस्सग' थे। शाकद्वीप के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूण बात यह कही गई है कि वहां शिव की पूजा होती थी (पूज्यते तत्र शंकरः, १२।२६)। मथुरा में कुषाण जाति के जिन शकों का राज्य हुआ, वे शिव के बड़े भक्त थे। 'वेम तक्षम' के सिक्कों पर उसे माहे-

---

१. मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम्।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यां उपासते॥
(सभा० ४८।२)

श्वर कहा गया है और उन सब पर नन्दी वृष के सहारे खड़े हुए नन्दिकेश्वर शिव की मूर्ति है। ज्ञात होता है कि ये लोग मध्य एशिया से ही शिव की पूजा अपने साथ लाये थे।

भारतवर्ष

धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया कि कुरुक्षेत्र के संग्राम में कौन-कौन से राजा इकट्ठे हुए, जो लोभी दुर्योधन और उसी प्रकार लोभ से सने हुए पांडवों की सहायता करने की इच्छा से आये थे। उत्तर में संजय ने भारतवर्ष के भूगोल का विस्तृत वर्णन किया (अ० १०)। पुराणों में भी यह वर्णन आता है, पर वहां वह अधिक क्रमबद्ध है। जैसा सप्तद्वीपों के वर्णन में हुआ है, ऐसे ही यहां भी भीष्म पर्व के लेखक का स्तर कुछ नीचा ही है। नदियों के नाम यहां की सूची में अवश्य अधिक हैं, पर उनके पर्वतीय उद्गमों का वर्गीकृत नामोल्लेख नहीं है, जैसा कि पुराणों में है। जनपदों के नामों में भी क्रम का निर्वाह अधूरा ही है। आरम्भ में भारत वर्ष की प्रशस्ति बहुत ही तेजस्वी शब्दों में दी गई है :

अत्र ते वर्णयिष्यामि वर्षं भारत-भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च॥
(१०१५)

पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च॥
(१०१६)

तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा॥
(१०१७)

कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च॥
(१०१८)

अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ॥

(१०।९)

अर्थात्, हे भारत, अब मैं तुमसे उस भारतवर्ष का बखान करूंगा, जो भारत देवराज इन्द्र को प्यारा है, विस्ववान् के पुत्र मनु ने जिस भारत को अपना प्रिय पात्र बनाया था;

हे राजन्, आदिराज वैन्य पृथु ने जिस भारत को अपना प्रेम अर्पित किया था और महात्मा राजर्षिवर्य इक्ष्वाकु की जिस भारत के लिए हार्दिक प्रीति थी;

प्रतापी ययाति और भक्त अम्बरीष, त्रिलोकविश्रुत मांधाता और तेजस्वी नहुष जिस भारत को अपने हृदय में स्थान देते थे;

सम्राट मुचुकुन्द और औशीनर शिवि, ऋषभ, ऐल और नृपति नृग जिस भारत को चाहते थे;

हे दुर्धर्ष, महाराज कुशिक और महात्मा गाधि, प्रतापी सोमक और व्रती दिलीप जिस भारत के प्रति भक्ति रखते थे, उसे मैं तुमसे कहता हूं।

हे महाराज, अनेक बलशाली क्षत्रियों ने जिस भूमि को प्यार किया है तथा और सब भी जिस भारत को चाहते हैं :

हे भरतवंश में उत्पन्न, उस भारत को मैं तुमसे कहता हूं।

ऊपर लिखी हुई भारत-प्रशस्ति केवल भीष्म पर्व में है। अन्य पुराणों में एक नई प्रशस्ति भुवनकोश के अन्तर्गत मिलती है, जिसमें गुप्तकालीन भारतवर्ष के सांस्कृतिक यश का उल्लेख उपलब्ध होता है और जिसका एक प्रसिद्ध श्लोक यह है :

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

स्वर्ग के देवों से भी भारत का मानव ऊंचा है और देवता भी यहां जन्म लेना चाहते हैं, यह स्वर्णयुग की लोक-व्यापी भावना थी।

पर्वत-सूची

आरम्भ में सात 'कुलपर्वतों' के नाम हैं। वर्ष-पर्वत एक वर्ष या बड़े भूखंड को दूसरे वर्ष से अलग करते हैं। इनकी संख्या भी सात है। कुल-पर्वत वे हैं, जो देश के भीतर ही उसकी प्रादेशिक सीमाएं सूचित करते हैं, इनके नाम ये हैं :

महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षपर्वत, विन्ध्य और पारियात्र (९।११)। इनमें से कलिंग या उड़ीसा से शुरू होनेवाली पूर्वी घाट की पर्वत-श्रृंखला का पुराना नाम महेन्द्र था। आज भी 'गंजम' के समीप वह 'महेन्द्र मलै' कहलाता है। मलै दक्षिण भारत के पर्वतों की संज्ञा थी, जिसमें 'नल्लमलै', 'अन्नमलै' और 'एलामलै' आदि कावेरी के दक्षिण की चोटियां सम्मिलित थीं। सह्याद्रि उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ पश्चिमी घाट का प्रसिद्ध पर्वत है जो आज भी सारे महाराष्ट्र और कन्नड़ में इसी नाम से प्रसिद्ध है। शुक्तिमान्, ऋक्ष और पारियात्र इन तीन नामों की निश्चित पहचान करना भारतीय भूगोल के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शुक्तिमान् सह्याद्रि के उत्तरी छोर से कुछ पहले पूर्व की ओर बढ़ी हुई उसकी वाहियां ज्ञात होती हैं, जिसमें खानदेश की पहाड़ियां, अजन्ता एवं काफी भीतर घुसा हुआ हैदरावाद गोलकुण्डा पठार भी सम्मिलित हैं। वर्तमान खानदेश का पुराना नाम 'ऋषिक' था। शुक्तिमान् पर्वत से निकलनेवाली नदियों में ऋषिका नदी मुख्य है। ऋषिका ऋषिक जनपद में बहनेवाली ही कोई नदी होनी चाहिए। ऋक्ष पर्वत सह्याद्रि के ठीक उत्तरी छोर ताप्ती के दाएं किनारे पर वर्तमान सतपुड़ा से लगाकर महादेव पहाड़ियों के पूर्वी सिलसिले तक कुल पर्वत-श्रृंखला का नाम था। मध्य प्रांत की इस गांठ से निकलनेवाली नदियों में ताप्ती, वेण्या (वेनगंगा) इस पहचान को पुष्ट करती हैं। उड़ीसा की ब्राह्मणी और वैतरणी नदी का उद्गम भी ऋक्ष पर्वत से था। इससे ज्ञात होता है कि छोटा नागपुर की पहाड़ियों का रांची तक बढ़ा हुआ सिलसिला ऋक्ष पर्वत के ही अन्तर्गत था। ऋक्ष के पूर्वी छोर से उत्तर की ओर घूमकर नर्मदा के उत्तर की पर्वत-श्रृंखला विन्ध्याचल है, जिससे शोण, नर्मदा, महानदी, मध्यभारत की टौंस (तमसा)

और धसान (दशार्ण) आदि नदियां, जो सोन और सिन्ध के बीच में बिखरी हुई हैं, निकलती हैं। भारतवर्ष के कुल पर्वतों में, जो दक्षिणी पठार की सीमाओं पर और उसके भीतर फैले हुए हैं, प्रायः सबकी पहचान इन ६ नामों में आ जाती है। अब केवल एक नाम 'पारियात्र' और एक ही पहाड़ी बच जाती है और वह है 'अड़ावला' पहाड़ी। श्री पार्जीटर ने यह प्रमाणित किया है कि भोपाल से पश्चिम विन्ध्याचल के पश्चिमी भाग से लेकर राजपूताने के 'अड़ावला' (अरावली) पहाड़ तक का सिलसिला पारियात्र था, जैसा कि उससे निकलनेवाली नदियों के नाम से निश्चित रूप से ज्ञात होता है। इनमें पर्णाशा (बनास नदी), वेत्रवती (वेतवा), चर्मण्वती (चम्बल), मही, पार्वती मुख्य हैं, जो अभी तक पुराने नामों से प्रसिद्ध हैं और इस कारण पारियात्र और अड़ावला की पहचान का निश्चित संकेत देती हैं।

नदी-सूची

भीष्म पर्व की नदी-सूची में १५० से कुछ अधिक नाम हैं। पुराणों में यह बताया है कि किस नदी का स्रोत किस कुल पर्वत में है। इससे पुराने नामों की पहचान में सुविधा मिलती है, पर वर्तमान सूची में जनपद-नामों की भांति नदी-नामों का भी कोई वर्गीकरण नहीं पाया जाता और इससे केवल लेखक की असावधानी सूचित होती है।

एक ओर से चला जाय तो इस सूची में उत्तर पश्चिम की सबसे बड़ी नदी 'सिन्धु' और उसकी ५ शाखा नदियों के नाम आए हैं, जैसे—वितस्ता (झेलम), इरावती (रावी), चन्द्रभागा (चिनाब), विपाशा (व्यास) और शतद्रु (सतलज)। पंजाब की बड़ी नदी 'देविका' (वर्तमान देग नदी) भी इस सूची में है, जो जम्मू की ओर से आती हुई काफी आगे चलकर रावी में मिल जाती है और जिसके किनारे होनेवाले धान सारे पंजाब में प्रसिद्ध हैं और पाणिनि ने भी जिनका उल्लेख किया है। सिन्धु के उस पार की शाखा नदियों में वरा (पेशावर की बारा नदी), सुवास्तु (प्राचीन उड्डियान या स्वात नदी की स्वात नदी), गौरी (वर्तमान पंजकोरा, यूनानी गोरिअस)

और पंचमी (वर्तमान पंजशीर) का नामोल्लेख है। यह आश्चर्य है कि इसमें इन सबसे बड़ी कुभा (कावुल नदी) का नाम नहीं है, जिसे 'कुहू' भी कहा जाता था और जिसके तटवासी 'कुहक' कहलाते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतवासी अपने देश की सीमा मध्य एशिया में मेरुपर्वत या पामीर पठार तक मानते थे, जिसकी भूमि कम्बोज जनपद कहलाती थी। यद्यपि दूसरे प्रसंग में कम्बोज की वंक्षु नदी का नाम महाभारत के भीष्म पर्व में आया है, किन्तु इंस नदी-सूची में वह नहीं है। वाहीक या पंचनद प्रदेश के वाद हम सरस्वती नदी के प्रस्रवण क्षेत्र में आते हैं। सरस्वती का उद्गम नाहन की पहाड़ियों से आगे है जिसे वैदिक साहित्य में प्लक्ष प्रस्रवण कहा गया है। सरस्वती कुरुक्षेत्र की प्रधान नदी है, किन्तु उत्तरी राजस्थान में पहुंचकर यह वालू में खो जाती है, जिसे पूर्वकाल में विनशन कहते थे और फिर कई वार इसकी धारा प्रकट हो जाती है और इस प्रकार के स्थानों को प्राचीन परिभाषा में उद्भेद कहा जाता था। सरस्वती की सहचारिणी बड़ी धारा दृषद्वती है, जिसे कुरुक्षेत्र की सीमा कहना चाहिए। इस समय जो चितांग (प्राचीन चित्रांगा) या घग्घर (गर्गरा) नदी है, वही प्राचीन दृषद्वती ज्ञात होती है। यह भी आगे जाकर वालू में खो जाती है। कुरुक्षेत्र की ही दूसरी नदी ओघवती का नाम इस सूची में है, जो सरस्वती की शाखा मार्कण्डा नदी है।

नदी-सूची की दृष्टि से गंगा-यमुना के कांठे के नाम सबसे अधिक हैं। गंगा अन्तरवेदि की मुख्य धारा है। यमुना उसकी सबसे बड़ी सहायक नदी है। गंगा की उपरली धारा अलकनन्दा कहलाती है, जिसका स्रोत गन्धमादन और वदर पर्वत के पास है, जिसका उल्लेख वन पर्व के तीर्थयात्रा पर्व में आ चुका है। हिमालय में अलकनन्दा, मन्दाकिनी, जाह्नवी और भागीरथी ये चारों धाराएं अलग-अलग हैं, जो एक ही विस्तृत प्रस्रवण-क्षेत्र के हिमगलों का जल लेकर परस्पर मिलती हुई गंगा नामक एक धारा के रूप में प्रवाहित होती हैं। देवप्रयाग से गंगा नाम पड़ जाता है और यही धारा कनखल के पास शैलराज हिमवन्त के पितृगृह से बाहर आकर मैदान में उतरती है। इस सूची में उन चारों में से कोई भी नाम नहीं आया। बाईं ओर से आकर गंगा में मिलनेवाली शाखा नदी इस प्रकार हैं— [illegible]

(रामगंगा), गोमती, सरयू, सदानीरा (राप्ती), कौशिकी (बिहार की कोसी नदी)। इनके अतिरिक्त इक्षुमालिनी (फर्रुखाबाद जिले की ईखन नदी), करीषणी (मेरठ की बाघपत तहसील में करीसन नदी) हैं। कुछ विद्वान् बाहुदा की पहचान बूढ़ी राप्ती से और धूतपापा की बनारस प्रदेश में बहनेवाली गंगा छोटी शाखा नदी से करते हैं। शतकुम्भा गंगा और सरयू के बीच की कोई छोटी नदी थी। वेदस्मृति का दूसरा नाम यदि वेदश्रुति हो तो वह कोसल जनपद की बिसूई नामक नदी होनी चाहिए, जो गोमती से १५ मील दूर एक छोटी धारा है और जिसे श्रीराम ने गोमती और तमसा के बीच में पार किया था। वाराणसी (काशी) की सुप्रसिद्ध वरुणा और अस्सी नामक सुप्रसिद्ध धाराएं हैं।

यमुना के दाहिने किनारे पर विन्ध्याचल से आनेवाली बहुत-सी छोटी-बड़ी नदियां मिली हैं, जैसे—चर्मण्वती (चम्बल), सिंध (काली सिंध), वेत्रवती (वेतवा)। वेत्रवती की छोटी शाखा विदिशा (वर्तमान बेस नदी) का भी इस सूची में नाम है। बेस और बेतवा के संगम पर भेलसा नगर है। जहां प्राचीन विदिशा राजधानी थी। परा की पहचान चम्बल की शाखा पार्वती से की जाती है। चम्बल की ही एक महत्त्वपूर्ण शाखा पर्णाशा (आधुनिक बनास), और दूसरी छोटी शाखा 'शीघ्रा' या क्षिप्रा है। इसके तट पर उज्जैनी नगरी बसी हुई है, और यही इसकी प्रसिद्धि का कारण है। यमुना की तीन शाखा नदियां इस सूची में और हैं, तमसा (टोंस नदी), शुक्तिमती (मध्यभारत की केन नदी) और पुष्पवती (मध्यभारत की पहूज नदी)। चित्रकूट के पास बहनेवाली छोटी नदी मन्दाकिनी भी इस सूची में है, जो पयस्विनी (वर्तमान पैंसुनी) में मिलती है और फिर पयस्विनी केन और टोंस के बीच यमुना में मिल जाती है।

गंगा में उत्तर से आकर मिलनेवाली दो छोटी, पर महत्त्वपूर्ण नदियों के नाम इस सूची में हैं, एक ताम्रा (तामड नदी) और दूसरी कोका। ताम्रा विश्व के भूगोल में सबसे अधिक प्रसिद्धि पाने योग्य है। इसने अपने लिए पहाड़ में इतनी गहरी घाटी काटी है कि नदी की उपरली धारा झूलती जान पड़ती है। इसका स्रोत सिक्किम के पश्चिम में है। इसी के साथ गौरीशंकर चोटी की ओर से उतरने वाली अरुणा नदी है। दोनों

'सुनकोसी' नदी के साथ जहां मिली हैं, वह ताम्रारुण संगम के नाम से प्रसिद्ध था और वहीं कोकामुख स्वामी नामक देवता का प्रसिद्ध मन्दिर और तीर्थ था। उसके समीप इस धारा को कोका भी कहते थे, जिसका विशेष उल्लेख भीष्म पर्व की नदी-सूची में है। बंगाल में कई अच्छी नदियां उत्तर की ओर से गंगा में मिली हैं, किन्तु इस सूची में केवल करतोया का नाम है, जो आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है और बंगाल-असम की सीमा बनाती है। उस पार भारत का महान् नद ब्रह्मपुत्र है, जिसकी शाखा लोहित्या (वर्तमान लोहित नदी) का यहां उल्लेख है। दक्षिण की ओर से गंगा में मिलनेवाला महानद शोण (वर्तमान सोन) है। इसे हिरण्यबाहु भी कहते थे। यहां स्त्रीलिंग में इसे शोणा कहा गया है। शोण की एक प्रसिद्ध शाखा अमरकण्टक की ओर से आकर उसमें मिली है। उसका पुराना नाम ज्योतिरथा था, जिसे आजकल जोहिला कहते हैं। कालिदास ने शोण और ज्योतिरथा के संगम का विशेष उल्लेख किया है, (रघुवंश ७।३६), जहां मल्लिनाथ ने ज्योतिरथा से अपरिचित होने के कारण पाठ बदलकर भागीरथी कर दिया है। स्वयं महाभारत में भी शोण और ज्योतिरथा के संगम को पवित्र तीर्थ-स्थान कहा है (आरण्यक ८३।९)।

विंध्य की बड़ी नदियों में नर्मदा का नाम आया है और अमरकण्टक से निकलने पर उसकी बिल्कुल आरम्भिक धारा कपिला का भी नाम है। दूसरी नदी पयोष्णी है, जिसकी पहचान ताप्ती से की जा सकती है, क्योंकि ताप्ती का नाम सूची में नहीं है। वस्तुत: सूची में पयोष्णी नाम दो बार है। कुछ विद्वान् पयोष्णी की पहचान पेनगंगा (गोदावरी की शाखा) से भी करते हैं। कई पुराणों में पयोष्णी और ताप्ती दोनों नाम साथ आये हैं। अतएव यह सम्भव है कि ताप्ती के अतिरिक्त किसी दूसरी नदी की संज्ञा भी पयोष्णी रही हो। एक छोट नदी पलाशिनी (वर्तमान परास नदी) है। यह छोटा नागपुर जिले में बहकर कोयल नदी में मिलती है, जो स्वयं शोण की शाखा है। दूसरी पलाशिनी नदी (वर्तमान पलाश्यों) रैवतक या गिरनार पर्वत के पास थी, पर वह इस सूची में अभीष्ट नहीं है।

छत्तीसगढ़ के ढलानों का जल लेकर बहनेवाली महती धारा की संज्ञा आज भी महानदी कहलाती है, जो उड़ीसा की प्रधान नदी है। उड़ीसा की

अन्य नदियों में वैतरणी (वर्तमान वैतरनी, जिसके किनारे जाजपुर है), ब्रह्माणी (वर्तमान ब्राह्मणी नदी, सम्भलपुर के निकट), ऋषिकुल्या (जिसपर वर्तमान गंजम नगर है) के नाम हैं। महेन्द्रा महेन्द्र पर्वत से निकलनेवाली कोई छोटी नदी होनी चाहिए। सम्भवतः यही महेन्द्र-तनया है, जो कलिंग की वंशधरा नामक नदी की शाखा है।

गोदावरी दक्षिण की प्रसिद्ध नदी है, जो नासिक के पास त्र्यम्बकेश्वर से निकलती है। गोदावरी का प्रस्रवण क्षेत्र बहुत विशाल है, पर इस सूची में केवल वेण्णा (वेनगंगा), पिञ्जला (मंजीरा नदी) और प्रवरा (अहमद नगर जिले की नदी) के नाम हैं। विश्वामित्रा बड़ौदा की विश्वामित्री नदी है।

गोदावरी के दक्षिण की बड़ी नदी कृष्णा है, जिसे यहां कृष्णवेणी कहा गया है। उसी की बड़ी शाखाएं तुंगवेण्णा (वर्तमान तुंगभद्रा) और भैमरथी (आधुनिक भीमा नदी) हैं, जो क्रमशः दक्षिण और उत्तर से आकर कृष्णा में मिली हैं।

इस सूची में मलय पर्वत से निकलनेवाली ताम्रपर्णी और कृतमाला जैसी नदियों के नाम भी छूटे हुए हैं। केवल कावेरी का नाम है। नदी नामों के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि कालक्रम से उनमें सबसे कम परिवर्तन होता है, अतएव लगभग तीन-चौथाई नाम आज भी अपने प्राचीन रूपों में बच गए हैं।

जनपद सूची

पुराण-लेखकों ने भारत देश के ७ विभाग किये हैं—मध्यदेश, प्राच्य, दक्षिण, अपरान्त, उदीच्य, विन्ध्यपृष्ठाश्रयी और पर्वताश्रयी। प्रत्येक के जनपदों के नाम अलग-अलग दिए गए हैं, जिससे उनकी पहचान में सुविधा होती है। पर भीष्म पर्व के लेखक ने ऐसा नहीं किया। केवल उत्तर और दक्षिण इन दो दिशाओं का नाम लिया है। पर उनमें भी और दिशाओं के नाम घुलमिल गये हैं। यदि एक क्रम से देखा जाय तो जनपदीय नामों की पहचान के विषय में निम्नलिखित सामग्री सामने आती है :

१. उदीच्य जनपद

प्राचीन भारतवासी इस देश की सीमा मध्य एशिया के मेरु पर्वत या पामीर पठार तक मानते थे। उस भूमि का जनपदीय नाम कम्बोज था। उसकी प्रधान नदी वंक्षु थी। इस विस्तृत भूभाग में चार जनपदों को स्पष्ट पहचान लेना चाहिए, अर्थात् कम्बोज, बाह्लीक, कपिश और गान्धार। इनमें कपिश के अतिरिक्त और तीनों नाम यहां दिये गए हैं :

तक्षशिला से काबुल नदी तक का प्रदेश प्राचीन गान्धार था। सिन्धु नदी उसे दो भागों में बांटती थी। एक पूर्व-गान्धार, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी और दूसरा अपर-गान्धार, जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी, यह स्वात और काबुल नदी के संगम पर अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान था, पर जिसकी जगह आज चारसद्दा नामक एक छोटा-सा गांव रह गया है। कई पुराणों में पुष्कलावती के प्रदेश को अलग जनपद मानकर पुष्कलाः (मार्कण्डेय०,५७।५९) नाम दिया है। यह ज्ञातव्य है कि संस्कृत व्याकरण के अनुसार जनपदों के नाम सदा बहुवचन में होते थे। अपर-गान्धार के पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत है, जिसका पुराना नाम उपरिश्येन था। उसे पार करने पर कपिश जनपद की भूमि थी, जिसे अब काफरिस्तान का इलाका कहते हैं। उसके बाद और पश्चिम की ओर बामियां घाटी पार करके उत्तर की ओर मुड़कर बाह्लीक जनपद में पहुंचते थे, जिसे अब बल्ख कहते हैं। यही बाह्लीक प्राचीन यूनानी भाषा में बैक्ट्रिया कहलाता था। आज की तरह प्राचीनकाल में भी सिन्धु नदी के दोनों ओर का पहाड़ी इलाका लड़ाकू जातियों से भरा हुआ था। उनके अनेक कबीले थे। उनके बहुत से नाम संस्कृत-साहित्य में मिलते हैं। उनमें से दो नाम अति प्रसिद्ध हैं, एक मोहमंद और दूसरे अफरीदी। मोहमंदों का प्राचीन नाम मधुमंत और अफरीदियों का आप्रीत था। ये लोग अभी भी अपने आप को 'अपरीदी' कहते हैं और यूनानी लेखकों ने भी इन्हें 'अपरिताइ' लिखा है। मोहमंद 'दीर' इलाके के रहनेवाले हैं और अफरीदी 'तीरा' के। ये दो नाम भी संस्कृत भाषा से निकले हैं। चित्राल और गौरी (वर्तमान पंजकोरा) नदियों के बीच का हिस्सा 'द्वीरावतीक' (आजकल का दीर)

था। कावुल नदी के दक्षिण तीरावतीक (वर्तमान तीरा) था, जो कुभा नदी (कावुल नदी), वरा (पेशावर की बारा नदी) और सिन्धु इन तीन नदियों के वीच का प्रदेश था। पतंजलि के महाभाष्य में इन दोनों का एक साथ नाम आया है (महाभाष्य १।४।१; वार्तिक १६)। आप्रीतों का नाम इस सूची में नहीं है, पर पाणिनि ने उनका उल्लेख किया है। पहाड़ी कन्दराओं या गारों में रहने के कारण कवायली लोगों को 'गिरिगह्वर-वासिनः' कहा गया है (द्रोण पर्व, ६३।४८)। इस सूची में गिरिगह्वर नाम के एक विशेष जनपद या कवीले का उल्लेख है (भीष्म० १०।६६)। सम्भव है कि गोरी नाम के कवायली इसी समूह के हों। इस सम्बन्ध में वातजाम और रथोरग ये दो नाम विचारयोग्य हैं और इन्हीं जातियों के जान पड़ते हैं। वातजाम का अर्थ है हवा के वेग से जानेवाले (गत्यर्थक जम् धातु, निघण्टु) और रथोरग का अर्थ है रथ की छाती या ठोकर से गमन करनेवाले। इस प्रकार का रथ गांवों में फिरक कहलाता है। व्रात्यों के रीतिरिवाजों का वर्णन करते हुए उनके रथ को 'फलकास्तीर्ण' (फट्टों से जड़ा हुआ) और विपथ (ऊबड़-खावड़ रास्तों में जानेवाला) कहा है। (कात्यायनश्रौतसूत्र, २२।४।१६)। यह लोग लूट-मार करके भाग जाते थे (प्रसेधमाना यन्ति, लाट्यायनश्रौतसूत्र, ८।६।७)। रथोरग इसी प्रकार के सरहद्दी लोग थे। कवायली का प्राचीन पारिभाषिक शब्द ग्रामणीय था, जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (अष्टा० ५।२।७८) और सभापर्व में भी जिनका नाम आया है (सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महावलाः, सभा० २९।८)। इसी प्रसंग में 'दश मालिक' नामक जनपद भी ध्यान देने योग्य है। यह सम्भवतः अफगानिस्तान का उत्तरी-पूर्वी और मध्य भाग था, जो इस समय कोहिस्तान कहलाता है। सभापर्व में लोहित प्रदेश के दशमंडल राज्यों का उल्लेख है (सभा० २४।१६)। ये ही लोहित या रोह (अफगानिस्तान का मध्यकालीन नाम, जहां के रोहेले प्रसिद्ध हैं) के दस-मालिक राज्य ज्ञात होते हैं। दशमंडल को ही दस मालिक कहा गया है।

इस सूची में शक (शकस्थान, वर्तमान सीस्तान), यवन (सम्भवतः यह भी बलख के पास बसे हुए यूनानी), पह्लव (उत्तर-पूर्वी ईरान का पार्थिया प्रदेश), पारसीक (ईरान का दक्षिणी प्रदेश), पारतक (बलूचिस्तान

का हिंगुल प्रदेश), रमठ (गजनी का इलाका), वनायु (सीमाप्रान्त की बानाघाटी) नाम भी पश्चिमोत्तर भारत के भूगोल की सूक्ष्म जानकारी सूचित करते हैं।

खशों का स्थान सम्भवतः काश्मीर में था। तुखार मध्य एशिया की एक जाति थी, जिसका स्थान बदलता रहा। कुषाण जाति भारत में तुषार नाम से प्रसिद्ध थी। काश्मीर के उत्तर-पश्चिम का भाग दरद् (वर्तमान गिलगित का दरदिस्तान प्रदेश, जहां के निवासी अब भी दरदी कहलाते हैं) और ठेठ उत्तरी भाग हंसमार्ग (वर्तमान हुंजा) नामों से प्रसिद्ध था। हंसमार्ग नाम पड़ने का हेतु यह है कि यहां के पहाड़ी दर्रों से हंस जाति के लाखों पक्षी भारत से मध्यएशिया और साइबेरिया की ओर प्रतिवर्ष उड़कर जाते थे। आज भी यह सिलसिला जारी है। ये पक्षी गर्मी के आरम्भ में उत्तर की यात्रा करते हैं और जाड़े के आरम्भ में लौटते हैं। इसी प्रकार का दूसरा हंसमार्ग अल्मोड़ा से आगे 'लीपूलेख' का दर्रा है, जिसे प्राचीन भारतीय क्रौञ्चद्वार कहते थे और जहां से होते हुए हंस जाति के पक्षी भारत से कैलास-मानसरोवर की यात्रा करते हैं और फिर उसी प्रकार लौट आते हैं। इस प्रकार क्रौञ्चमार्ग और हंसमार्ग ये दोनों भारतीय भूगोल की सुविदित परिभाषाएं हैं। इस सूची में चीन का नाम भी है, जो काश्मीर की सीमा के उत्तर मध्य एशिया का कोई भाग रहा होगा।

काश्मीर अभी तक इसी नाम से प्रसिद्ध है। यह उत्तर प्रदेश की बड़ी-बीच की घाटी थी। उसके दक्षिण का भाग 'अभिसार' (वर्तमान पुंछराजोरी भिम्भर का इलाका) और उससे मिला हुआ दक्षिण-पूर्व का इलाका दार्व (डुग्गर-जम्मू) कहलाता था। रावी और चिनाव के बीच में दार्व एवं चिनाब और झेलम के बीच में अभिसार का प्रदेश था। दार्वाभिसार' इन नामों का जोड़ा महाभारत में कई बार आया है। अभिसार के पश्चिम में झेलम और सिन्धु के बीच का प्रदेश 'उरशा' (वर्तमान हजारा जिला) जनपद के नाम से प्रसिद्ध था जिसका उल्लेख अर्जुन की दिग्विजय के वर्णन में आया है (सभा० २४।१८, वहां उसका मूल पाठ 'उरशा' चाहिए 'उरगा' नहीं)।

सिन्धु और शतद्रु के बीच का प्रदेश 'वाह्लीक' कहलाता था। उसे यहां

केवल एक जनपद कहा गया है। परन्तु वस्तुतः वाहीक में अनेक जनपदों और संघ राज्यों का एकछत्ता ही भरा हुआ था, जिनमें से अधिकांश के नाम पाणिनि की अष्टाध्यायी में और महाभारत के भी अन्य प्रसंगों में आये हैं। किन्तु वर्तमान सूची में इनका बहुत ही संक्षिप्त उल्लेख है। केवल तीन नाम आते हैं। यदि वाहीक को मध्य पंजाब मान लिया जाय तो उसके अतिरिक्त माद्रेय, उत्तरी पंजाब की संज्ञा थी। वह मद्र जनपद के नाम से प्रसिद्ध था और उसकी राजधानी 'शाकल' या 'स्यालकोट' थी। दूसरी शती ई०पूर्व में बल्ख के यूनानी राजा वहां से उखड़ कर पंजाब चले आये और शाकल को राजधानी बनाकर उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। वे मद्रक कहलाये, जिनका विस्तृत उल्लेख आगे कर्णपर्व में आनेवाला है। वाटधान (भटिण्डे का इलाका) दक्षिणी पंजाब के लिए और केकय (शाहपुर-झेलम गुजरात के जिले) पश्चिमी पंजाब के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार वाहीक प्रदेश का यह बहुत ही चलता हुआ वर्णन है।

२· पर्वताश्रयी जनपद

उत्तर-पूर्वी पंजाब अर्थात् कांगड़ा-कुल्लू का इलाका पौराणिक भूगोल का पर्वताश्रयी प्रदेश था। यहां के जनपदों में त्रिगर्त अर्थात् रावी, व्यास और सतलज, इन तीन नदी घाटियों का समस्त प्रदेश मुख्य था। इसी का एक भाग कुलूत या कुल्लू था और सतलज की घाटी का प्रदेश उत्सवसंकेत (रामपुर-बशहर का इलाका) कहलाता था, जहां किन्नर जाति का निवास था। उत्सवसंकेत नाम रघुवंश में भी आया है, जहां उन्हें गणशासन के अनुयायी कहा है (रघुवंश, ४।७८)। इस नाम का विशेष कारण है। संकेत का अर्थ है 'विवाह' (मत्स्य १५४।४०६) और उत्सव का अर्थ किसी विशेष अवसर पर लगनेवाला मेला था। यहां के निवासियों की यह प्रथा थी कि वे किसी वार्षिक मेले में एकत्र होकर सैकड़ों वर-कन्याओं के विवाह निश्चित कर लेते थे। उपत्यक नाम इसी प्रदेश के ऊंचे पहाड़ी पठार के लिए प्रयुक्त जान पड़ता है। कुल्लू-कांगड़ा के पूरब में मिला हुआ जो 'भोट' का प्रदेश है, उसके लिए यहां 'तंगण' और 'परतंगण' नाम आये हैं, जिनके

मध्य से सतलज और सिंधु की उपरली धाराएं बहती हैं।

पठानकोट-जालन्धर से लेकर यमुना तक का जो प्रदेश है, इसमें भी कई प्राचीन जनपद थे। कुरुक्षेत्र (थानेश्वर) और उससे मिला हुआ दक्षिण-पश्चिम की ओर का जंगल, जिसे कुरुजांगल कहते थे, प्रसिद्ध नाम है। किन्तु उसी प्रदेश में साल्व जनपद के कई छोटे-मोटे टुकड़े फैले हुए थे, जिन्हें पाणिनि ने 'साल्वावयव' कहा है। उन्हीं में इस सूची के बोध और पुलिंद (पाठान्तर भूलिंग) जनपद थे। सुकुट्ट का स्थान अनिश्चित है। सम्भव है, यह सुकेत (एक रियासत) हो। सैरन्ध्र भी सम्भवतः सरहिन्द का ही नाम था।

यमुना पार करते ही मध्यप्रदेश में प्रवेश करते हैं, जहां इंद्रप्रस्थ से हस्तिनापुर तक फैला हुआ यमुना-गंगा के बीच का पूरा भूभाग कुरुजनपद कहलाता था (वर्तमान दिल्ली-मेरठ)। कुरु जनपद के दक्षिण में पांचाल (फर्रुखाबाद-कन्नौज-बरेली) का बड़ा जनपद था और पश्चिम में यमुना के किनारे शूरसेन (मथुरा) जनपद था, जिसे अब ब्रजमंडल कहते हैं। मध्यदेश के बीच में कोसल और काशी के दो विस्तृत जनपद थे। सरयू कोशल की मुख्य नदी है। काशी गंगा और गोमती के बीच का प्रदेश था। इसी का पश्चिमी भाग अपरकाशि कहलाता था, जिसे अब कसवार कहते हैं। कसिया-गोरखपुर का प्रदेश मल्ल जनपद था।

३. मध्यप्रदेश के जनपद

राप्ती नदी के उस पार प्राच्य भारत शुरू हो जाता है। यहां कई जनपद स्पष्ट पहचाने जाते हैं। गंगा के उत्तर का विस्तृत भूभाग विदेह (वर्तमान मिथिला) कहलाता था और गंगा के दक्षिण का प्रदेश मगध। इन्हीं दोनों के बीच में किन्तु पूर्व की ओर अंग (भागलपुर) जनपद था, जिसकी प्राचीन राजधानी चम्पा (भागलपुर) थी। जहां गंगा दक्षिण की ओर मुड़ी हैं, उसके पूर्व और पश्चिम एवं उत्तर और दक्षिण के जनपदों के नाम इस सूची में आये हैं। उत्तरी बंगाल में पुण्ड्र (बोगरा-रंगपुर-राजशाही) दक्षिण में सुह्मोत्तर या सुह्म (ताम्रलिप्ति का इलाका, मेदिनीपर)

पूरब में वंग (ढाका-मैमनसिंह) और पश्चिम में मानवर्जक (पाठान्तर मानवर्तिक, बर्दवान-बीरभूम-मानभूम) नाम के प्रसिद्ध जनपद थे। गंगा के ठीक पूरब में मालदह जिला है, जो सम्भवतः प्राचीन मलद था और इस सूची में आया है।

४. प्राच्य जनपद

यहां दो नाम विशेष ध्यान देने योग्य हैं, अन्तर्गिरि और बहिर्-गिरि। अन्तर्गिरि हिमालय की भीतरी शृंखला या महाहिमवंत का पुराना नाम था, जिसमें २० सहस्र फुट या उससे ऊंची चोटियां हैं, जैसे कञ्चन-जंघा, नन्दादेवी, धौलागिरि, बदरी-केदार आदि। बहिर्गिरि हिमालय की बाहरी शृंखला की संज्ञा थी, जिसे पाली में चुल्लहिमवंत भी कहते थे। इसमें हिमालय की ५ से लेकर १० सहस्र फुट तक ऊंची चोटियां आती हैं, जैसे—मसूरी, नैनीताल, शिमला आदि। प्राचीन काल में हिमालय के इन दोनों भागों की अलग-अलग पहचान की जाती थी। इस समय बहि-र्गिरि प्रदेश में किरात जाति का और अन्तर्गिरि भाग में भोट जाति का निवास है। सम्भवतः यही स्थिति प्राचीनकाल में भी थी। इन दोनों देशों के निवासी क्रमशः बहिर्गिर्य और अन्तर्गिर्य कहे गए हैं। हिमालय का एक तीसरा भाग भी है, जिसे आजकल तराई-भाबर कहते हैं और जो प्राचीन परिभाषा में उपगिरि कहलाता था। यहां उसका नाम नहीं है, किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी (५।४।११२) में और सभापर्व (सभापर्व २७।३) में आया है।

५. विन्ध्यपृष्ठ के जनपद

उत्तर से दक्षिण की ओर चलते हुए बीच के भूभाग की संज्ञा विन्ध्य-पृष्ठ थी। पुराणों में इस प्रदेश के जनपदों को विन्ध्यपृष्ठाश्रयी कहा है। इनमें ये नाम उल्लेखनीय हैं—बघेलखंड का बड़ा भाग करूष जनपद था, जहां अनेक जंगली जातियां पहले और आज भी बसती हैं। 'करूष' के

दक्षिण की ओर मेकल (अमरकंटक) जनपद था, जो नर्मदा और शोण (सोन) की उद्गम-भूमि थी। पश्चिम की ओर पूर्वी मालवा का भूभाग, जहां धसान नदी बहती है, प्राचीन काल का दशार्ण जनपद था। इसके कुछ उत्तर-पश्चिम में निषध जनपद था, जहां इस समय नलकच्छ या नरवरगढ़ है। नर्मदा के तट पर निमाड़ जिले का भू-भाग प्राचीनकाल में 'अनूप' कहलाता था, जिसकी राजधानी 'माहिष्मती' या 'ओंकार-मान्धाता' थी। इसके कुछ उत्तर में अवन्ति जनपद (आधुनिक मालवा) था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इस प्रकार यमुना के दक्षिणी प्रस्रवण-क्षेत्र से लेकर नर्मदा के कांठे तक का भूप्रदेश इन ६ बड़े जनपदों में बँटा हुआ था। उनमें पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए करूष, दशार्ण और निषध इन तीन जनपदों की पट्टी थी और उनके नीचे क्रमशः मेकल, अनूप और अवन्ति नामक जनपदों की दुहरी पेटी फैली हुई थी।

६. अपरान्त के जनपद

इसके आगे अपरान्त और पश्चिमी दिशा के कुछ जनपदों की ओर दृष्टि जाती है। इनमें सह्याद्रि और समुद्र के बीच की लगभग ५०० मील की पतली पट्टी भारतीय भूगोल में अपरान्त या कोंकण नाम से प्रसिद्ध रही है। पिछला नाम आज भी चलता है। इस सूची में दोनों नाम हैं। ज्ञात होता है कि रत्नागिरि जिले का नाम विशेषकर कोंकण था और उत्तरी भूभाग का, जिसमें कल्याण, सुपारा आदि जिले हैं, अपरान्त कहलाता था। उसे ही यहां 'कुट्टापरांत' कहा गया है। काक्ष कच्छ के लिए स्पष्ट है। सामुद्रनिष्कुट का तात्पर्य वह भूप्रदेश है, जो प्रायःद्वीप की तरह समुद्र में निकला हुआ हो। इस दृष्टि से यह काठियावाड़ ही होना चाहिए, किन्तु इसी के साथ 'सुराष्ट्र' का नाम भी आया है। उस स्थिति में काठियावाड़ का पूर्वी भाग केवल सौराष्ट्र नाम से प्रसिद्ध रहा होगा, किन्तु इस संज्ञा का भौगोलिक विस्तार पूरे प्रायद्वीप के लिए भी लागू होगा। अहमदाबाद से दक्षिण, वड़ोदा, राजपीपला और सूरत तक का प्रदेश आनर्त्त या गुजरात था। इसी में भड़ौच का बन्दरगाह भी नर्मदा

के किनारे बहुत बड़ा व्यापारिक नगर था। उसके आसपास का प्रदेश भृगुकच्छ जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। वर्तमान अहमदाबाद के पूर्व में मही नदी और पश्चिम में सरस्वती नदी है। इन दोनों के प्रदेशों को इस सूची में क्रमशः माहेयी (वर्तमान महीकांठा) और सारस्वत (गुजरात की सरस्वती का कांठा) कहा गया है। सरस्वती के उत्तरी छोर पर आबू पर्वत है, जिसे यहां 'अर्बुद' कहा गया है। एक नाम 'द्वैभेय' है, जो विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। इसका पाठान्तर 'द्वैपेय' है और वही मूल ज्ञात होता है, जिसे इस समय 'दीव' (ड्यू) कहते हैं उसकी प्राचीन संज्ञा द्वीप थी। समुद्र तटवर्ती इन कई द्वीपों के निवासी द्वैपेय कहलाते थे। उनकी गणना भी भारतीय सीमा में की जाती थी।

यदि हम आबू की चोटी पर खड़े होकर पश्चिम और उत्तर की ओर दृष्टिपात करें तो इस भूखंड के चार बड़े भाग, जिनके नाम इस सूची में हैं, साफ समझ में आ जाते हैं। सिन्धु, सौवीर, मरुभूमि और जांगल। इनमें 'थर पारकर' के रेगिस्तान से लेकर जोधपुर के बड़े रेगिस्तान तक मरुभूमि का विस्तार था। वहां के रहनेवालों को मरुभौम कहा गया है। आजकल का जो सिन्ध है, उसका पुराना नाम सौवीर था। उसकी राजधानी 'रोरुक' नगर (वर्तमान रोड़ी) थी। बीकानेर का भाग जांगल और सिन्धु नदी के पूर्व का बड़ा रेगिस्तान 'सिन्धु' कहलाता था। इन चारों के अतिरिक्त एक नाम 'शूद्राभीर' है। सिन्धु के उत्तरी भाग से लेकर पूर्व की ओर राजस्थान में घुसा हुआ जो प्रदेश है, वहां प्राचीन काल में शूद्र और आभीर संज्ञक जातियों के दो राज्य एक-दूसरे से सटे हुए थे।

७. दक्षिणापथ के जनपद

अब दक्षिणापथ के जनपदीय नामों का गुच्छा रह जाता है। भीष्म-पर्व की सूची में भी उन्हें स्पष्टतया दक्षिण दिशा से सम्बन्धित कहा है। जानना चाहिए कि गोदावरी से लेकर ताम्रपर्णी तक का विशाल भूखंड प्राचीन भूगोल के अनुसार दक्षिण कहलाता था। इनमें उत्तर की ओर से तीन नाम सामने आते हैं, विन्ध्यपुलक (पाठान्तर विन्ध्यमूलक) अर्थात्

विन्ध्याचल और सतपुड़ा की दक्षिणी तलहटी में फैला हुआ भूभाग। उसके नीचे ऋषिक (वर्तमान खानदेश) और उसके वाद अश्मक (गोदावरी के दक्षिण अहमदनगर एवं साथ वाले जिलों का प्रदेश, जिसकी पुरानी राजधानी प्रतिष्ठान—वर्तमान पैठण गोदावरी के किनारे थी)। उसके पूरब में ठेठ हैदरावाद का इलाका है, जिसका पुराना नाम मूषक था। उसका स्मरण दिलाने वाली 'मूसी' नदी हैदराबाद पर स्थित है। भीमा नदी के दक्षिण तुंगभद्रा तक, जिनके बीच में कृष्णा नदी है, तीन जनपद भूमियां और होनी चाहिए—कुन्तल, कर्णाटक और वनवासी। इतिहास के उतार-चढ़ाव में ये नाम एक-दूसरे के साथ घुलमिल भी गये, किन्तु अनुमान होता है कि भीमा नदी का कांठा कुंतल (शोलापुर-विजापुर), कृष्णा का कर्णाटक (वेलगाम-धारवाड़) और तुंगभद्रा का वनवासी (उत्तरी कन्नड़ और कारवार जिला) कहा जाता था। इसके दक्षिण में 'माहिषक' (वर्तमान मसूर) का वड़ा जनपद था, जिसे 'महिष-विषय' भी कहते थे। वल्लारी, चितलद्रुग और शिमोगा आदि के जिले इसी जनपद की जातीय भूमियां हैं।

दक्षिण का जो भाग वच रहता है, उसमें भरने के लिए चार जनपदीय नाम इस सूची में वच जाते हैं। उनमें आन्ध्र और केरल स्पष्ट हैं, जो आज भी इन्हीं नामों से विख्यात हैं। कृष्णा नदी आन्ध्र की दक्षिणी सीमा है। इधर पश्चिमी समुद्र की तटवर्ती भूमि केरल है, जहां की भाषा मलयालम् इस प्रदेश को औरों से अलग करती है। अव 'एलामलै' (इलायची की पहाड़ी) और नीलगिरि के पूर्व से लेकर मद्रास के समुद्र तट तक और उत्तर में पेन्नार नदी से लेकर कन्याकुमारी तक का प्रदेश वच जाता है। कावेरी नदी इसको वीच से लगभग दो बरावर भागों में वांटती है। ज्ञात होता है कि कावेरी के दक्षिण का जनपद चोल और उत्तर का द्रविड़ यहां कहा गया है। ये दोनों नाम भी विशेष रूढ़ न थे और कभी-कभी उनके अर्थ एक-दूसरे में मिल जाते हैं, परन्तु मोटे तौर पर ये नाम सही जान पड़ते हैं। इस प्रकार उत्तर में कम्बोज से लेकर दक्षिण में चोल देश तक के जनपदों के नाम भीष्मपर्व की सूची में पाये जाते हैं।

स्पष्ट है कि यह प्रकरण किसी विज्ञ लेखक की कृति है। उसके सामने पुराणान्तर्गत भुवनकोश की सामग्री थी, पर उसने उसकी प्रतिलिपि नहीं की। केवल नामों को लेकर मनमाने ढंग से सूची में गूंथ दिया। उन्हीं नामों की क्रमबद्ध व्याख्या यहां दी गई है।

जनपद इस देश की प्राचीन जातीय भूमियां थीं। उनकी सीमाएं इतिहास के उतार-चढ़ाव से घटती-बढ़ती रही हैं। नामों में भी कमी और वृद्धि हुई है, पर वह अलग अध्ययन का विषय है। राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जनपदों का अत्यधिक महत्त्व था। जैसे यूनान देश के पुरराज्य (सिटि स्टेट्स) थे, वैसे ही भारत में लगभग १५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक जनपदों का देशव्यापी आन्दोलन प्रबल रूप में फैला हुआ था। इनमें से कुछ राजाधीन और कुछ गणाधीन थे। जनपदों की विशेषताओं का कुछ विस्तृत अध्ययन हमने अपने 'पाणिनि-कालीन भारत-वर्ष' में किया है। आज इनका राजनैतिक पक्ष प्रायः लुप्त हो गया है, किन्तु सांस्कृतिक प्रभाव बहुत-कुछ शेष है।

और भी जनपदीय भूगोल के लिए देखिए, मेरी पुस्तकें 'भारत की मौलिक एकता' पृ० ४३-५३, 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृ० ५७-७७, 'मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन' पृ० १४९-१५६।

कौरवों और पाण्डवों के पक्षपाती

प्रस्तुत प्रसंग में धृतराष्ट्र ने संजय से कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए एकत्र हुए राजाओं का परिचय पूछा था और उसी के उत्तर में संजय ने यह भौगोलिक वर्णन सुनाया था। इसका उद्देश्य यह है कि निकट और दूर के अनेक राजा और उनकी सेनाएं युद्धभूमि में एकत्र हुईं। उनमें से कुछ कौरवों की ओर कुछ पाण्डवों की ओर थे। इसका विशेष उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलेगा। संक्षेप में कुल्लू-कांगड़ा से लेकर मध्य एशिया तक के लोगों की सहानुभूति कौरवों के पक्ष में थी और मध्यदेश, विन्ध्यपृष्ठ, प्राच्य एवं सौराष्ट्र अपरान्त के राजा पाण्डवों के पक्ष में थे। इनमें कुछ अपवाद भी थे, पर मोटे तौर पर शक्तियों के विभाजन का रूप यही था। कृष्ण

ने इस बात को पहले ही अच्छी तरह ताड़ लिया था कि सैनिक शक्ति का संतुलन किस प्रकार किया जाय और इसके लिए उन्होंने कई सफल प्रयत्न भी किये। उन्होंने देख लिया था कि पश्चिम में सिन्धु-सौवीर के जयद्रथ, उत्तर-पश्चिम में गान्धार के शकुनि और मद्र या मध्य पंजाब के शल्य इनका तगड़ा तिगड्डा दुर्योधन का अटल पक्षपाती था। इन्हीं का पुछल्ला त्रिगर्त के गणराज्यों का संघ था, जिसे संशप्तक गण कहा गया है। इनके बीच में किसी छोटे राजा की ताव न थी कि उनके प्रभाव से बाहर जा सके। कृष्ण समझते थे कि इनमें से किसी को भी फोड़ना कठिन है, इसलिए उनकी आंख मत्स्य या विराट् से लेकर मध्यदेश, विन्ध्यपृष्ठ और पश्चिम के राजाओं पर थी। पर इसमें भी दो कांटे थे—एक मगध का जरासन्ध, जिसके प्रभाव में प्राच्य देश के और सब राजा थे, और दूसरा चेदि (जबलपुर) देश का राजा शिशुपाल। इन्हीं का पिछलग्गू करूष जनपद का दन्तवक्र था। कृष्ण ने अपनी राजनैतिक चतुराई और बल से इन तीनों को पहले ही बीन लिया। अतएव चेदि, करूष और मगध का विस्तृत प्रदेश पाण्डवों के लिए निष्कण्टक हो गया। करूष के पश्चिम में दशार्ण और निषध जनपदों में कृष्ण की नारायणी सेना का अड्डा था। शूरसेन, पाञ्चाल और विराट के राज्य स्पष्टतः पाण्डवों की ओर थे। उधर सौराष्ट्र में अन्धक और वृष्णियों के बहुत से गणराज्य कृष्ण के अपने ही थे, जो सब पाण्डव-पक्ष में नियत सहायक थे। इस प्रकार कुरुक्षेत्र की भूमि में एकत्र योद्धाओं का विभाजन कौरव और पाण्डव पक्ष में समझना चाहिए।

उत्पात और निमित्त

भीष्म पर्व के आरम्भ में ५ अध्यायों में उन उत्पात और निमित्तों की सूची है, जो युद्ध के रूप में होने वाले भारी विनाश के सूचक थे। इस प्रकार के अपशकुन, उत्पात और दुर्निमित्तों के सम्बन्ध में विश्वास प्राचीन काल से चला आता रहा है। न केवल इस देश में, बल्कि अन्य देशों में भी कुछ इस प्रकार की मान्यताएं प्रचलित थीं। प्रकृति के कार्यकलापों में या

मानव-जीवन में जो बँधी हुई स्वाभाविक पद्धति है, उसका उल्लंघन, विपर्यय या विनाशकारी चक्र इन निमित्तों के मूल में पाया जाता है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, वायु, नदी, पर्वत, वृक्ष-वनस्पति, पुष्प-लता, पशु-पक्षी और मनुष्य, ये सब विश्व के विराट् विधान के अंग हैं, जो सबके लिए एक जैसा है। उसमें होने वाली उलटफेर सूचित करती है कि भारी विपत्ति की आशंका है। महाभारत के युद्ध को इसी दृष्टि से देखा गया। इस युद्ध में भारतीय सभ्यता ने अपनी बहुत-सी उपलब्धियां खो दीं। आश्चर्य यही है कि इतने भारी विनाश के बाद भी यह संस्कृति किसी तरह बची रह गई। रामायण के द्वारा जिन आदर्शों को देश ने पाया था, महाभारत में उनका कंकाल दिखाई पड़ता है। यह बहुत ही भीषण और भयंकर अवस्था थी। राष्ट्र की आत्मा जैसे घायल हो चुकी थी। युद्ध तो केवल बाहरी लक्षण था। मानव जब इस प्रकार दुर्मद हो जाते हैं तो युद्ध अनिवार्य हो उठता है। वैसा ही द्वापर के गाढ़े समय में हुआ, जिसका रोमाञ्चकारी वर्णन आगे के पर्वों में है।

५४ : : श्रीमद्भगवद्गीतापर्व

(अ० २३-४०)

गीता-महिमा

श्रीमद्भगवद्गीता भीष्मपर्व का सुप्रसिद्ध अंश है। इसके १८ अध्याय हैं (पूना संस्करण अ० २३-४०)। आरम्भ में और अंत में इसमें धृतराष्ट्र और संजय के संवाद रूप में कुछ श्लोक हैं, शेष कृष्ण और अर्जुन के संवाद के रूप में हैं। भगवद्गीता जैसा ग्रंथ भारतीय साहित्य में दूसरा नहीं है। भारतीय मान्यता के अनुसार यह ईश्वर का मानव को उपदेश है। इसकी कई विशेषताएं हैं, जो और ग्रंथों में नहीं मिलतीं। गीता संवाद-ग्रंथ है।

अतएव आदि से अंत तक इसकी मार्मिक रोचकता का प्रभाव मन पर पड़ता है। इसकी शैली शुष्क वर्णन से ऊपर है। यह मुख्यतः अध्यात्मविद्या का ग्रन्थ है। धम्मपद के समान नीति-विद्या तक यह सीमित नहीं। अध्यात्म से तात्पर्य मनुष्य के मन की उस समस्या से है, जो आत्मा के विषय मे, उसके अमृत स्वरूप, आदि और अन्त के विषय में, शरीर और कर्म के विषय में, संसार और उसमें होनेवाले अच्छे-बुरे व्यवहारों के विषय में, आत्मा और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में, एवं मानवी मन की जो ज्ञान, कर्म और भक्ति रूपी तीन विशेष प्रवृत्तियां हैं, उनके अनुसार किसी एक को विशेष रूप से स्वीकार करके सब प्रकार के जीवन व्यवहारों को सिद्ध करने और सबके समन्वय से जीवन को सफल, उपयोगी और आनन्दमय बनाने के विषय में उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार के अत्यन्त उदात्त लक्ष्य और जिज्ञासा की पूर्ति जिस एक शास्त्र से होती है, वह भगवद्‌गीता है। इसकी शैली में कविता का रस है। इसके स्वर ऐसे प्रिय लगते हैं, जैसे किसी अत्यन्त हितू मित्र की वाणी अमृत बरसाती है। इसमें उपनिषदों के समान वक्ता के प्रत्यक्षसिद्ध या स्वानुभव में आये हुए ज्ञान का वातावरण प्राप्त होता है।

गीता की पर्याप्त प्रशंसा शब्दों में करना अशक्य-सा ही है, क्योंकि विश्व के साहित्य में कर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का ऐसा रसपूर्ण ग्रंथ कोई दूसरा उपलब्ध नहीं है, जिससे गीता की तुलना की जा सके। धार्मिक मान्यता के अनुसार गीता साक्षात् भगवान् की वाणी है, पर अर्वाचीन मन को इस तथ्य को स्वीकार करने में झिझक हो सकती है। तो भी इस प्रकार की कल्पना तो स्वीकृतियोग्य मानी ही जा सकेगी कि यदि ईश्वर जैसी कोई अध्यात्मसत्ता सृष्टि में है और मानव अपने जीवन के लिए संशयरहित मार्ग की जिज्ञासा से युक्त होकर उस ईश्वरतत्त्व के ही, जिसने विश्व और मानव का निर्माण किया है, सान्निध्य में पहुंच जाय तो उससे प्राप्त होनेवाले समाधान का जो स्वरूप सम्भव हो, वही 'गीता' है। मनुष्य को गीता जैसे मार्मिक ज्ञान की जीवन में बहुत वार आवश्यकता पड़ती है, जिसके प्रकाश में वह अपने संशयों को सुलझाकर अपने लिए कर्म करने या न करने का निश्चय कर सके। व्यक्ति के मन की और कर्म की शक्ति

जितनी अधिक होती है, उसी के अनुसार उसका संशय उसे भीतर तक झकझोरता है और उसके समाधान के लिए उतने ही गम्भीर ऊहापोह और समाधान करनेवाले व्यक्ति की ऊंचाई की आवश्यकता होती है। हमें अर्जुन और कृष्ण के रूप में ऐसे ही शिष्य और गुरु के दर्शन होते हैं। भगवान् कृष्ण की वाणी वेदव्यास की पूर्णतम मनःसमाधि से निष्पन्न हुई है। अतएव इसमें संदेह नहीं कि गीता मानव के जीवन की मौलिक समस्याओं की व्याख्या करनेवाला ऐसा परिपूर्ण काव्य है, जिसकी तुलना अन्य किसी दर्शन, धर्म, अध्यात्म या नीति के ग्रन्थ से करना सम्भव नहीं। भारतवर्ष में अध्यात्म की परम्परा बहुत ऊंचे धरातल पर सहस्रों वर्षों तक फूली-फली है। वेद और उपनिषद् जैसे महान् ग्रंथ उसीके फल हैं। किन्तु यहां के साहित्य में भी गीता के ७०० श्लोक अपनी उपमा नहीं रखते। उनमें जो वक्ता और श्रोता के हृदय की उन्मुक्त सरलता है, शब्दों की जैसी शक्ति है, शैली का जो प्रवाह है और सर्वोपरि विषय की मानव-जीवन के साथ जैसी सन्निधि है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

पहला अध्याय—अर्जुन का विषाद

'गीता' महाभारत का सर्वोत्तम अंश है। इस बड़े ग्रंथ में जिसे 'शत-साहस्री संहिता' कहते हैं और भी कितने ही तेजस्वी प्रकरण हैं, किन्तु गीता जैसी साभिप्राय और सुविरचित रचना दूसरी नहीं। गीता को महाभारत-कार ने जिस संदर्भ में रक्खा है, इसका भी ग्रंथ की अर्थवत्ता के लिए बहुत महत्त्व है। गीता कुरु-पांडवों के युद्ध से पूर्व उस व्यक्ति से कही गई, जो दोनों पक्षों के क्षात्रबल का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है, युद्ध की दृष्टि से अर्जुन पाण्डव पक्ष का सर्वश्रेष्ठ पात्र है। पाण्डवों के पक्ष में धर्म का आग्रह था। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व अर्जुन का मन बहुत बड़े तनाव की स्थिति में आ गया था। मनुष्य की सोचने की, कर्म करने की, और चाहने की जितनी शक्ति है, उसकी भरपूर मात्रा जिस काम में उंड़ेल दी जाय, वह युद्ध का रूप है। बाह्य शस्त्रों का प्रयोग और संहार तो उसका गौण पक्ष है। हम शस्त्रों का प्रयोग न भी करें तो भी मन का वैरभाव विनाश करा डालता

है। अपने ज्ञान, कर्म और हृदय की भावना से युक्त होकर विपरीत परिस्थितियों का सामना करने के अनेक प्रसंग जीवन में आया ही करते हैं। जो व्यक्ति जितना महान् है, उसके लिए ऐसे प्रसंग भी उतने ही गम्भीर हुआ करते हैं। इस विन्दु पर पहुंचकर मानव अपने पूरे व्यक्तित्व को समेट कर कर्म की भट्टी में डाल देता है। पूर्व की घटनाओं ने अर्जुन को भी उसी मोड़ तक पहुंचा दिया था। उस विन्दु से आगे उसके लिए दूसरा मार्ग न था, 'कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि' यही एकमात्र अर्जुन के जीवन की संगति थी। इसे ही युद्ध कहते हैं। यह युद्ध भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का हो सकता है। दोनों में ही आत्माहुति वीर की एकमात्र गति होती है, वही उसके चलने का मार्ग अवशिष्ट रहता है, पलायन नहीं। ऐसे कठिन मोर्चे पर पहुंच कर अर्जुन का दृढ़ मन टुकड़े-टुकड़े हो गया। जिस धर्म के भाव ने उसे युद्ध के लिए आगे बढ़ाया था, उसी ने अर्जुन के मन को संदेह से भर दिया। उसे ऐसा लगा, मानो वह नीति-धर्म की हत्या के लिए बढ़ रहा हो। जिस राज्याधिकार के लिए युद्ध करना धर्म था, उस अधिकार की भावना को त्याग के भाव से क्षण भर में ही जीता जा सकता था और यों युद्ध का प्रपंच ही मिट जाता। कृष्ण ने अर्जुन की इस डांवा-डोल स्थिति को क्लैब्य या नपुंसकता कहा। अर्जुन के लिए शब्द इसी अर्थ में सार्थक है कि उसकी जितनी दुर्धर्ष कर्मशक्ति थी, उसे त्याग की इस झूठी भावना ने बिलकुल समाप्त कर डाला। जैसे किसी के शरीर की पुंसत्वशक्ति नष्ट हो जाय, वैसे ही अर्जुन के मन का पौरुष बिखर गया। वस्तुतः अर्जुन ने गीता सुनने के बाद स्वयं स्वीकार किया कि वह एक प्रकार का मोह या उसके मन पर छाया हुआ अंधेरा था। जिस धर्मनिष्ठ कर्त्तव्य के लिए अपने सारे जीवन को दांव पर लगा दिया था, उसी में उसकी आस्था जाती रही और उसका मन संदेह से भर गया। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार का संदेह केवल अर्जुन को ही हुआ, और किसी को नहीं, और किसी का मन इस प्रकार के विवेचन के लिए तैयार ही नहीं था। अर्जुन के संदेह का कारण यही नहीं कि वह धर्म का पथ छोड़कर अधर्म की ओर जाना चाहता था, बल्कि अबतक जिसे वह धर्म समझे था, उससे और ऊंचे धर्म को पकड़ने का भाव उसके मन में आ गया। गीता का

पहला शब्द 'धर्मक्षेत्रे' इस दृष्टि से सहेतुक है। अर्जुन का संकट दो धर्मों के बीच में है, धर्म और अधर्म की टक्कर में नहीं। अधर्म के आग्रह को तो वह बहुत आसानी से छोड़ सकता था, किन्तु जिस नए उच्चतर धर्म का आकर्षण उसके मन में भर गया, उस विचिकित्सा या संदेह को स्वयं जीतने की उसमें शक्ति न थी। अर्जुन के इस भाव को मनोवैज्ञानिक शब्दों में 'परमकृपा' कहा गया है (कृपया परया विष्टः १।२७)[१]। अर्जुन के भीतर जो कृपा या अनुकम्पा का भाव भर गया था, वह उसी के सदृश था, जैसा बुद्ध, महावीर, भर्तृहरि आदि राजकुमारों के मन में संसार के प्रति उत्पन्न हुआ था। अर्जुन ने स्पष्ट कहा कि युद्ध की अपेक्षा भिक्षा का जीवन उत्तम है (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यं, २।५)। सच तो यह है कि अर्जुन ने युद्ध न करने के पक्ष में जो युक्तियां दीं, वे अत्यन्त प्रबल हैं। उसने कहा, "हे कृष्ण, मुझे राज्य नहीं चाहिए, सुख नहीं चाहिए, भोग का जीवन नहीं चाहिए, युद्ध में विजय नहीं चाहिए। यदि स्वजनों के वध से ये वस्तुएं मिलनेवाली हों तो पृथ्वी क्या, त्रिलोकी का राज्य भी मुझे नहीं चाहिए। ये मुझे भले ही मारें, मैं अपने इन स्वजनों को कदापि नहीं मारूंगा। यदि यह कहा जाय कि ये अधर्म का पक्ष लेकर आये हैं, तो मेरा यह कहना है कि सचमुच इन्होंने हम भाइयों के साथ और द्रौपदी के साथ घोर आततताईपन के काम किये हैं, किन्तु यह जानते हुए भी मैं इनका वध नहीं करूंगा। ये अंधे हैं। इन्हें अपना पाप दिखाई नहीं पड़ता। जिसके आंख हैं, वही सचाई को देखता है, अंधे को सत्य नहीं दिखाई पड़ता। इनके पास हृदय की आंख नहीं है, अतएव ये दयनीय हैं, पर हमारे पास तो विवेक की आंख है। हम भले-बुरे की पहचान क्यों न करें? जिसकी आंखों पर लोभ का पट्टा चढ़ जाता है, उसके अंधे चित्त को सत्य नहीं सूझता, पर हम कुल के क्षय से होनेवाले इस बड़े पाप को कैसे न देखें? भारतीय संस्कृति में कुल ही जीवन का मूलाधार है। व्यक्ति या जाति या राष्ट्र के धर्मों की रक्षा और परम्परा यहां कुलधर्म के रूप में जीवित रही है। अर्जुन ने जिस संकट की आशंका प्रकट की, वह युद्ध के परिणाम से होनेवाला सच्चा संकट था। एक प्रकार से राष्ट्र का जो

---

१. आगे के सब संकेत गीता के अनुसार हैं, भीष्मपर्व के अनुसार नहीं।

सदाचारमय महान् धर्म है, वह कुलों की मर्यादा विगड़ने से अस्त-व्यस्त हो जाता है (उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः, १।४३)। अर्जुन ने सोचा, "यह युद्ध महान् पाप है। मेरा हित इसी में है कि मैं युद्ध न करूं, भले ही कौरव मुझे मार डालें। ऐसी विचारधारा में उसने अपना धनुष-बाण डाल दिया। उसका चित्त इस नए वैराग्य-धर्म से संमूढ हो गया और उसके भीतर-बाहर शोक छा गया। उसने कृष्ण से कहा, "मुझे अब नहीं जान पड़ता कि मेरा हित किसमें है? मेरा जो क्षात्र स्वभाव था, वह जाता रहा। मैं आपका शिष्य हूं और नम्रता से आपकी शरण में आता हूं। आप गुरु बनकर मुझे कल्याण-मार्ग का उपदेश दीजिए। यही गीता के पहले अध्याय का सार है, जिसे 'अर्जुनविषादयोग' कहते हैं।

गीता की पुष्पिका

यहां हम पाठकों का ध्यान उस पुष्पिका की ओर दिलाना चाहते हैं, जो गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में पाई जाती है। वह इस प्रकार है :

ओम् तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोध्यायः ॥१॥

इसमें अट्ठारह अध्यायों के नाम क्रम से बदल जाते हैं और शेष पुष्पिक वही रहती है। उसी की ओर विशेष ध्यान देना आवश्मक है। इस पुष्पिक का पहला अंश ओम् तत्सत् है। यह सारी भारतीय संस्कृति का मूल सूत्र है। इसका सीधा-सच्चा अर्थ है—ईश्वर अर्थात् ब्रह्म या भगवत्तत्त्व की ध्रुव सत्ता। इसीलिए गीता के न्यास में ऋषि, छंद, देवता की व्याख्या करते हुए कहा है, "श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। ओम् तत्सत् की ही व्याख्या यह है, अर्थात् इस महान शास्त्र का देवता या चिन्मय तत्त्व पर-मात्मा या ईश्वर है, वही गीता का प्राण, श्वास-प्रश्वास या जीवन है। ईश्वर के लिए ही ओम्, तत् और सत् ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ईश्वर है, वह तत् या अव्यक्त है एवं वह सत्य है, यही ईश्वर के विषय में भारतीय दर्शन की मान्यता है। यह सारा विश्व और जीवन भौतिक है। यदि ईश्वर में श्रद्धा हो तभी विश्व और जीवन सार्थक हैं। और कोई संस्कृति चाहे

जिस ढंग से सोचती हो, भारतीय संस्कृति का मूलाधार सत् तत्त्व ही है। यह विश्व भूत भौतिक सत् रूप है। इसके भीतर देव की सत्ता अनुप्रविष्ट है, जिसके कारण विश्व और जीवन स्थायी मूल्य प्राप्त करते हैं। गीता सत् तत्त्व का प्रतिपादक शास्त्र है। यदि विश्व को असत् कहें तो जीवन की कोई समस्या ही नहीं है। एक ओर ब्रह्म है, पर उसके लिए न कोई समस्या पहले थी, न आज है, न होगी। दूसरी ओर जड़ जगत् है। उसकी भी कोई समस्या नहीं। मृत्यु के साथ सब समस्याएं समाप्त हो जाती हैं। जितनी समस्याएं हैं, वे अर्जुन रूपी नर के लिए हैं। ईश्वर और विश्व के बीच की और दोनों को जोड़नेवाली कड़ी नर है। भारतीय दृष्टि से ये दो सूत्र स्मरण रखने योग्य हैं:

(१) ब्रह्म=ईश्वर =नारायण =कृष्ण =भगवान्
(२) जीव=मनुष्य =नर =अर्जुन =भगवान् का अंश

जीव की समस्याएं दो प्रकार की हैं—एक भगवान् के साथ, दूसरी विश्व के साथ। नर और नारायण या मनुष्य और भगवान् के बीच की समस्याओं के समाधान का उपाय ज्ञान है और मनुष्य और विश्व की जितनी समस्याएं हैं उनके समाधान का साधन कर्म है। दोनों ही मनुष्य के लिए आवश्यक हैं, और दोनों के समाधान से ही मनुष्य का मन शान्ति या समन्वय प्राप्त करता है। यहां हम प्राचीन भारतीय शब्दावली का प्रयोग कर रहे हैं, क्योंकि वह स्पष्ट और सुनिश्चित है और उसके पीछे एक महान् संस्कृति की अभिव्यंजना-शक्ति है। हम चाहें तो ईश्वर के स्थान पर सत्य, न्याय, विश्वधर्म, आदि नए शब्दों का भी प्रयोग कर सकते हैं, किन्तु मूल बात में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

ब्रह्मविद्या और कर्मयोग का समन्वय

ज्ञान और कर्म इन दोनों के लिए ही गीता की पुष्पिका में दो महत्त्वपूर्ण शब्द आये हैं—'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'। एक ओर ब्रह्मविद्या या अध्यात्म-ज्ञान मानव के लिए अत्यंत आवश्यक है, दूसरी ओर योगशास्त्र अर्थात् कर्मयोग भी उतना ही आवश्यक है। गीता ज्ञानरूपी समाधान की दृष्टि

से ब्रह्मविद्या है, वही कर्मरूपी समाधान की दृष्टि से योगशास्त्र है। गीता में योग की दो परिभाषाएं हैं, एक ज्ञानयोग या बुद्धियोग है, दूसरा कर्मयोग या केवल 'योग' है। गीताकार ने दोनों की अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं। ज्ञानयोग को समत्वयोग कहा है (समत्वं योग उच्यते, २, ४८)। कर्म की दृष्टि से कर्मों में कौशल या प्रवीण युक्ति को योग कहा है (योगः कर्मसु कौशलम्, २,५०)। ये दोनों भले ही अलग जान पड़ें, पर गीता की दृष्टि में दोनों का समन्वय ही जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

उपनिषदों का सार गीता

इस प्रकार गीता के पुष्पिका-वाक्य के दो प्रधान अंशों की सार्थकता पर हमने विचार किया। अब तीसरा अंश 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' यह वाक्य है। ऊपर कहा गया है कि गीता नर के लिए नारायण की वाणी है। यदि स्वयं ईश्वर कुछ कहे या उपदेश करे, तो वह क्या भाषा होगी? इसका उत्तर है कि वह गीत या कविता ही हो सकती है। ईश्वर की भाषा यह विश्व है, जिसके द्वारा और जिसके रूप में जो कुछ उसके पास कहने के लिए था वह सबकुछ उसने कह दिया है। अतएव वेदों में विश्व को 'देव-काव्य' कहा है, जिसकी भाषा और जिसके अर्थ कभी पुराने नहीं पड़ते। कविता वह है, जो बाह्य स्थूल वस्तु या शब्द के भीतर छिपे हुए अर्थ को प्रकट करती है। इसीलिए कवि को क्रान्तदर्शी कहते हैं। कवि अर्थ को देखता है। अर्थ ही ब्रह्म है, शब्द भौतिक विश्व है। शब्द अर्थ को प्रकट करनेवाला काव्य है। शब्द प्रकट है, अर्थ रहस्य है। इसीलिए अर्थ को 'उपनिषद्' कहा है। यह गीता स्थूल दृष्टि से शब्दों में निबद्ध गीत या कविता है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से यह महान् रहस्य या उपनिषद् है। जो गुह्य अर्थ है, वही अध्यात्म है। वह एक अनबूझ पहेली है। इसलिए उसे संप्रश्न भी कहते हैं। यह रहस्य ही ब्रह्मविद्या है। भारतीय संस्कृति ने आरंभ में ही इस ब्रह्मविद्या या रहस्य-ज्ञान को जिस वाङ्मय द्वारा प्रकट किया, उसी की संज्ञा वेद है। कालान्तर में वेद के ही ज्ञान को वेदारण्यक या उपनिषद् या वेदान्त भी कहने लगे। ये सब शब्द साहित्य में प्रयुक्त

हुए हैं। 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी' कालिदास के इस वाक्य में उपनिषदों की ही परम्परा को वेदान्त कहा है। ब्रह्मसूत्र तो साक्षात् उपनिषदों की अध्यात्मविद्या की ही व्याख्या करने के लिए है। इसी दृष्टि-कोण से पुष्पिका में गीता के ज्ञान को उपनिषद् कहा गया है। जो उपनिषदों का अर्थ है, वही गीता में है। उपनिषद् गौएं हैं, गीता उनका अमृत दूध है। जैसा हम आगे देखेंगे, वेद और उपनिषदों की शब्दावली या भावों का हवाला देते हुए गीताकार ने अपने विचार प्रकट किये हैं। क्षर, अक्षर, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ऊर्ध्व, अधः, अश्वत्थ आदि ऐसे ही शब्द हैं। जो गीता को समझना चाहे, उसे वेद-विद्या तक पहुंचने के लिए अपने मन को तैयार रखना चाहिए। यदि यह ठीक है कि उपनिषदों की मलाई गीता में आई है तो जिस दूध की वह मलाई है, उससे परिचित होने के लिए भी हमारे मन में उमंग होनी चाहिए। गीता में जितना स्थान कर्मशास्त्र को है, उतना ही ब्रह्मविद्या को है। गीता के लिए ब्रह्म के विना कर्म की कोई स्थिति नहीं। ब्रह्मशून्य लिये कर्म बंधन या केवल श्रम है। इस प्रकार गीता की पुष्पिका उसे समझने के तीन स्पष्ट सूत्र हमें देती है। पहला यह कि विश्व और मनुष्य दोनों का मूल एक सत् तत्त्व है। दूसरा यह कि ज्ञान और कर्म दोनों ही गीता के विषय हैं और दोनों ही मनुष्य के लिए आवश्यक हैं एवं तीसरा यह कि गीता का यह उपदेश ईश्वरीय ज्ञान या दिव्य ज्ञान के अनंत स्रोत वेदों और उपनिषदों का निचोड़ है। वेद और उपनिषद् भारतीय अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या या सृष्टिविद्या के स्रोत हैं। इस क्षेत्र में प्राचीन भारत के मनीषियों ने जो सशक्त और उदात्त चिंतन किया था, उसका सार गीता है। किसी अन्य शास्त्र के खण्डन-मण्डन में गीता को रुचि नहीं। उसका उद्देश्य भारतीय ज्ञान का मथा हुआ मक्खन प्रस्तुत करना है। गीता की शैली और भाव दोनों मधुर रस से ओत-प्रोत हैं, अतः वह मानव के हृदय की निकटतम भाषा है।

दूसरा अध्याय—सांख्ययोग

विषाद की चरम सीमा पर पहुंचे हुए अर्जुन के लिए ज्ञान और कर्म दोनों की ही शक्ति क्षीण हो चुकी थी। न वह इस योग्य रह गया था कि प्रवृत्ति मार्ग में लग सके और न निवृत्ति मार्ग को ही दृढ़ता से ग्रहण करने की उसमें पात्रता उत्पन्न हुई थी। किन्तु अर्जुन ने जो कहा, उससे प्रकट होता है कि वह अपने लिए निवृत्ति का मार्ग चुनना श्रेयस्कर मान रहा था। उसके तर्कों में सार नहीं था, क्योंकि उनकी उसके जीवन के साथ असंगति थी। अतएव सर्वप्रथम आवश्यक था कि उसके उन हेत्वाभासों का कुहासा या आवरण दूर किया जाय और निवृत्ति धर्म का जो सच्चा स्वरूप है, उसकी व्याख्या की जाय। यही गीता के दूसरे अध्याय के विषय हैं।

सर्वप्रथम भगवान् ने प्रज्ञादर्शन के दृष्टिकोण से अर्जुन के विचारों की समीक्षा की। प्रज्ञा-दर्शन का आधार मनुष्य की बुद्धि या व्यवहार में काम आनेवाली समझदारी है। चाहे जैसी परिस्थिति हो, प्रज्ञा ही मनुष्य का सहारा है। हम पहले कह चुके हैं कि प्राचीन युग में प्रज्ञा-दर्शन नाम का एक विशेष दृष्टिकोण था, जिसकी विस्तृत व्याखया उद्योग पर्व के अन्तर्गत विदुर-नीति में आ चुकी है। प्रज्ञा, पञ्ञा, पण्डा, ये तीनों बुद्धि के पर्याय हैं। प्रज्ञावादी को लोक में पण्डित भी कहते थे। कृष्ण प्रज्ञावादी थे और अर्जन का भी दृष्टिकोण यही था। इस शास्त्र का दृष्टिकोण यह है कि जीवन, में मध्यमार्ग का आश्रय लिया जाय। इसके अनुसार अध्यात्म और जीवन, ये दोनों विरोधी तत्त्व नहीं।

अध्यात्म और व्यवहार का मेल ही प्रज्ञा है

इनका समन्वय या मेल करना संभव है और वही इष्ट है। प्रज्ञा दर्शन के अनुसार सोचते हुए अर्जुन को ऐसा जान पड़ा कि युद्ध करने की अपेक्षा युद्ध न करना बढ़कर है। जिन्होंने अबतक उसके अधिकारों का अपहरण किया था, उन्हें मारने की अपेक्षा भीख मांगकर खाना

श्रेयस्कर है। इस प्रकार की थोथी विचारधारा को कृष्ण ने 'प्रज्ञावाद' कहा है और उसकी हंसी उड़ाई है (२।११)। सर्व प्रथम प्रज्ञावादी को यह ज्ञात होना चाहिए कि मृत्यु और जन्म दोनों अटल हैं। जन्म से हर्ष और मृत्यु से शोक करना प्रज्ञादर्शन का अंग नहीं (गतासू-नगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः २।११, पण्डिताः=प्रज्ञावादिनः)। प्रज्ञादर्शन की सबसे करारी टक्कर भाग्यवादी दर्शन से थी, जिसे नियतिवाद या दैष्टिक (दिष्ट-भाग्य) मत भी कहते थे। वस्तुतः जन्म और मृत्यु दोनों टाले नहीं जा सकते। वे समय से होकर ही रहते हैं। इस बात को प्रज्ञावादी और नियतिवादी दोनों मानते थे, किन्तु दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न थे। नियतिवादी सोचता था कि जब भाग्य के विधान से सबको जीना और मरना है तो मनुष्य उसका हेतु क्यों बने? वह अपने कर्म से इसमें निमित्त क्यों बने? अतएव शान्ति से रहना अच्छा। युद्ध आदि के बखेड़े में पड़ना ठीक नहीं। इसी को वे निर्वेद या वैराग्य कहते थे। शांति-पर्व १७१।२ के अनुसार नियतिवादी मत के पांच सिद्धांत थे—सर्वसाम्य (सबको समान समझना, अर्थात् कर्म से उन्नति और ह्रास के सिद्धांत को न मानना), अनायास (हाथ-पैर हिलाकर श्रम न करना और अजगर की वृत्ति से जीवन विताना), सत्यवाक्य, निर्वेद (वैराग्य लेकर कर्म के प्रति उदासीन रहना), अविवित्सा (जीवन की उपलब्धियों से अलग रहना)। भाग्यवादी 'मा कर्म कार्षीः' 'मा कर्म कार्षीः' रट कर शारीरिक आर वौद्धिक दोनों प्रकार के कर्मों का निराकरण करते थे और कहते थे कि इस प्रकार की निष्कर्म वृत्ति से ही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। प्रज्ञावाद का लक्ष्य भी 'नैष्कर्म्य' और शान्ति ही था, किन्तु वे दूसरे तर्क और दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे। जब व्यक्ति का जीना और मरना किसी ध्रुव नियम के अधीन है, तो जो होकर रहेगा उसे टाला नहीं जा सकता, अतएव जो जिसका कर्तव्य है, उससे मुंह मोड़ना उचित नहीं। दूसरा तथ्य यह कि जन्म और मरण के अटल विधान में उस प्रकार के शोक और मोह का कोई स्थान नहीं, जैसा भीष्म-द्रोण आदि की कल्पना से अर्जुन के मन में उत्पन्न हो गया था। ये ही युक्तियां कृष्ण ने सामने रखीं। अर्जुन ने जिस ढंग से सोचा था, वह प्रज्ञादर्शन का आभास था, सत्य नहीं। भगवान् ने

जीवन और मरण के संवंध में प्रज्ञादर्शन के वास्तविक दृष्टिकोण को और अधिक पल्लवित करते हुए कहा कि मैं और तुम और ये सब योद्धा नित्य हैं अतएव सदा से हैं और सदा रहेंगे। कभी ऐसा न था, जब ये न रहे हों और कभी ऐसा नहीं होगा, जब ये न रहें। इनकी जन्म, वृद्धि और ह्रास के नियम को इस प्रकार काल के अधीन समझो, जैसे प्रत्येक के शरीर में कौमार्य, यौवन और जरा के बाद फिर नया शरीर आ जाता है (२।१२-१३)। स्पष्ट है कि यह वाक्य आत्मा की नित्य सत्ता को मान कर कहा गया है, जो प्रज्ञादर्शन का अंग था। नियतिवादी दर्शन में आत्मा की सत्ता पर उतना वल न था, जितना भूतों के व्यवहार पर। जो व्यक्ति भूतों को अधिक महत्त्व देता है, वह संयोग-वियोग, सुख-दुःख इनसे विचलित होता है। अनात्मवादी बुद्ध ने भी इन तथ्यों पर अधिक ध्यान दिया था, किन्तु जो आत्मवादी नित्य आत्मा में विश्वास रखते हैं, उनके अनुसार सुख दो प्रकार का है—एक अमृत सुख और दूसरा मात्रा सुख। विषयों से संवंधित पांच तन्मात्राओं के फेर में पड़कर जो सुख-दुःख होते हैं, वे मात्रा सुख हैं, अनित्य हैं, आने और जानेवाले हैं। उन्हें सहना ही होगा। जो इनसे ऊपर उठता जाता है, वही धीर है। दुःख और सुख को एक समान मान कर जो आत्मा के अमृत सुख का उपभोग करता है, वही धीर या प्रज्ञाशाली है (सम दुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते, २।१५)। यहां यह स्पष्ट है कि आत्मा का सुख अमृत सुख और इन्द्रियों का सुख मात्रा सुख है। पहला नित्य, दूसरा क्षणिक है।

आत्मवाद और देहवाद

जव भगवान् ने अमृत सुख की ओर ध्यान दिलाया और इन्द्रिय सुख की अपेक्षा उसे श्रेयस्कर कहा तो उसी प्रसंग में यह भी आवश्यक हुआ कि आत्मा का निराकरण करके भौतिक देह को प्रधान माननेवाले दृष्टिकोण का भी खण्डन किया जाय। यहां प्रकट रूप से वे खण्डन की भाषा का प्रयोग नहीं करते, किन्तु नित्य आत्मा की सत्ता और स्वरूप के विषय में जिस रोचनात्मक शैली का उन्होंने प्रयोग किया है, वह अत्यंत आकर्षक है। वेद से लेकर उपनिषदों तक जो अध्यात्म-विद्या की अप्रतिहत मान्यता थ

अर्थात् ब्रह्म तत्त्व या सत् तत्त्व या आत्म तत्त्व में ध्रुव विश्वास, वही सार-रूप में गीता के इन श्लोकों में (२।१६-३०) आ गया है। यहां उन प्राचीन तत्त्वदर्शियों का स्पष्ट उल्लेख आया है जो सद्सद्वाद की युक्तियों से ब्रह्म की सत्ता के विषय में विचार करते थे। नासदीय सूक्त के सद्मद्वाद दर्शन में उन्हीं की विचारधारा पाई जाती है। और भी ब्राह्मण तथा उपनिषदों में अनेक स्थानों पर इस प्रकार के दार्शनिक चिंतन का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार दो तत्त्व हैं। एक ब्रह्म, जिसे 'आभु' (ऋग्वेद १०।१२९।३) कहते थे—आ समन्तात् भवतीति आभु, अर्थात् जो सर्वतः परिपूर्ण, देश और काल में सर्वत्र व्यापनशील है, वह सत्तत्त्व आभु है। इसकी अपेक्षा विश्व 'अभ्व' कहा जाता है—भूत्वा न भवतीति अभ्वम्, अर्थात् जो है, ऐसा जान पड़े, किन्तु फिर कुछ नहीं रहता। इसे ही वैदिक भाषा में 'तुच्छ्य' भी कहा गया है। तुच्छ्य या क्षुद्र ने उस विराट् ब्रह्म की सत्ता को ढक रखा है (तुच्छ्येन आभु अपिहितम्, ऋग्वेद)। यही नित्य ब्रह्म और क्षणिक विश्व का संबंध है। गीता ने जिन सत् और असत् दो शब्दों का प्रयोग किया है, उनका संकेत ऊपर कहे हुए ब्रह्म और जगत् के स्वरूप की ओर ही है। आभु कभी अभ्व नहीं हो सकता और अभ्व कभी आभु नहीं बन सकता। दोनों के स्वरूप और स्वभाव सर्वथा विभिन्न हैं। तत्त्व-दर्शी ऐसा निश्चित जान चुके हैं—(नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः, २।१६)। उस नित्य सत् तत्त्व को ही अविनाशी और अव्यय भी कहते हैं। वैदिक दर्शन के अनुसार तीन प्रकार के पुरुष कहे गये हैं। एक अव्यय, दूसरा अक्षर, तीसरा क्षर। अव्यय को ही अज भी कहते हैं। अक्षर और क्षर की व्याख्या स्वयं गीता में आगे कही गई है (१५।१६)। अज या अव्यय के लिए गीता में पुरुषोत्तम और परमात्मा शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं (१५।१७-१८)। अध्यात्म भाषा की समृद्धि इन नामों में प्रकट हुई है। जो अज है, वह नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, अविनाशी है, अप्रमेय है। इस प्रकार की परिभाषाएं गीता में और उपनिषदों में समान रूप से मिलती हैं। इसे शरीर में रहने के कारण नित्य शरीरी (२।१८) या देही (२।३०) भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य आत्मा से है। विराट् पुरुष का शरीर यह विश्व है और व्यष्टि

आत्मा का शरीर यह पंच भौतिक देह है। ब्रह्म के और आत्मा के शरीर की यह कल्पना विशुद्ध वैदिक है। वेदों में ब्रह्म की एक संज्ञा पुरुष है, जैसा पुरुषसूक्त में प्रसिद्ध है। उसकी व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ग्रंथों में लिखा है कि वह ब्रह्म विश्व-रूपी पुर में निवास करने के कारण 'पुरिशय' कहलाता है और इस गुण के कारण उसे परोक्ष शैली या सांकेतिक भाषा में पुरुष कहते हैं (प्राण एष स पुरि शेते तं पुरि शेत इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते, गोपथ ब्रा० पूर्वभाग १।३९)। शरीर शब्द 'शॄ विशरणे' धातु से बनता है, अर्थात् यह शरीर पंचभूतों का समुदाय है, जो कुछ समय के लिए है, पर वे बिखर जाते हैं। इन पंचभूतों की विधृति अर्थात् इन्हें एकत्र धारण करनेवाला जो तत्त्व है वही प्राण है, वही देही, शरीरी और आत्मा है।

वैदिक दर्शन के इस मूल तत्त्व को गीताकार ने बहुत ही उदात्त और स्पष्ट शब्दों में कहा है, "यह विश्व (इदं सर्वम्) जिससे प्रकट हुआ है वह अविनाशी है, उस अव्यय का विनाश कभी संभव नहीं। देह का अंत होता है, किन्तु उसमें निवास करने वाले आत्मा का नहीं। आत्मा न कभी जन्म लेता है, न मरता है, क्योंकि वह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। यह आत्म-तत्त्व काल-परिच्छिन्न नहीं, सनातन है, यह स्थाणु और अचल है अर्थात् देश और काल के वशीभूत नहीं होता। इसकी सत्ता सर्वत्र है। यह अव्यक्त है। इसके कारण से व्यक्त भौतिक देह का अनुभव होता है। देह विकारी है, यह स्वयं विकार-रहित है'।" वैदिक दर्शन के इस प्राचीन और सर्वसम्मत सिद्धांत को अर्जुन के सामने रखकर कृष्ण ने उसकी युक्तियों का उत्तर दिया, "यदि आत्मा की नित्यता को तुम मानते हो तो हे अर्जुन! यह स्पष्ट है कि न कोई किसी को मारता है, न कोई मरता है। शस्त्र जिसको काटते हैं, वह देह है, आत्मा पर आग, पानी और हवा का असर नहीं होता। यह जो भौतिक देहों का बनना-बिगड़ना तुम देखते हो, यह तो ऐसा ही है जैसे पुराना वस्त्र छोड़कर नया पहन लेना (२।१९-२३)।" इस वैदिक मत के अतिरिक्त और भी कई मत अस्तित्व में आ चुके थे, जैसे भूतवाद और स्वभाववाद। ये जन्म और मृत्यु को तो मानते थे, किन्तु नित्य आत्मा को नहीं। यहां गीताकार ने उनके मत का उल्लेख करते हुए भी अपनी ही

युक्ति का समर्थन किया है, "यदि तुम इसे नित्य (बार-बार) जन्म लेने और मरने वाला मानो तो भी शोक करने का कारण नहीं (२।२६)। यह क्षणिकवादी दृष्टिकोण था, जो जन्म एवं मृत्यु आदि सांसारिक घटनाओं को स्वभाव से प्रवर्तित मानता था, ब्रह्म आदि कारणों की प्रेरणा से नहीं।

आत्मा के विषय में प्राचीन मतवाद

भगवान् कृष्ण प्रज्ञावादी दर्शन के अनुयायी थे। ऊपर उन्होंने स्वभाववादी दार्शनिकों की उक्तियों का खण्डन किया है। इन्हीं से मिलता जुलता दर्शन यदृच्छावाद था। उसके अनुयायी मानते थे कि विश्व का न कोई रचनेवाला है, न इसका कोई आदि है, न अन्त है, अर्थात् यह जन्म और मृत्यु के किसी नियम से नियन्त्रित नहीं है। यह तो अपने आप ही पड़ा है, न इसके आदि का ठिकाना है, न अन्त का। जो वीच में देख रहे हो, वही सवकुछ है। इस मत के उत्तर में कृष्ण का कहना है कि यदि इस मत को मान लिया जाय तो भी शोक करना ठीक नहीं। आत्मवादी लोग इसी युक्ति का अपने पक्ष में भी उपयोग करते थे। उनका कहना था कि आत्मा पहले भी अव्यक्त या अमूर्त था, और वाद में भी वह इसी स्थितिको प्राप्त होजायगा। केवल वीच में ही शरीर के संयोग से वह मूर्तरूप में दिखाई पड़ता है। तो फिर ऐसी स्थिति में रोने-धोने से क्या लाभ (२।२८)। वस्तुतः आत्मा के सच्चे स्वरूप के विषय में उस युग के तत्ववादियों के विभिन्न मतों का एक गड़बड़झाला-सा ही दीखता है। उसी का संकेत २।२९ श्लोक में है—कोई तो इस आत्मा के दर्शन को वड़ा अचरज मानते हैं, कोई दूसरे इसे वड़े अचरज-भरे शब्दों में इसका वर्णन करते हैं, और कोई जव इसे सुनते हैं तो वहुत अचरज में भर जाते हैं कि क्या ऐसा होना भी संभव है, अर्थात् सुननेवालों को आत्मा के उन गुणों में विश्वास नहीं होता। वे नहीं मानते कि कोई ऐसी वस्तु भी संभव है जो आग, पानी और हवा से कटपिट न सके। इस आश्चर्य-भरी शैली में आत्मा की चर्चा करनेवालों में ऐसा कोई नहीं है, जो इसे ठीक तरह जानता हो। यहां स्वभाववाद नियतिवाद, भूतवाद आदि दर्शनों की आत्मा-संबंधी मान्यता पर गीताकार

ने उपहासात्मक शैली में दृढ़ प्रहार किया है। इसके अनन्तर पुनः वैदिक अध्यात्मवादी दृष्टि से कहा है कि शरीर में आया हुआ यह आत्मा (देही) नित्य है, कभी मर नहीं सकता। इसलिए कोई भी प्राणी शोक के योग्य नहीं है (२।३०)। उन पुराने दर्शनों में एक मत या दिट्ठि कुल या जाति पर आश्रित थी। उसे योनिवाद कहते थे। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में उसका उल्लेख आया है—'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् (१।२)। शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म पर्व में (अ० १७ पूना संस्करण) योनिवाद दर्शन के मतों का विस्तृत वर्णन है। वे लोग मानते थे कि मनुष्य के कर्म या जीवन का निर्णायक न भाग्य है, न पुरुषार्थ, वल्कि जिस कुल, जाति या योनि में उसका जन्म हुआ है वही सवकुछ है। योनि से ही स्वधर्म या कर्तव्य का निर्णय हो जाता है। शृगाल को क्या करना है और मनुष्य को क्या करना है, यह तो उनकी योनि से ही निश्चित हो गया। उसे न भाग्य बदल सकता है, न कर्म। इस मत के मानने वाले विशेषतः कुलीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य राजा आदि थे। इनका कहना था कि अपने-अपने चोले में सव सुखी रहते हैं, कोई इसे छोड़ना नहीं चाहता। उसी से अधिकारों का निर्णय होता है। इस दृष्टि से कृष्ण ने कहा, "अर्जुन ? तुम क्षत्रिय की योनि में जन्मे हो, इसी से तुम्हारे स्वधर्म का निर्णय हो गया। उस धर्म का पालन करो, उससे घवड़ाओ मत। क्षत्रिय को धर्मप्राप्त युद्ध से वढ़कर और क्या चाहिए (२।३१) ? यदृच्छा या भाग्य से तुम्हारे लिए स्वर्ग का द्वार खुल गया है, ऐसा युद्ध तो किसी भाग्यशाली क्षत्रिय को ही मिलता है (२।३२)। कहीं इस धर्मयुद्ध के अवसर से चूक गये तो स्वधर्म भी जायगा और पाप भी लगेगा। जन्म-जन्म के लिए लोग तुम्हें धिक्कारेंगे। युद्ध में मृत्यु से भागोगे तो निन्दारूपी मृत्यु तुम्हें न छोड़ेगी। जो आवरू वाला है, उसके लिए निन्दा मृत्यु से भी भारी है। महायोद्धा तो यही समझेंगे कि तुम भगोड़े हो। अवतक जो तुम्हें मानते रहे, वे ही हँसेंगे। तुम्हारे वैरी तुम्हारे लिए क्या-क्या कुवाच्य न कहेंगे ? वे कहेंगे, 'अरे, वह यही अर्जुन है, जो वृहन्नला वना था। यह युद्ध क्या जाने ?' इससे बढ़कर तुम्हें दुःख क्या होगा ? तुम्हारे जैसे शूर क्षत्रिय दो ही बात मानते हैं, मर गए तो स्वर्ग का राज्य भोगेंगे और जीत गये

तो पृथ्वी का। इसलिए उठो और लड़ने के लिए कमर कसो (२।३३—३७)।"

इसके बाद कृष्ण ने अगले श्लोक में नियतिवादियों के पांच सिद्धान्तों में से समता सिद्धान्त का उपयोग करते हुये युद्ध के पक्ष में एक युक्ति दी, "सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीत-हार, इनको एक-सा समझकर युद्ध करो।" ऊपर के दृष्टिकोणों को यहां सांख्यों की बुद्धि या दृष्टि कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ये सब दृष्टियां प्रकृतिवादी दार्शनिकों की थीं। पहले पुरुषवाद या आत्मवाद की दृष्टि से विचार किया, फिर केवल शरीर की दृष्टि से। अब इन दोनों के समन्वय की दृष्टि से विचार करते हैं। वही कर्मयोग की दृष्टि है। कर्मयोगी संसार के कर्म और आत्मा के धर्म दोनों को साथ लेकर चलता है। उसके लिए ज्ञान और व्यवहार में विरोध नहीं होता। वह आत्मा के ज्ञान को प्रत्यक्ष व्यवहार में उंड़ेलकर जीवन के भीतरी और बाहरी दोनों रूपों को प्रकाश से भर देता है। कर्मयोग की बड़ाई यह है कि इस मार्ग में कर्म के पूरा हो जाने या अधूरा रह जाने का झंझट नहीं है। जितना कर लिया जाय, वह अपने में पूर्ण है, क्योंकि कर्मयोगी की दृष्टि कर्म पर रहती है, कर्म-फल पर नहीं। अतएव कर्मयोग में सदा ईश्वर की सत्ता के बल का अनुभव होता है, अभाव विघ्न और निराशा का अनुभव नहीं होता। कर्मयोगी के सामने केवल एक दृष्टि रहती है, वह सुनिश्चित कर्म की है। जो कर्म फल को देखते हैं, उनकी बुद्धियां बँट जाती हैं।

मीमांसकों का कर्मवाद

यहां गीताकार ने उन कामनाओं का वर्णन किया है, जिनके कारण लोगों में भांति-भांति के कर्म फलों के लिए कर्म करने की इच्छा होती है। यह दृष्टिकोण विशेषतः उस युग के यज्ञवादी मीमांसकों का था। पुत्रकाम्या इष्टि से सन्तान होगी, मित्रविन्दा इष्टि से मित्र-सुख मिलेगा, कारीरी इष्टि से अच्छी वृष्टि होगी। इस प्रकार के छोटे-बड़े सैकड़ों यज्ञ और उनके उतने ही फलों के भुलावे का एक जाल ही लोक में फैल गया था। बड़े यज्ञों की कौन कहे, छुटभइये देवताओं की पूजा की भी भरमार

हो गई थी। इसे ही यहां वेदवाद अर्थात् यज्ञवाद की फूली हुई वाणी कहा है। भोग और ऐश्वर्य, धन और पद, यही इस दृष्टि के पल्ले रह गया था। स्वर्ग और नरक के बहुत से पचड़े उठ खड़े हुए थे। ऐसा कहने वाले मानने लगे थे कि इन थोथे कर्म-काण्ड के सिवा और कुछ है ही नहीं (नान्य दस्तीतिवादिनः २।४२)। जहां इस तरह का मत चल जाय वहां मन की शांति और एकाग्रता नहीं हो सकती। कृष्ण का कटाक्ष इस तरह कर्मकाण्ड से भरे हुए (क्रिया विशेष बहुल) वेदवाद पर है।

वेद का ब्रह्मवाद

वस्तुतः वेद का सिद्धान्त तो ब्रह्मवाद है। 'ब्रह्म तद्वनम ब्रह्म उ वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः। ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन' इत्यादि अनेक स्थानों में प्रतिपादित महान् ब्रह्म सिद्धान्त ही वेदों का मूल अभिप्राय था। उसकी तो यहां भरपूर प्रशंसा ही की गई है। ब्रह्म-विज्ञानी व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि उसके चारों ओर ब्रह्मानन्द का समुद्र उमड़ रहा है। जब इस प्रकार का विज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है तब मनुष्य को स्थूल शब्दों में रुचि नहीं रहती, उसका मन अनंत अर्थ के साथ जुड़ जाता है। अर्थ अमृत है, शब्द मर्त्य है। इसलिए ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त कर लेने पर मन शब्दों की सीमा से बहुत ऊपर उठ जाता है। जिस समय चारों ओर से जल की बहिया आई हो, उस समय कुएं के सीमित जल की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसी ही स्थिति उपनिषदों और वेदों में प्रतिपादित परम पुरुष के साक्षात्कार के समय हो जाती है। यही गीताकार का आशय है। सब वेदों से जानने योग्य जो ब्रह्म-तत्व है, वह प्रकृति से पृथक अध्यात्म पुरुष है। सत्व, रज, तम, इन तीन गुणों तक प्रकृति की सीमा है और इन्हीं गुणों तक वैदिक कर्म-काण्ड का फल है। ब्रह्म-विज्ञान या अध्यात्म, ज्ञान उससे ऊपर है। इसकी प्रशंसा तो गीता में अनेक प्रकार से की गई है। वस्तुतः गीता को ब्रह्मविद्या कहा गया है और तत्वतः वेदविद्या ब्रह्मविद्या ही है। यज्ञीय कर्मकाण्ड तक जो वेदों को इतिश्री कहते हैं, वे यथार्थ को नहीं जानते। उपनिषदों में वेदों का यही अर्थ साक्षात् भरा हुआ है। उपनिषद्-रूपी गायों का अमृतरूपी

दूध ही गीता का ग ान है। केवल ज्ञान अमृत है और केवल कर्म पानी है। पानी और अमृत के मिलने से दूध बनता है। वही मानव का पोषक आहार बन सकता है। ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय ही गीता का कर्मयोग है। जब भगवान उस कर्मयोग की व्याख्या का आरम्भ करने लगे तो यह आवश्यक हुआ कि कर्मकाण्ड की उलझनों से भरे हुए कर्मवाद का खण्डन किया जाय और कर्म के विषय में प्रज्ञावादी मानव की जो स्वच्छ दृष्टि होनी चाहिए, उसकी व्याख्या की जाय।' कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छतं समाः' इस मन्त्र का यह उद्देश्य नहीं कि कर्मकाण्ड की जटिलता में पड़े हुए जीवन के सौ वर्ष विताओ, बल्कि इसका आशय यह था कि आत्मा के दिव्य गुणों की और शरीर के गुणों की जितनी संभावनाएं हैं, उन्हें कर्मों के द्वारा प्राप्त करते हुए दीर्घ आयुष्य का भोग करे।

कर्मयोग-शास्त्र

इसके अनन्तर भगवान् उस कर्मयोग-शास्त्र की व्याख्या करने लगते हैं, जिसे प्रज्ञावादी दार्शनिकों ने वेद और जीवन दोनों के तत्त्वों का निचोड़ लेकर सर्वथा नई दृष्टि से प्रतिपादित किया था।

कर्मयोग-शास्त्र का निचोड़ गीता के एक श्लोक में आ गया है—(कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि २।४७)। कर्म पर ही तुम्हारा अधिकार है, कर्मफल पर नहीं। अतएव तुम कर्म के हेतु बन सकते हो, कर्मफल के हेतु नहीं बन सकते। तुम्हारी शक्ति की सीमा जिस कर्म तक है, उसे कभी छोड़ कर बैठ रहने का भाव मन में मत लाओ। ऐसा करने से कर्म और कर्मफल दोनों तुम्हारे हाथ से निकल जायेंगे।

कृष्ण के ये वाक्य कर्मयोग-शास्त्र के मूल सूत्र हैं। इन्हीं की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है और कितनी ही अन्य युक्तियों से इसी तत्व का समर्थन किया गया है। कर्मयोग का मार्ग शरीर-यन्त्र से केवल बाहरी कर्म करना नहीं है। सच्चे कर्मयोग के लिए मन और बुद्धि का संस्कार आवश्यक है। इसके लिए कृष्ण ने योग की दो परिभाषाएं बताईं, "समत्वं

योग उच्यते" (२।४८) "योगः कर्मसु-कौशलम्" (२।५०)। सच कहा जाय तो कर्म की अपेक्षा बुद्धि का सुधार अधिक महत्त्वपूर्ण है। कर्म में तो सभी लिपटे हुए हैं, किन्तु कर्मयोगवाली बुद्धि के प्राप्त करने से ही कर्म का बंधन नहीं लगता। सिद्धि और असिद्धि, दोनों में एक समान रहने की जो मानसिक साधना है उसी का नाम समत्वयोग है। यह बुद्धियोग या अनासक्तियोग बहुत ऊंची स्थिति है। इसकी तुलना में केवल कर्म बहुत नीचे की वस्तु है। अनासक्त भाव से जो कर्म करना सीख लेता है, वह इस पचड़े में नहीं पड़ता कि क्या करें, क्या न करें। उसके लिए तो प्राप्त कर्तव्य को अच्छी तरह करना, यही कर्मयोग का स्वरूप है। बुद्धि में समत्व-भाव और कर्म करने की कुशल युक्ति, ये दोनों कर्मयोग-शास्त्र की दो आंखें हैं। जो चतुर हैं. वे कर्मफल से अपना मन हटाये रहते हैं और इसी कारण कर्म करते हुए भी कर्मों में लिप्त न होकर मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। ज्ञात होता है कि उस युग के शास्त्रों में सांख्यों के ज्ञानमार्ग का और कर्म-संन्यास का एवं मीमांसकों तथा इतर शास्त्रों के कर्म-मार्ग का बहुत ऊहा-पोह किया गया था। उसे यहां मोह का दलदल कहा है। उन श्रुतियों के दोहरे तर्कों से यह निर्णय करना कठिन था कि कौन-सा मार्ग ठीक है। कृष्ण के ही वाक्यों से ऐसा जान पड़ता है कि सांख्य के निवृत्तिमार्ग की शान्त और समत्व-स्थिति और कर्मवादियों के पुरुषार्थ, इन दोनों को लेकर वे एक नया सिद्धान्त सिखाना चाहते हैं।

बुद्धियोग और कर्मयोग का मेल

अर्जुन को यह सन्देह हुआ कि बुद्धियोग और कर्मयोग इन दोनों का मेल कैसे संभव है। जो समत्व-भाव में मन को डालेगा, वह कर्म कैसे कर सकता है? यही उसका अगला प्रश्न है—समाधि या मन की एकाग्रता का जो अनुसरण करता है, जो सिद्धि-असिद्धि में समत्व रखता है, ऐसे स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति की कर्म-क्षेत्र में उतरने पर क्या दशा होगी। उसके संभाषण और रहन-सहन की कैसे पहचान की जायगी (२।५४)?

इस प्रश्न के उत्तर में कृष्ण ने स्थिर-बुद्धि की व्याख्या प्रायः निवृत्ति-

मार्गी सांख्यवादियों के शब्दों में ही की है। जो नैतिक और विराग साधना उस मार्ग में आवश्यक है, उससे कम मन की समाधि और संस्कार से कर्मयोगी का काम नहीं चल सकता। उसे भी दुःख और सुख के प्रभाव से अपने मन को बचाना होगा। उसे भी राग, द्वेष, भय और क्रोध छोड़ना होगा। उसे भी शुभ और अशुभ दोनों के आ जाने पर मन को एकसा रखना होगा। जैसे ज्ञानी विषयों से इन्द्रियों को सिकोड़कर अपने वश में रखता है, ऐसा ही कर्मयोगियों के लिए भी आवश्यक है। यदि मनुष्य हठात् उपवास आदि करे तो कुछ समय के लिए विषय छूट सकते हैं, पर मन से विषयों की लालसा तभी जायगी जब अन्तःकरण में आत्मा का प्रकाश भर जाय।

अभिध्या का सिद्धान्त

ज्ञात होता है कि प्रज्ञावादी दर्शन में सांख्य के समत्व-योग का तो सर्वांश में ग्रहण किया ही गया था, उसके साथ कर्मयोगियों ने इन्द्रिय और विषयों को वश में रखने के सिद्धान्त की भी अपने ढंग से व्याख्या की, अर्थात् विषयों का युक्त-आहार-विहार से भोग बुरा नहीं, वह तो आवश्यक है, किन्तु विषयों का ध्यान या मन से उनकी लालसा करते रहना बुरा है। विषयों में डूबा हुआ वैसा मन इन्द्रियों को भी मर्यादा से बाहर खींच ले जाता है, जैसे हवा का झोंका डोंगी को पानी में डुबो देता है। 'सनत्सुजातीय पर्व' में इसे अभिध्या का सिद्धान्त कहा गया है।

'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' आदि श्लोकों में उसी का वर्णन है। विषयों के रस-पूर्वक ध्यान से उनमें आसक्ति हो जाती है। उससे मोह या विवेक की हानि होती है। उससे अपने स्वरूप और अपने कर्तव्य, दोनों का ध्यान नहीं रह जाता। यही स्मृति का लोप है। उससे सब प्रकार की उच्च आध्यात्मिक बुद्धि अन्धकार में ढक जाती है और उसीसे व्यक्ति सर्वनाश की दशा में पहुंच जाता है। इस कठोर स्थिति से बचने का एक ही उपाय है कि इन्द्रियों को आत्मा के वश में रखकर विषयों का सेवन किया जाय।

कृष्ण के मत में विषयों को छोड़ना इष्ट नहीं। उनके राग से ऊपर उठ जाना बुद्धि के प्रसाद का कारण है। 'आत्मवश्यता' यही कर्मयोगियों का सूत्र था। सुख और शान्ति सभी दर्शनवाले चाहते हैं, किन्तु इन्द्रिय और विषय इनके पारस्परिक संबंध को मर्यादित किये बिना न शान्ति मिल सकती है, न सुख। अतएव जो भी दर्शन पहले हुए हों या आगे होनेवाले हों, उन सबका एक ही सार समझ में आता है, अर्थात् विषयों के साथ इन्द्रिय संयम की स्थिति। स्थिर-प्रज्ञा की कसौटी इन्द्रियों को वश में रखना ही है। यह परिभाषा सब देश और सब काल में मानवमात्र के लिए सत्य है। इन्द्रियसंयम को मानवीय प्रज्ञा का घनीभूत सूत्र ही कहना चाहिए।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (२।६८)

प्रज्ञा का अर्थ

सांख्य दर्शन में बुद्धि शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रचलित था। उसी के पर्याय प्रजा शब्द का प्रज्ञा-दर्शन में नवीन व्यापक अर्थ मान्य हुआ। बुद्धि शब्द को भी आर्यों का नया चोला पहनाया गया। विदुरनीति की व्याख्या में कहा जा चुका है कि जीवन के प्रति संतुलित समझदारी का दृष्टिकोण ही प्रज्ञा है। विदुर प्रज्ञावादी थे। कृष्ण प्रज्ञावादी दर्शन के महान् उपदेष्टा हैं। उनका सारा जीवन ही प्रज्ञावादी आचार का उदाहरण है। गीता उस दृष्टिकोण का महान् है। प्रज्ञा शास्त्र को ही पाली में 'पञ्ञाया' और देश्य प्राकृत में 'पण्णा' या 'पण्डा' कहते थे। प्रज्ञावादी के लिए ही लोक में 'पण्डित' यह नया शब्द चल गया। महाभारत के प्रज्ञावादी विदुर को जातकों में विदुर पंडित कहा गया है। प्रतिष्ठितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितधीः, स्थित-प्रज्ञ, ये सब शब्द एक ही अर्थ की ओर संकेत करते हैं। गीताकार ने इन सब पर अपनी स्वीकृति की छाप लगाते हुए इन्हें वैदिक ब्रह्मभाव या ब्राह्मी स्थिति के साथ जोड़ दिया है। वसिष्ठ आदि ऋषि और मनु आदि राजर्षियों की परम्परा के साथ गीताकार ने प्रज्ञावादी कर्मयोग की परंपरा को जोड़ते हुए विलक्षण समन्वय को प्रदर्शित किया है।

प्राचीन वैदिक युग में एक दर्शन अहोरात्रवाद था, जिसमें ज्योति और तम या दिन और रात के प्रतीक से सृष्टि की व्याख्या की जाती थी। इसे ही कालवाद भी कहते थे। उसी शब्दावली का आश्रय लेते हुए यहां संयमी और असंयमी की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार अध्यात्म-तत्त्व दिन है और भौतिक जगत् के विषय-भोग रात्रि हैं। प्रायः प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार अध्यात्म-जगत् में सोते रहते हैं, वह उनकी रात है, पर संयमी वहां जागता है। विषयों के जगत् में असंयमी बड़े चौकस रहते हैं। संयमी उसकी उपेक्षा करता है। निर्मम, निरहंकार आदि चित्त-वृत्तियों को अपनाकर इन्द्रियसंयम के द्वारा जिस बुद्धियोग या प्रज्ञा को ज्ञानवादी प्राप्त करते हैं, वही कर्मयोग का भी लक्ष्य है। ब्राह्मी स्थिति या ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति में दोनों एकमत हैं। इसके लिए एक दृष्टि इस अध्याय में रक्खी गई है। अब उसकी अधिक व्याख्या तीसरे अध्याय में आती है।

हम देख चुके हैं कि दूसरे अध्याय में जिसका नाम ही सांख्ययोग है, गीताकार ने सांख्य मार्ग के बुद्धियोग की अनेक युक्तियों को खुले जी से अपनाया है, किन्तु कर्मों को छोड़ देने में उन्हें अभिरुचि नहीं है, वरन् उनका जो निजी दृष्टिकोण था, जिसे हमने लगभग उन्हीं के शब्दों में प्रज्ञा-दर्शन कहा है, उसके साथ या उसके घाट पर सांख्य के बुद्धि-योग की उक्तियों के दोषों का ऐसी बारीकी से मेल कराया गया है कि श्रोता का मन आश्वस्त हो जाता है। जीवन में मन या बुद्धि की तैयारी के लिए जो सांख्यवादी कहते हैं, वही मांग तो प्रज्ञावाद की भी है। इतनी बात भूमिका के रूप में स्पष्ट कर लेने के बाद अब अगले अध्याय में गीताकार को खुलकर बताना चाहिए था कि कर्मयोग का अपना स्वरूप क्या है। वस्तुतः तीसरे अध्याय का यही विषय है, और इसी के अनुसार उसका नाम है 'कर्मयोग अध्याय'।

तीसरा अध्याय कर्मयोग

अर्जुन का खरा प्रश्न

इस अध्याय के पहले दो श्लोक बहुत चुभते हुए हैं। उनमें अर्जुन ने आलोचक के रूप में पहली ही बार कृष्ण से खरी-खरी बात की है, "अगर बुद्धि का मार्ग बढ़कर है तो स्पष्ट कहिए मैं उसे ही स्वीकार करूं। फिर क्यों मुझे घोर कर्म के पचड़े में डालते हैं? आप की बात में कुछ ऐसा आधा तीतर आधा बटेर है कि मेरी साफ समझ में नहीं आता कि आपका अभिप्राय क्या है। जो निश्चित एक मत हो, वही बताइए (३।१।२)। अर्जुन जानता था कि कृष्ण प्रज्ञावादी हैं और प्रज्ञावाद को कर्मवाद मान्य था। फिर कृष्ण ने सांख्य के बुद्धियोग इतना भारी बड़ा प्रज्ञा दर्शन के सिर पर क्यों रख दिया, इससे अर्जुन का क्षोभ स्वाभाविक था। दूसरी ओर कृष्ण का पैंतरा भी निपुणता से भरा हुआ है। पहले अध्याय में अर्जुन का मन विषाद की जिस अवस्था में पहुंच गया था, वही तो कर्म छोड़ देनेवाले सांख्य-मार्गियों की दृष्टि थी। एक प्रकार से अर्जुन पूरी तरह अनजान में ही उसी मार्ग का पक्का शिष्य बन गया था। पर ऊपर से उसने कृष्ण से यह भी कहा कि मैं आपका शिष्य हूं, मुझे उपदेश दीजिए। अतएव चतुर गुरु के रूप में कृष्ण ने बारीक मनोविज्ञान से काम लिया। उन्होंने वे सब बातें कह डालीं, जो अर्जुन के मन में पहले से भर गई थीं, अर्थात् बुद्धि-योगवालों की सारी युक्तियों को गिना डाला और उनके जीवनदर्शन का पूरा चित्र ऐसे रोचनात्मक ढंग से खींचा कि स्वयं अर्जुन को भी पूछना पड़ा, "क्या सचमुच आपका भी यही अभिप्राय है।" लोकभाषा में कह सकते हैं कि कृष्ण ने उसका तो काम चलाया, पर माल अपना ही बेचा, अर्थात् सांख्ययोग की बात करते हुए प्रज्ञादर्शन के रूप में कर्मयोग की भूमिका खड़ी कर दी।

सांख्य और योग की दो निष्ठाएं

जब अर्जुन ने अपने प्रश्नों से कृष्ण को गाढ़े में उतार दिया तो यह अनिवार्य हो गया कि स्पष्ट बात कही जाय। फिर भी उन्होंने सच्ची भागवती दृष्टि से सांख्य का निराकरण नहीं किया और कहा मैंने ही तो पुराने समय से लोक में दो निष्ठा चलाई हैं। सांख्यों का बुद्धियोग और कर्मयोगियों का कर्मयोग दोनों का उपदेष्टा मैं ही हूं। प्राचीन धार्मिक मान्यता के अनुसार सांख्य के आचार्य कपिल और कर्मयोग के आचार्य हिरण्यगर्भ दोनों ही भगवान् के अवतार हैं। जहां से ज्ञान की धारा बही है, वहीं तो कर्म के धारा का भी स्रोत है। निवृत्ति और प्रवृति दोनों का ही मूल वेद है। ऐसा मनु ने भी कहा है। अवश्य ही देवमार्ग और यतिमार्ग दोनों का उल्लेख ऋगवेद में है। वहां कहा है, "मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा ह्वितः' (ऋग्वेद, १०।१३६।४)। देवमाता अदिति के सात पुत्र सात आदित्य देवता हैं और सात ही वातरशना मुनि हैं। दोनों में सख्य है, किन्तु देवता मुनिवृत्ति स्वीकार न करके मुनियों को ही सौकृत्य अर्थात् प्राणात्मक कर्म या प्रवृत्ति के लिए सखा बनाते हैं। यही वैदिक कर्मयोग की दृष्टि थी, जिसके लिए भगवान् ने आगे कहा है कि इस अव्यय योग को मैंने 'विवस्वान्' से कहा था, और विवस्वान् ने उसे मनु को सिखाया। मनु से यह परंपरा राजर्षियों को मिली। इस प्रकार भगवान् का यह कहना सत्य है कि ब्रह्मवादी ज्ञानमार्ग और कर्मवाद दोनों की धारा एक ही मूल से निकलकर लोक में फैली। इसी बात को महाभारत ने यों कहा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि की इच्छा से सनकादि सात मुनियों को बनाया, पर वे निवृत्तिमार्गी हो गये। फिर उन्होंने दूसरे सात ऋषि बनाये, जिनसे प्रजाओं का कर्म चला। यही बात पुराणों ने कुछ दूसरे ढंग से कही है, अर्थात् दक्ष प्रजापति ने पांचजनी नामक अपनी स्त्री में सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। पर वे नारद के उपदेश से दिशाओं में चले गये, लौटे नहीं। तब वीरणी नामक स्त्री से उन्होंने साठ कन्याएं उत्पन्न कीं, जिनसे मैथुनी सृष्टि हुई और प्रवृत्ति मार्ग का क्रम चला।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का मूल एक होते हुए भी वैदिक दृष्टिकोण

प्रवृत्ति-मूलक ही रहा। निवृत्ति से श्रमणमार्ग विकसित होता गया, और प्रवृत्ति से यज्ञमार्ग। कृष्ण ने यज्ञमार्ग की त्रुटियों की भी कड़ी आलोचना की। भोग, ऐश्वर्य, स्वर्ग आदि अनेक कामनाओं के प्रलोभन से होनेवाला कर्मकाण्ड सचमुच वेद के तत्त्वज्ञान का अपलाप था। उसके स्थान पर गीता में दो बातें हैं, एक तो यज्ञ की बहुत ही व्यापक और उदार नई व्याख्या और दूसरे कर्म शब्द की नई व्याख्या। जब यजुर्वेद के पहले मन्त्र के अनुसार यज्ञ ही श्रेष्ठकर कर्म माना जाता था तो उस यज्ञ में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सभी उत्तम कर्म सम्मिलित थे। कालान्तर में यज्ञ का यह प्रतीकात्मक आधार धुंधला पड़ गया। उसी की पुनः प्रतिष्ठा गीता में जिस नये ढंग से की गई है, वही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। समस्त जीवन ही कर्ममय है और फल-त्याग की बुद्धि ही कर्म का यज्ञात्मक रूप है। यही गीता के अमृत दूध का मथा हुआ मक्खन है। इस श्रेष्ठ ज्ञान की स्थापना के लिए भगवान् ने जिन युक्तियों का आश्रय लिया, वे तीसरे अध्याय में क्रमशः आई हैं।

कर्म के पक्ष में युक्तियां

पहली बात तो यह है कि जो कर्म न करने की बात कहे, उससे पूछना चाहिए कि क्या कर्म से मुंह मोड़कर पल भर के लिए भी कोई तुम जीवित रह सकते हो? इसका उत्तर एकदम स्पष्ट और सुनिश्चित है (नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ३।५)। कर्म छोड़ बैठने से ही कोई निष्कर्म नहीं बन जाता और संन्यास ले लेने से ही सिद्धि मिल जाती हो, ऐसा भी हम नहीं देखते। दूसरे हरेक से बलपूर्वक कर्म करानेवाला तो प्रकृति का पहिया है। वह तीन गुणों की शक्ति से घूम रहा है। ऐसा कोई नहीं, जो जन्म लेकर उस पहिए पर न चढ़ा हो। यदि कोई यह समझता है कि मैंने उस पहिए को जीत लिया तो वह ढोंगी है। यह क्या बात हुई कि ऊपर से तो कर्मेन्द्रियों पर कनटोप चढ़ा दिया, पर मन से विषयों को टटोलते रहे। इसके लिए स्वयं अपनी जांच करने से सचाई खुल जाती है। भला मानुष वह है जो और चाहे कुछ करे या न करे, पाखंड न करे, जो जैसा है वह

अपने को वैसा ही प्रकट करे। मिथ्याचार जीवन का घोर शत्रु है। उससे मनुष्य का सारा व्यक्तित्व धुंवा बन जाता है। समस्या इन्द्रियों की बाहरी रोकथाम की नहीं, समस्या तो मन के सुधार की है। इन्द्रियों को मन से रोको और चाहे जितना कर्म करते रहो, तभी सच्चा असक्त बना जा सकेगा, यही कर्मयोग की विशेषता है।

गीताकार की कर्म के पक्ष में तीसरी युक्ति नितान्त भौतिक और स्थूल है—"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः" (३।८) प्रतिदिन का रहन-सहन और जीविका भी कर्म के बिना नहीं चल सकती। इससे अधिक दृढ़ उक्ति कर्म के पक्ष में आज भी देना संभव नहीं है। या तो मनुष्य स्वयं कर्म करे, या दूसरे के पसीने की कमाई से जीवित रहे, इन दोनों मार्गों में कोई समझौता है ही नहीं।

जब कर्म के बिना कोई सांस भी नहीं ले सकता तो दसों दिशाओं में चलने के लिए केवल कर्म का ही मार्ग रह जाता है। यहां प्रश्न यह उठता है कि ऐसे कर्म में तो लोग रात-दिन लगे हैं। फिर नई बात आप क्या चाहते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि केवल कर्म करना पर्याप्त नहीं, यद्यपि कुछ न करने से उतना भी अच्छा है, पर सच्चा कर्म वह है, जो यज्ञ की भावना से किया जाय। उसके अनुसार सारा जीवन ही यज्ञ बन जाता है। यज्ञ वह है, जिसमें कुछ त्याग किया जाय, कर्मरूपी यज्ञ में कर्म के फल का त्याग ही उसे पूर्ण करता है। कर्म को छोड़ बैठने से तो उस यज्ञ का स्वरूप ही बिगड़ जाता है। यज्ञार्थ कर्म कहें या निष्काम कर्म, एक ही बात है। कर्मफल के त्याग से ही कर्म का यज्ञीय रूप बनता है, फिर ऐसा भी नहीं कहा गया कि जब कर्म का फल मिलने लगेगा तो उसे न लेने का ही आग्रह बना रहेगा। सच तो यह है कि फल की आसक्ति का त्याग ही इस सारी युक्ति का सार है। अतएव उत्तम कर्म वह होगा, जिसमें फल की सिद्धि और असिद्धि का प्रश्न समभाव में रक्खा जाय। और दूसरी ओर कर्म करने का जितना कौशल है, उसकी पूरी चतुरता से काम किया जाय। यह भारी बात है और इसका अर्थ यह है कि मनुष्य में मन, प्राण, और शरीर की जितनी शक्ति है, उसकी भरपूर मात्रा कर्म में उंडेल देनी चाहिए। इस युक्ति से बढ़कर कर्म की और युक्ति समझ में नहीं आती।

यही कर्मयोग-शास्त्र की भित्ति है। यज्ञार्थ कर्म करो या मुक्तसंग होकर कर्म करो, यही इसका सार है।

यज्ञ और गीता में उसका नया उच्च अर्थ

यज्ञ कोई साधारण वस्तु नहीं। वह तो प्रजाओं के जीवन में पिरोया हुआ सूत्र है। क्या कोई यज्ञ से भाग सकता है? विश्वनिर्माता ने यज्ञ ही प्रजाओं को बनाया है, अतएव प्रत्येक जीवन यज्ञ का ही रूप है। प्रजापति ने स्वयं अपनी आहुति डाली तो यह विश्वरूपी सर्वहुत यज्ञ चला और चल रहा है। मनुष्य भी जिस काम में अपनी सर्वाहुति नहीं देता वह काम यज्ञ का रूप नहीं ग्रहण कर पाता। यज्ञ की यह विराट व्याख्या ठेठ वैदिक थी। वहां सैकड़ों प्रकार से विश्व की रचना को, जिसमें मानव का जन्म भी शामिल है, यज्ञ कहा गया है। वह विश्वकर्मा प्रजापति समस्त भुवनों की आहुति इस यज्ञ में डाल रहा है और इसके ऋषि होता और पिता के रूप में इसे अपना आशीर्वाद दे रहा है। वह इससे अपने लिए कुछ नहीं चाहता, केवल यज्ञ की पूर्ति चाहता है। कर्मयोग-शास्त्र की ऐसी उदात्त व्याख्या गीता से पूर्व किसी अन्य शास्त्र में देखने-सुनने में नहीं आती। वेदों में इस विश्व यज्ञ को प्रजापति का 'कामप्र' यज्ञ कहा गया है, अर्थात् जो ईश्वर की इच्छा है, वही इस विश्वयज्ञ में मिली हुई है। दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। यज्ञ से अतिरिक्त और किसी वस्तु के लिए और किसी फल के लिए इच्छा व्याप्त नहीं होती। यज्ञ स्वयं अपने में पूर्ण है, ऐसे ही यज्ञात्मक कर्म भी। 'एष वः अस्तु इष्टकामधुक्', इन शब्दों का संकेत भी इसी ओर है। विश्व की शक्तियों के साथ, जिन्हें देव कहा गया है, अपने आपको जोड़ना यज्ञ की व्याख्या वेद और गीता दोनों को मान्य है। यज्ञ तो जीवन की चक्रात्मक प्रवृत्ति है। इसके द्वारा व्यष्टि और समष्टि दोनों का समन्वय किया जाता है। जो व्यक्ति केवल अपने लिए खाता-कमाता है, उसे स्पष्ट शब्दों में चोर कहा गया है, क्योंकि उस मनुष्य का जीवन यज्ञात्मक नहीं है। समाज और विश्व के एक अंग के रूप में जीवित रहना यज्ञ है।

प्रश्न यह है कि कर्मयोग-शास्त्र की मीमांसा की भूमिका के रूप

भगवान् ने यज्ञ की यह नई व्याख्या क्यों आवश्यक समझी ? इसका उत्तर यह है कि उस युग में यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म माना जाता था। कर्म और यज्ञ दोनों एक-दूसरे के पर्याय हो गये थे। "यज्ञः कर्मसमुद्भवः" (३।१४) यह परिभाषा गीता ने स्वयं दी है। कर्मयोग का सच्चा अर्थ बताने के लिए यह आवश्यक था कि स्वर्गादि की अनेक कामनाओं से यज्ञ करने के पक्षपाती एवं कर्मफल को ही सबकुछ माननेवाले दृष्टिकोण से लोगों को मुक्त किया जाय। इसे ही पहले कुछ उपहासात्मक शब्दों में वेदवाद कहा जा चुका है। कृष्ण ने यज्ञ की जो नई व्याख्या वहां दी है, उससे तो समस्त जीवन ही प्रजापति के यज्ञ से उत्पन्न हुआ है। हम सब उस यज्ञ के अंग हैं। जैसे कर्म आवश्यक है, वैसे यज्ञ भी। आगे और भी स्पष्ट शब्दों में कहेंगे कि ब्रह्मा के विश्वरूपी विराट मुख में अनेक प्रकार के यज्ञ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भरे हुए हैं। उनमें भी द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञान-यज्ञ से तात्पर्य पोथीपत्रा वांच लेना नहीं, किन्तु उस समत्वबुद्धि की उपलब्धि है, जो सच्चे कर्मयोग की आत्मा है। इसके अनन्तर बाह्य कर्मप्रवृत्ति और आत्मज्ञान-विषयक प्र ृत्ति का समन्वय बताते हुए कहा गया है कि यदि आत्मा के लक्ष्य से जीवन में प्रवृत्त हुआ जाय तभी कर्म और अकर्म दोनों में समत्वबुद्धि की प्राप्ति संभव है। मुक्तसंग होकर किया हुआ कर्म, कर्म न करने के ही तुल्य होता है। कर्म-फलों की लालसा का परित्याग करने के लिए आत्मतृप्त होना आवश्यक है। एक प्रकार से आत्माराम और आत्मतृप्ति वाली युक्ति का स्वारस्य कर्मयोग के समर्थन में ही है।

आत्मज्ञान और कर्म दोनों की साधना

आत्मा और कर्म दोनों को कैसे साधा जाय, इसका दृष्टान्त राजर्षि जनक के जीवन से दिया गया है, जो शरीर के सब व्यवहारों को साधते हुए भी पूर्ण वैराग्य में मन को लीन रखते थे। ज्ञान और कर्म के मेल से जनक का जीवन बना था। ब्राह्मण तो ब्रह्मज्ञानी प्रसिद्ध ही थे, किन्तु क्षत्रियों ने भी ब्राह्मणों की परंपरा को जिस प्रकार पूरी तरह आत्मसात् करके विकसित और लोकोपयोगी बनाया, वह जनक आदि राजर्षियों के जीवन से प्रकट

होता है। मनु, इक्ष्वाकु अम्बरीष, रघु, राम आदि चक्रवर्ती कर्मयोग के आदर्श थे। उनके उदात्त चरित्र दृष्टान्त रूप से लोक में फैले हुए थे। इसी कोटि में उपनिषदों के अश्वपति कैकेय और प्रवहण जैवलि भी आते हैं। ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य के मित्र और शिष्य विदेह जनक का चरित्र भी जैसा उपनिषदों में है, कर्मयोग के उक्त आदेश की ओर ही संकेत करता है। "मिथिला राजधानी जल जाय तो मैं अपनी हानि नहीं समझता, अथवा मेरा दाहिना अंग जल जाय तो बाएं अंग में व्यथा नहीं होती," इस प्रकार की दृढ़ चित्तवृत्ति ही बुद्धियोग है, जिसे गीता में समत्वयोग कहा गया है। अतएव न केवल ज्ञान और कर्म के उत्तम आदर्श की प्राप्ति के लिए कर्म आवश्यक है, किन्तु लोकसंग्रह की दृष्टि से भी कर्म ही एकमात्र मार्ग है। "लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि" (३।२०)। लोक की यह रीति है कि महाजन या बड़े आदमी जैसा करते हैं, छोटे भी उसी मार्ग पर चलते हैं। इस दृष्टान्त को भगवान् स्वयं अपने ही ऊपर डालकर बात को और ऊंचे धरातल पर उठा ले जाते हैं—"हे अर्जुन, मैं ईश्वर हूं, मुझे कुछ करना या पाना शेष नहीं है, फिर भी मैंने कर्म का मार्ग अपनाया है, जिससे लोक की रीति न बिगड़ने पावे (३।२२, २३, २४, ३।२५)।" मूर्ख और पण्डित दोनों को ही कर्म करना है। एक कर्मफल के फांसे में बंधा रहता है, दूसरा उससे मुक्त रहता है। जीवन की इस युक्ति को जब चाहे, देखा जा सकता है। चतुर व्यक्ति को इतना और चाहिए कि जो कर्म में आसक्त भी हैं, उन सामान्य व्यक्तियों को ज्ञान की ऊंची बातें बघारकर दुविधा में न डालें।

कर्मों में असंगभाव की प्राप्ति के लिए अहंकार का हटना आवश्यक है। यह तभी होगा, जब मनुष्य यह समझे कि कर्ता मैं नहीं हूं। सब कर्म प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुणों के फल हैं। प्रकृति अर्थात् जगत का यही स्वभाव है। मनुष्य योग दे तो भी जगत चलेगा, और योग न दे तो भी वह रुकेगा नहीं। ऐसा समझ लिया जाय तो अपने आपको कर्ता मानने का भ्रम हट जायगा। कर्मयोग की इस आस्था को भगवान् ने अपना मत कहा है, अर्थात् यही वह कर्मयोग है, जो गीता का प्रतिपाद्य है। जो इस पर चलते हैं, वे बुद्धिमान व्यक्ति पूरा

अध्यात्म फल पाते हैं। जो कर्म से भागते हैं उनसे भी गुणों का चाबुक कर्म करा ही लेगा। पर जीवन का जो उच्च निर्मल पक्ष है, उससे वे वंचित रह जायेंगे। सब प्राणी स्वभाव के अनुसार बर्तते हैं, बल प्रयोग से कुछ लाभ नहीं। "प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति" (३।३३)। अध्यात्म, मनोविज्ञान और व्यवहार, इन तीनों का यही सारभूत सूत्र है। इस मार्ग के दो नियम हैं, एक तो स्वभाव से ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति विषयों की ओर हैं, यह जानकर उन्हें ढीला नहीं छोड़ देना है, बल्कि धीरे-धीरे उन्हें संयम के मार्ग पर लाना है। दूसरी बात लोक-संग्रह वाले के लिए कर्म और भी आवश्यक है, अर्थात् अपने स्वभाववश जिसको जो कर्म प्राप्त हुआ है, वही उसका स्वधर्म है। उसी का पालन आवश्यक है। चलने के मार्ग अनेक हो सकते हैं, पर चलना किसी एक से ही पड़ेगा। जो जिस पर चल रहा है, वही उसका मार्ग है। एक को बुरा, दूसरे को अच्छा समझ कर जो मार्ग बदलता रहता है वह गन्तव्य स्थान की ओर प्रगति नहीं कर सकता। जिसे कर्म करना है, उसे अपने कर्म के प्रति ऐसी दृढ़ आस्था और पूज्य बुद्धि अपनानी होगी—"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोभयावहः (३।३५)।

कर्मों के दो भेद : पाप और पुण्य

यहां जब अच्छे-बुरे स्वभाव या कर्म का प्रश्न आया तो अर्जुन को संदेह हुआ कि कर्मों में पाप और पुण्य का कारण क्या है? कौन ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को भलाई से बुराई की ओर खींच ले जाती है। इस प्रश्न का एकदम सीधा और स्पष्ट उत्तर कृष्ण ने दिया—हरएक के स्वभाव में जो रजोगुण का अंश है वह काम या क्रोध के रूप में उभर आता है और पाप की ओर ले जाता है। यह शत्रु साथ लगा हुआ है। यह एक आग है, जो सदा धधकती रहती है। दूसरे के कहने से इसका बोध उतना नहीं होता जितना स्वयं सोचने से। ज्ञानी के ज्ञान को भी काम और क्रोध का धुंवा ढक लेता है। बुद्धिवादी सांख्य और कर्मवादी योगी, दोनों के लिए इस शत्रु का भय एक जैसा है। दोनों के लिए मुख्य समस्या कर्म छोड़ने या न

छोड़ने की नहीं है, किन्तु काम और क्रोध को जीतकर वश में करने की है। पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच विषय, पांच भूत, मन और बुद्धि इतना काम और क्रोध का क्षेत्र है। सर्वत्र इसकी शुद्धि का उपाय करना चाहिए। अतएव गीताकार की दृष्टि में इन्द्रिय-संयम उच्च जीवन की सीढ़ी का पहला डंडा है। उस पर पैर रक्खे विना कोई ऊपर नहीं चढ़ सकता।

इसी प्रसंग में शरीर के विभिन्न कोषों के तारतम्य की ओर ध्यान दिलाया गया है। कठोपनिषद् में भी यह प्रसंग आता है। यदि हम वास्तविक दृष्टि से देखें तो सबसे स्थूल पांचभूतों का वना हुआ शरीर है, उसे भूतात्मा कहते हैं। उसके ऊपर ज्ञान और कर्म की इन्द्रियां हैं। उसे प्राणात्मा कहते हैं। इन्द्रियों का नियामक मन है। यह इन्द्रियानुगामी मन प्रज्ञानात्मा कहा जाता है। यही मन जव आत्मकेन्द्रानुगामी और विषयों से विशुद्ध होता है तो उसे बुद्धि या विज्ञानात्मा कहते हैं। उससे भी ऊपर पुरुष या हृद्देश में रहनेवाला आत्मा है। वह सवके ऊपर है। सव उसके अनुशासन में रहते हैं। आत्मा की ही प्रेरणा या शक्ति से सर्व-प्रथम अपने को वश में करना चाहिए। वैसा कर लेने पर बुद्धि, मन, इन्द्रियां और विषय सबमें संयम का भाव व्याप्त हो जाता है (३।४२-४३)।

चौथा अध्याय : ज्ञान, कर्म, संन्यास

कर्मयोग की पुरानी परम्परा

तीसरे अध्याय में जिस कर्मयोग-शास्त्र की नई व्याख्या अर्जुन को वताई गई है, उसे ही चौथे अध्याय में मानवीय सृष्टि के आरंभ से चली आती हुई कहा गया है। विवस्वान् सूर्य की संज्ञा है। सूर्य को ब्राह्मण ग्रन्थों में त्रयी विद्या कहा है। त्रयी का तात्पर्य त्रिकभाव से है। उसी का एक रूप ज्ञान, कर्म और भक्ति है। सूर्य में ये तीनों हैं। सूर्य विश्व का नियामक है। उसी की परम्परा विवस्वान् के पुत्र मनु को प्राप्त होती है और मनु से वह समस्त मानवों में आई है। प्रत्येक राष्ट्र का अधिपति राजा

जो मानवों को धर्म-पथ में चलाता है, वह मनु प्रजापति के अंश से निर्मित होता है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म की परम्परा का अध्यात्म-सूत्र सर्वत्र व्याप्त है। इस परम्परा का मूल स्रोत स्वयं ईश्वर है। इस पर अर्जुन को जो शंका हुई, वह आजकल की ऐतिहासिक शंका है। उसने पूछा, "हे कृष्ण! आपका जन्म पीछे हुआ, विवस्वान् आपसे बहुत पहले हुए, फिर यह कैसे संभव है कि आपने विवस्वान् को योग सिखाया ?" वस्तुतः इन प्रश्नों में कोई सार नहीं है। कृष्ण ने जो उत्तर दिया, वह मानव की सत्ता को देश-काल के चौखटे से ऊपर मानकर चलता है—"मेरा जो दिव्य ईश्वरीय रूप है वह तो सदा से है। उसी भाव से मैं सबका उपदेष्टा हूं। 'ईश्वर के अवतार और मानव के जन्म अनगिनत हैं। मानव को इतिहास द्वारा इन सबका ज्ञान नहीं हो पाता। अतएव इस प्रकार के अध्यात्म-विचार में ज्ञान की नित्यता मुख्य है, भौतिक शरीर का आगे-पीछे जन्म लेना महत्व नहीं रखता। प्रत्येक मानव, जिसके हृदय में ज्ञान और कर्म का यह दिव्य भाव उत्पन्न होता है, वह ईश्वर-भक्त और देव-सरीखा होता है।

ईश्वर का अवतार

ईश्वर अजन्मा और अव्यय है। वह प्रकृति का अधिष्ठाता या स्वामी है और स्वयं अपनी माया से अनेक योनियों में जन्म लेता है। यही चैतन्य तत्व का भौतिक धरातल पर आविर्भाव है। आत्मा का शरीर में आना, इससे बढ़कर और कोई रहस्य संसार में नहीं है। इसके चाहे जितने कारण कहे सुने जायं, सब अपर्याप्त रहते हैं। सबके अंत में ईश्वर की इच्छा, माया, क्रीड़ा या लीला ही एकमात्र कारण बचता है, जो तर्क से अतीत है। शरीर में आत्मा का आना, यही जन्म है। किन्तु जब किसी शरीर में ईश्वर की विशेष शक्ति प्रकट होती है, भारतीय परिभाषा में उसे ईश्वर की विभूति कहते हैं। इस प्रकार की कुछ विभूतियां नवें अध्याय में हैं और उनकी विशेष गणना दसवें अध्याय में की गई है। यह विभूतियोग भागवतों को बहुत प्रिय था। अनेक प्रकार से गिनती करने के बाद भी सर्वोपरि सिद्धांत यही है कि जहां विशेष शक्ति, सौन्दर्य या ज्ञान का आविर्भाव हो वह सब

ही भगवान् के तेज से उत्पन्न हुआ माना जायगा, अर्थात् वह ईश्वर का अवतार ही है। इस प्रकार के अवतारों की संख्या नहीं, "संभवामि युगे युगे" यही ठीक है। पर इन सबका उद्देश्य समान होता है, अर्थात् अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा, अथवा दुष्टों का विनाश और साधुओं का उपकार। धर्म की प्रतिष्ठा के बिना समाज का घूमता हुआ चक्र सकुशल नहीं रह सकता। इसलिए दैवी शक्ति, आसुरी शक्ति के पराभव के लिए प्रकट होती रहती है। भारतीय दृष्टिकोण मानवीय और अतिमानवीय दोनों इतिहासों की इसी दृष्टि से व्याख्या करता है। भगवान् का अवतार भागवत धर्म की भित्ति है। उसी का गीताकार ने अत्यन्त हृदयग्राही शब्दों में वर्णन किया है :

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्" ॥ ४।७
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे" ॥ ४।८

चौथे अध्याय का नाम ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग है। इसका मुख्य तत्त्व उस प्रकार के आदर्श व्यक्ति की व्याख्या करना है, जिसमें ज्ञान का अभ्युदय हो और जो अनासक्तिमय कर्मयोग के मार्ग का भी अनुयायी हो। गीता के कुछ हस्तलेखों में इस अध्याय को ब्रह्मयज्ञ या ब्रह्मार्पणयोग भी कहा है अथवा कहीं-कहीं विवस्वान्-ज्ञानयोग भी नाम आया है। इन सबका लक्ष्य ज्ञान और कर्म के समन्वय में है, अर्थात् कर्मयोग से कर्मफल का त्याग करने वाला और ज्ञानयोग से ज्ञानी की बुद्धि का आश्रय लेने वाला, ऐसा व्यक्ति ही लोकोद्धार में समर्थ होता है।

पांचवां अध्याय : कर्म-संन्यासयोग

पांचवें अध्याय का नाम कर्म-संन्यासयोग है। इसमें अर्जुन ने सीधा प्रश्न किया है कि ज्ञान और कर्म में कौन-सा मार्ग ठीक है। कृष्ण का उत्तर भी इतना ही निश्चित और स्पष्ट है—कर्मों का संन्यास और कर्मयोग दोनों हितकारी हैं और संसार के बन्धन से मुक्त कराने वाले हैं; किन्तु

कर्मसंन्यास से कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है। सांख्य और योग दोनों निष्ठाएं पुरानी हैं, प्राचीन काल से चली आई हैं, इन्हें अलग मानकर झगड़ा करना मूर्खता है। पहले इन्हें एक समान आदर की दृष्टि से देखते थे। यदि एक मार्ग पर भी ठीक प्रकार से चला जाय तो वही फल मिलता है, जो दूसरे का है। मृत्यु के बाद सांख्य मार्गी जो ऊंचा स्थान प्राप्त करते हैं, वही कर्म-योगियों को मिलता है। इसलिए इन दोनों को समान समझने वाली दृष्टि समीचीन है।

गीता का यह मत इतना प्रवल और समर्थ है कि किसी के लिए सन्देह का स्थान नहीं। फिर भी आश्चर्य है कि ज्ञान और कर्म का विवाद शास्त्र-जीवियों में चरम सीमा पर पहुंचा हुआ है।

कर्मयोगी का लक्षण

इस समन्वय के मूल में कृष्ण ने कितने ही कारण भी वताये हैं। जो कर्मयोगी संयमी नहीं है, वह संन्यासी के समान ही योग से युक्त होकर ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। योग-युक्त की पहचान यह है कि उसका मन शुद्ध होता है, वह इन्द्रियों को अपने वश में रखता है और उसका अन्तः-करण संयम में स्थिर रहता है। वह सव प्राणियों को अपने ही समान देखता है। कर्म के प्रति उसकी भावना निर्भीक रहती है। वह जैसे कुछ करता हुआ भी अपने को कुछ करने वाला नहीं मानता। दूसरी वात यह है कि जितने इन्द्रिय-व्यापार हैं, वे कर्मयोगी के लिए विल्कुल स्वाभाविक वन जाते हैं। इन्द्रियां आवश्यकता के अनुसार अपने-अपने विषयों में जाती हैं, पर कर्मयोगी का मन विषयों में आसक्त नहीं होता। आत्म-शुद्धि की यह युक्ति जो प्राप्त कर लेता है, वही योगी है। योगी को ही कर्म-शान्ति मिलती है, फल के पीछे जाने वाले को नहीं। सत्य वात यह है कि यहां ईश्वर ने किसी को न कर्त्ता वनाया है और न कर्मों का विधान किया है और न कर्म के फल में रुचि का ही उपदेश दिया है। ये तीनों वातें मनुष्य के लिए स्वभाव से ही हो रही हैं, अतएव उसी भावना से उन्हें होने देना चाहिए।

कर्मयोगी के लिए भी ज्ञान की महिमा है। ज्ञान का अर्थ है मनस्शक्ति

का अधिकतम विकास। जब मन में सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है तो जैसे इन्द्रियों के मार्ग में उज्ज्वल प्रकाश भर जाता है। ज्ञान की स्थिति में मनुष्य के मन में सबके प्रति और प्रत्येक स्थिति में समता और सन्तुलन की शक्ति प्राप्त होती है। उसकी स्थिर बुद्धि में न हर्ष होता है, न विषाद। वह अक्षय सुख या उच्च आनन्द के स्रोत से जुड़ जाता है। बाहरी भोगों में उसे सुख नहीं मिलता। वह यह जान लेता है कि जितने विषय हैं, वे सब दुःख के देने वाले हैं। काम और क्रोध मनुष्य के लिए सबसे अधिक दुखदायी हैं। अतएव सच्चे ज्ञान की कसौटी यही है कि मनुष्य इसी शरीर के रहते काम और क्रोध को पूरी तरह अपने वस में कर ले। जो इस प्रकार अन्तर की ज्योति से और अन्तःकरण के सुख से युक्त हो जाता है, वह कर्मयोगी ब्रह्म-तुल्य बन जाता है और जो ब्रह्म का सुख है वह उसे प्राप्त होता है। जिन ऋषियों ने अपने पाप या मैल को क्षीण कर दिया, उन्होंने अवश्य ही इस प्रकार का ब्रह्म-सुख पाया था। काम और क्रोध से नितान्त रहित हो जाने पर ही इस प्रकार के अमृत-आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। उस समय यह प्रतीति होती है, मानो ब्रह्म का आनन्द अपने चारों ओर भरा हुआ है।

इस प्रकार की आनन्दमयी स्थिति प्राप्त करने के लिए कुछ लोग प्राणायाम और योग को भी साधन मानते थे। भगवान् ने उसका भी समर्थन किया है (५।२७), किन्तु मुख्य बात इन्द्रिय, मन, बुद्धि का संयम तथा काम और क्रोध से मुक्त होना ही है।

छठा अध्याय : ध्यानयोग

छठे अध्याय की संज्ञा ध्यानयोग, अध्यात्मयोग, आत्मसंयमयोग, संन्यासयोग आदि हस्तलिखित प्रतियों में पाई जाती हैं। इसमें मन को एकाग्र करने के लिए ध्यान, धारणा एवं योग-साधन का उल्लेख किया गया है। मन को एकाग्र करके, पवित्र स्थान में सुकुमार आसन पर बैठ कर, मेरुदण्ड ग्रीवा और मस्तक को सीध में रखते हुए नासाग्र दृष्टि से जो योग-साधन करता है, उसे शान्ति और सिद्धि मिलती है। इस प्रकार का क्रियात्मक योग, जो आसन, प्राणायाम, धारणा और ध्यान की युक्ति को स्वीकार करके

किया जाता है, वह अवश्य ही फलदायी है। भारतवर्ष में यह सनातनी योग-विद्या पूर्व काल से चली आई है और गीता में इसे पूरी तरह स्वीकृत किया गया है। वस्तुतः सांख्य-मार्ग से ज्ञान-साधन करने वाले अथवा कर्म-क्षेत्र में रहकर कर्म करने वाले दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिए योग की आवश्यकता है, क्योंकि इससे उत्तम प्रकार के स्वास्थ्य और मनोबल दोनों की प्राप्ति होती है।

योग की बुद्धिगम्य परिभाषा

कृष्ण ने योग की परिभाषा प्रज्ञा-दर्शन के आधार पर इस प्रकार की : योग न कोई चमत्कार है और न शरीर को त्रास या पीड़ा पहुंचाना ही योग है। जो बहुत खाता है, वह योगी नहीं। जो बिल्कुल नहीं खाता, वह भी योगी नहीं। जो बहुत सोता है, वह भी योगी नहीं। जो जागता ही रहता है, वह भी योगी नहीं। तब प्रश्न है कि योगी कौन है ? इसका उत्तर है कि जो अपने आहार और विहार में सन्तुलित है, जो अपनी कर्म-चेष्टाओं में अति नहीं करता, जो सोने और जागने में नियम का पालन करता है, उसी का योग-साधन ठीक है (६।१६, १७)। योग-साधना में मुख्य बात चित्त का नियमन है। जैसे वायुविहीन स्थान में रखा हुआ दीपक एकटक हो जाता है, वैसे ही योगी का चित्त विषयों की वायु से विचलित नहीं होता। चित्त का निरोध, यही योग की सेवा का फल है। उस स्थिति में व्यक्ति को न वियोग का दुःख होता है, न संयोग का सुख। सबका सार यह है कि योगी बनने के लिए मन को वश में करना आवश्यक है।

इस पर अर्जुन को शंका हुई कि कर्म-क्षेत्र में रहते हुए मन को किस प्रकार शान्त बनाया जा सकता है। उसने स्पष्ट युक्ति से यही प्रश्न किया—आपका बताया हुआ योग सफल नहीं हो सकता, क्योंकि चंचल मन कभी स्थिर नहीं होता। यह इन्द्रियों को मथ डालता है। मन का रोकना ऐसा है, जैसे हवा को बांधना।

इस पर कृष्ण ने अर्जुन का खण्डन नहीं किया। उन्होंने यही कहा कि तुम ठीक कहते हो। निःसन्देह मन बहुत चंचल है और वश में नहीं आता।

फिर भी उसे वश में लाने के लिए दो मार्ग हैं, एक अभ्यास और दूसरा वैराग्य। यदि इन दो उपायों से मन को वश में नहीं लाया जाय तो योग कभी नहीं मिल सकता, पर इन उपायों से अवश्य ही मन को वश में किया जा सकता है।

योग से चूक का डर

भगवान् का इतना निश्चित उत्तर पाकर भी अर्जुन को एक नया संशय उत्पन्न हो गया—यदि योग के लिए प्रयत्न किया जाय और वह सफल न हुआ तो क्या स्थिति होगी ? कहीं ऐसा तो नहीं कि संसार का सुख भी छूटे और ब्रह्म का सुख भी न मिले ? यह वही बात है, जिसे लोक में कहा जाता है कि 'दुविधा में दोनों गए माया मिली न राम।'

इस प्रकार के संशयवाद का समाधान कृष्ण के पास क्या हो सकता था? उन्होंने अपनी संकल्पशक्ति को प्रकट करते हुए यही कहा—हे अर्जुन, जो कल्याण का मार्ग है उस पर चलकर मनुष्य की दुर्गति नहीं होती। इस मार्ग में जो जितना प्राप्त कर ले, उतना ही उसके लिए अच्छा हैं। जो इस अध्यात्म-पथ को स्वीकार करता है, पर एक जन्म में उसे पूरा नहीं कर पाता, वह फिर अगले जन्म में ऐसी परिस्थितियों के बीच जन्म लेता है कि जहां उसे कल्याण-मार्ग को पूरा करने की अनुकूलता और सहायता मिलती है। हो सकता है कि वह योगियों के कुल में ही जन्म ले ले, यद्यपि ऐसा संयोग दुर्लभ ही है; किन्तु निश्चित है कि पूर्व जन्म की उपार्जित बुद्धि और संस्कार उसे अगले जन्म में प्राप्त होते हैं। उसका वह पहला संस्कार उसे फिर कल्याण-साधन की ओर खींच ले जाता है। हे अर्जुन, चाहे जितना पढ़ो-लिखो, उसकी तुलना में सच्चे योग-मार्ग की थोड़ी-सी जिज्ञासा भी अधिक मूल्यवान है। इस प्रकार अनेक जन्मों में चित्त के मल का शोधन करते हुए, इन्द्रियों को वश में करते हुए, कल्याण-पथ पर साधनापूर्वक चलते हुए, मनुष्य अन्त में सिद्धि प्राप्त करता ही है। तप, ज्ञान और कर्म इन सबकी तुलना में योग सर्वोत्तम है। इसलिए योगी बनना उचित है और उसके साथ ईश्वर की श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है।

सातवां अध्याय : ज्ञान-विज्ञानयोग

सातवें अध्याय की संज्ञा ज्ञान-विज्ञानयोग है। एक से नाना भाव की प्राप्ति विज्ञान है। अनेक से एक की ओर जाना ज्ञान कहलाता है। ये दो प्रकार की दृष्टियां हैं। विज्ञान-दृष्टि रचना की प्रक्रिया है, इसे संचर भी कहा जाता है। ज्ञान-दृष्टि से प्रलय या मूल स्रोत की ओर लक्ष्य होता है और नानात्व में व्याप्त एकता का अनुभव किया जाता है। इसे प्रतिसंचर भी कहते हैं। विज्ञान की दृष्टि अत्यन्त प्राचीन और वैदिक दृष्टि है। एक मूल स्रोत से यह विविध सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई, इसकी गहरी छान-बीन प्राचीन भारतीय दर्शन और धर्म-ग्रन्थों में पाई जाती है।

परा और अपरा प्रकृति का भेद और स्वरूप

कृष्ण ने विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया को बहुत ही थोड़े शब्दों में, किन्तु सुनिश्चित, स्पष्ट रीति से समझाया है। इस सारे विश्व में तीन प्रकार की रचना है :

(१) अपरा प्रकृति
(२) परा प्रकृति
(३) ईश्वर

इनमें जो अपरा प्रकृति है, वह भौतिक एवं जड़ है। उसके ऊपर परा प्रकृति की संज्ञा जीव है, जो चेतन है, किन्तु उसे अपरा प्रकृति रूप शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जीव को शरीरी कहा जाता है। इन दोनों से ऊपर ईश्वर तत्त्व है। वस्तुतः ईश्वर का ही अंश जीव है, जो अपरा प्रकृति या भूतों के धरातल पर (अवतरित) होता है।

प्रश्न यह है कि परा और अपरा प्रकृति का स्वरूप क्या है ? इसे गीता के ये दो श्लोक स्पष्ट रीति से बताते हैं :

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अपरेयंमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

यह विषय अन्यत्र पुराणों में भी बहुत बार आया है, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है। यदि हम विश्व की विवेचना करें तो सबसे पहले स्थूल पंचभूत दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें पंच तत्त्व भी कहा जाता है। इन पंच तत्त्वों से सूक्ष्म मन है। उससे सूक्ष्म अहंकार है। कहीं-कहीं अहंकार और मन को एक ही तत्त्व के दो रूप मानते हैं। अहंकार से सूक्ष्म बुद्धि है। बुद्धि को महत्तत्त्व भी कहा जाता है। महत्तत्त्व से सूक्ष्म स्वयं प्रकृति है, जिसे अव्यक्त या प्रधान भी कहते हैं। प्रकृति स्वयं जब अव्यक्त अवस्था में रहती है तब उसके तीन गुण साम्य अवस्था में रहते हैं। जब सत्त्व और तम इन दोनों में रजोगुण लीन रहता है और अपना विशेष प्रभाव प्रकट नहीं करता तो वह गुणों की साम्य अवस्था कहलाती है। तब प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है; किन्तु जब रजोगुण या गति तत्त्व प्रबल हो उठता है तब प्रकृति में महत्तत्त्व अहंकार और पंचभूतों का क्रमशः विकास हो जाता है। प्रकृति की इस व्यक्त दशा को 'ख्याति' भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें समस्त रचना प्रकट-भाव में आ जाती है।

महत्तत्त्व और अहंकार का भेद भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। समष्टि को महत्तत्त्व कहते हैं और व्यष्टि को मन या अहंकार कहा जाता है। अंग्रेजी शब्दों में महत्तत्त्व या समष्टि को युनिवर्सल और अहं या व्यष्टि को इन्डिवीजुअल कह सकते हैं। समष्टि-भाव से जब शक्ति किसी बिन्दु पर अभिव्यक्त होती है, उसे ही मन या अहंकार कहते हैं। वही केन्द्र में आई हुई चेतना जीव कहलाती है।

सृष्टि-रचना के लिए यही प्रकृति पहले एक पुतला तैयार करती है। उसमें पांच भूत, मन और अहंकार एवं बुद्धि ये आठ तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं, किन्तु यह प्रकृति तत्त्व अचेतन और जड़ है, इनको एक में मिलाने वाला चेतन तत्त्व जीव है, जो जड़ की अपेक्षा निश्चय ही ऊंची सत्ता रखता है। इसलिए केवल जड़ प्रकृति को अपरा और उसके ऊपर प्रतिष्ठित चेतनात्मक जीव को परा कहा गया है। अपरा प्रकृति और परा प्रकृति के दो नाम और भी हैं। अपरा या भौतिक प्रकृति को क्षर और परा प्रकृति

को अक्षर कहा जाता है। भूतों की संज्ञा क्षर और कूटस्थ जीव की संज्ञा अक्षर है, जैसा कि गीता में आगे चलकर कहा है :

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

(गीता १५।१६)

ज्ञान और विज्ञान

जब तत्त्वों का विचार प्रकृति की ओर से किया जाता है तब अपरा और परा इन संज्ञाओं का व्यवहार करते हैं। जब पुरुष की ओर से तत्त्वों का विचार किया जाता है तो 'परा प्रकृति को अक्षर पुरुष और अपरा प्रकृति को क्षर पुरुष कहा जाता है। इन दोनों पुरुषों से ऊपर और इनका नियामक अव्यय पुरुष है। उसे गीता में पुरुषोत्तम कहा है। उसे ही अज भी कहते हैं। जीव की समस्या यही है कि वह प्रकृति के प्रलोभनों से ऊपर उठकर अव्यय पुरुष या पुरुषोत्तम ईश्वर का अनुभव करे। प्रकृति की संज्ञा और व्यवस्था को पहचानना इसका नाम विज्ञान है और प्रकृति से ऊपर उठकर ईश्वर को पहचानना, यही ज्ञान की दृष्टि है। इस अध्याय के आरंभ में भगवान् ने अर्जुन से यही कहा कि मैं तुम्हें विज्ञान की दृष्टि और ज्ञान की दृष्टि दोनों बताता हूं, क्योंकि दोनों को जान लेने पर ही व्यक्ति की जानकारी परिपूर्ण बनती है। ज्ञान और विज्ञान दोनों को मिलाकर जो नई बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे ही कृत्स्न-ज्ञान कहा जाता है। कोई मनुष्य केवल विज्ञान में रुचि रखते हैं और यथासम्भव सूक्ष्म रीति से प्रकृति की रचना पर विचार करते हैं। कोई ऐसे होते हैं, जो प्रकृति की उपेक्षा करते हैं और केवल चैतन्य तत्त्व ईश्वर में ही रुचि लेते हैं। पहले प्रकार के व्यक्तियों को कर्ममार्गी और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों को ज्ञानमार्गी कहा जाता है, किन्तु अपने आप में ये दोनों ही अधूरे हैं। इन्हें पूरा बनाने के लिए दोनों के गुणों को मिलाना आवश्यक है। गीता के उपदेश का यही मर्म है। ऊपर जिसे अपरा प्रकृति कहा है, वह एक पुतला है, जिसे शरीर कहा जाता है। इस शरीर में जो पंच भूत हैं, वे अपनी शक्ति से पंचीकरण-प्रक्रिया के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श इन पांच तन्मात्राओं को और

इनको अनुभव करने के लिए पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों को विकसित कर लेते हैं। इन बीसों के बिना शरीर का पूरा विकास नहीं होता। दसों इन्द्रियों के ऊपर जो शक्ति उन्हें नियमित या अनुशासित करती है, वही मन है। उसे इन्द्रियानुगामी मन भी कहा जाता है। किसी भी इन्द्रिय का सम्बन्ध मन से टूट जाय तो वह इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती। उसी मन का और ऊंचा रूप अहं या व्यष्टि की चेतना है, जो एक-एक शरीर में प्रकट हो रही है। जितने शरीर हैं, उतने ही अहं हैं। प्रत्येक अहं भी पृथक्-पृथक् जीव या शरीरी हैं। उसे ही शरीर की गति या चैतन्य-शक्ति के रूप में हम दूसरों में देखते और अपने में अनुभव करते हैं। अब एक उस प्रकार की समष्टि की कल्पना करनी पड़ती है, जो इन पृथक्-पृथक् व्यष्टियों या जीव-रूप चैतन्य-केन्द्रों का स्रोत है, उसे ही महत्तत्त्व कहते हैं। इन शब्द का अर्थ स्वयं प्रकट है : जो महत् है वही समष्टि है।

महान् या समष्टि को वैदिक भाषा में महिमा, परमेष्ठि या विराज् भी कहा जाता है। जब विराज् या महत्तत्त्व के भीतर परम पुरुष ईश्वर का सृष्टि-संकल्प प्रकट होता है तो उसी संकल्प को काम या मन कहते हैं और वह अनेक व्यक्तिगत केन्द्रों के रूप में प्रादुर्भूत होता है। एक-एक ब्रह्माण्ड या जगत् उसी का एक-एक केन्द्र है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति या प्राणी भी उसी महत् तत्त्व का व्यष्टि भाव में आया हुआ रूप है।

ईश्वर-तत्त्व की व्याख्या

संक्षेप में अपरा और परा प्रकृति का उपदेश करके कृष्ण ईश्वर तत्त्व की व्याख्या करने लगते हैं। यहां जैसा अन्यत्र भी है। उन्होंने अपने आपको और ईश्वर को अज्ञेय माना है और इसीलिए कहा है कि मैं अनेक रूपों में सर्वत्र व्याप्त हूं और यह सारा विश्व मुझमें ऐसा पिरोया हुआ है, जैसे बहुत से मन के एक धागे में पिरोये रहते हैं। मुझसे परे और कुछ नहीं है। मैं ही संसार की उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूं। पृथ्वी की गन्ध और अग्नि का मैं तेज ही हूं। सब भूतों और प्राणियों का सनातन बीज मैं हूं। जीवन या प्राण या जीवरूपी चेतना मैं हूं। जड़ प्रकृति में जो सत्त्व, रज,

तम नामक तीन गुण हैं, वे सब मेरे ही कारण हैं। वे मुझसे उत्पन्न होते हैं, मैं उनसे नहीं। इन तीन गुणों से मिलकर बनी हुई जो प्रकृति है, वह मेरी दिव्य माया है, उससे पार पाना कठिन है। पर यदि कोई इसके पार हो जाय तो वह मेरे निकट पहुंच जाता है। प्रकृति के भेदों से ऊपर उठकर उनमें व्याप्त ईश्वर तत्त्व को जानना, यही तो ज्ञान है। सबकुछ ईश्वर का ही रूप है, ऐसा मानने वाला ज्ञानी महात्मा दुर्लभ है।

यहां लोग भेद-दृष्टि-स्वीकार करके अनेक देवताओं को पूजने लगते हैं (७।२०)। वह भी ठीक है, क्योंकि मैं नहीं चाहता कि उस प्रकार की भेदमयी श्रद्धा को विचलित करूं। पर उस पूजा-श्रद्धा का फल सीमित है। वह कुछ काल के लिए ही मन को प्रभावित करता है। देवों को पूजने वाले उन-उन देवों को ही प्राप्त करते हैं, पर उनसे ऊपर उठकर जो ईश्वर की उपासना करता है, उसे ही ईश्वर का सच्चा ज्ञान मिलता है। मैं तो अव्यय और अव्यक्त हूं। मुझे अलग-अलग देवों के रूप में प्रकट हुआ मानना ऊंची समझदारी नहीं। ईश्वर को जीवों के वर्तमान, भूत और भविष्य सब जन्मों का पता है; पर अनादि अनन्त ईश्वर को कौन जानता है?

जरा-मरण से छूटने के लिए ईश्वर को जानना ही एकमात्र साधन है। इसके लिए कई बातों को स्पष्ट अलग-अलग जानना चाहिए। वे छह बातें इस प्रकार हैं: ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ।

आठवां अध्याय : अक्षर-ब्रह्मयोग : अर्जुन के छह प्रश्न

आठवें अध्याय का नाम अक्षर-ब्रह्मयोग है। उसका आरम्भ इन्हीं छह प्रश्नों की जिज्ञासा से होता है। जैसे ही भगवान् ने इन छहों का उल्लेख किया, वैसे ही अर्जुन के मन में यह स्वाभाविक इच्छा हुई कि इन छह तत्त्वों का स्वरूप और भेद जाना जाय।

ब्रह्म क्या ?

पहला प्रश्न ब्रह्म के विषय में है। उसका स्पष्ट नत्तर यही दिया गया है कि अक्षर ही परब्रह्म है। वेदों में और उपनिषदों में अक्षर-तत्त्व का वहुधा उल्लेख आता है। गीता में भी कहा है कि सच्ची वेदविद्या अक्षर के ज्ञान की ही विद्या है (यमक्षरं वेदविदो वदन्ति, ८।११)।

सनातन चैतन्य तत्त्व की संज्ञा ही अक्षर है। वह परब्रह्म ईश्वर का ही स्वरूप है। उसी महान् सूर्य की एक-एक किरण एक-एक जीव है। सम्पूर्ण ब्रह्म की ज्योति का प्रतीक सूर्य है (ब्रह्म सूर्यं समं योतिः यजु० वेद २३।४८)।

ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त वेदों का और कोई लक्ष्य नहीं है। ब्रह्म-विद्या ही वेद-विद्या है। यदि विस्तार में जायं तो ब्रह्मसम्वन्धी विद्या का कोई अन्त नहीं है, वह सहस्रधा कहलाती है। उसके वर्णन के लिए अनगिनत शब्द चाहिए। किन्तु एक युक्ति ऐसी है कि केवल एक अक्षर से ही ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। वह अक्षर ॐकार है (ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म, ८।१३)। इस एक संक्षिप्त पद को जान लेने से सवकुछ जान लिया जाता है। फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। यह कहने-सुनने की वात नहीं, अनुभव में लाने की विद्या है।

अध्यात्म क्या ?

अर्जुन का दूसरा प्रश्न अध्यात्म के विषय में है। अध्यात्म की चर्चा बहुत वार आती है। पर वह अध्यात्म क्या है ? इसका उत्तर है कि स्वभाव ही अध्यात्म है (स्वभावोध्यात्ममुच्यते, ८।३)।

इसका तात्पर्य यह है कि जो अपना भाव अर्थात् प्रत्येक जीव की एक-एक शरीर में पृथक्-पृथक् सत्ता है, वही अध्यात्म है। समस्त सृष्टिगत भावों की व्याख्या जव मनुष्य-शरीर के द्वारा की जाती है तो उसे ही अध्यात्म व्याख्या कहते हैं। शरीर में आया हुआ प्राण ही अध्यात्म का मुख्य लक्ष्य और आधार है। कह सकते हैं कि अधिभूत, अधिदैव आदि

सबमें अध्यात्म सबसे महत्वपूर्ण है, क्योंकि अपना अस्तित्व न रहने से फिर मानव में कुछ शेष नहीं रहता। इसलिए मनुष्य को उचित है कि चारों ओर अपना ध्यान ले जाते हुए अध्यात्म की उपेक्षा न करे।

कर्म क्या ?

अर्जुन का तीसरा प्रश्न कर्म के सम्बन्ध में है कि कर्म क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पंच भूतों को और बुद्धि, चित्त एवं अहंकार के भावों को अस्तित्व में लाने वाली जो प्रक्रिया है, वही कर्म है। कर्म की संज्ञा चेष्टा है। स्वयं अव्यक्त प्रकृति के अभ्यन्तर में इस प्रकार की चेष्टा का जो आविर्भाव होता है उसी से कर्म का निर्माण होता है। यह कर्म समष्टि के धरातल पर और व्यष्टि के धरातल पर दो रूपों में देखा जाता है। दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

अधिभूत क्या ?

अर्जुन का चौथा प्रश्न अधिभूत के सम्बन्ध में है। इसका उत्तर सरल और स्पष्ट है कि पंच भूतों का जो संगठन है, वही अधिभूत है और उसे क्षर भी कहते हैं, क्योंकि उसका संस्थान और संगठन नश्वर है। भूतों का स्वभाव है कि वे कारण पाकर मिल जाते हैं और कारणवश ही कुपित होकर अलग हो जाते हैं। प्राणियों के शरीर में भूतों के संगठन और विघटन की यह क्रिया बराबर देखी जाती है। जीवन और मृत्यु इसी के वशवर्ती हैं। भूतों की संघटना के नियम से कितना सुन्दर बाल-शरीर प्राप्त होता है; किन्तु शनैः-शनैः उसकी सम्भावनाएं क्षीण हो जाती हैं और अन्त में पांचों भूत चेतना से विमुक्त हो जाते हैं।

अधिदैवत क्या ?

अर्जुन का पांचवां प्रश्न अधिदैवत के विषय में है। अधिदैव और अधिदैवत एक ही शब्द के दो रूप हैं। समष्टिगत ब्रह्माण्ड में और पार्थिव जगत् में भी, ईश्वर की जो दिव्य शक्तियां हैं, उन्हें ही अधिदैवत कहते हैं। उन्हीं से इन्द्रियों का और मन का विकास होता है। वस्तुतः प्राणात्मक शक्ति को ही दैव कहते हैं। जहां प्राण है, वहां देवों का निवास निश्चित है। इस शरीर में जबतक प्राण की सत्ता है तबतक इसे देवतत्त्व कहा जाता है। एक प्रकार से पंच भूत तो शरीर के साथ अन्त तक रहते ही हैं, केवल दैवी शक्ति और प्राण ही विमुक्त हो जाता है। वस्तुतः वेदों की समस्त विद्या एकमात्र देवविद्या ही है। इन देवों के अनेक नाम और रूप हैं, किन्तु मूल तत्त्व एक ही है, जिससे 'एको देवः' कहा गया है। उस एक देव को ही वैदिक परिभाषा में अग्नि कहते हैं। 'अग्नि सर्वाः देवताः', यह ऐतरेय ब्राह्मण का वचन है, अर्थात् जितने देव हैं, वे सब अग्नि के ही रूप हैं। यह अग्नि-तत्त्व प्राण की ही संज्ञा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत प्रकार से इसकी व्याख्या की गई है। जो अग्नि है, वह प्राण ही है। इस प्रकार प्राण और अधिदैव, ये परस्पर पर्यायवाची हैं और इनकी सत्ता जैसे ब्रह्माण्ड में है, वैसे ही पिण्ड देह में है।

अधियज्ञ क्या ?

अर्जुन का छठा प्रश्न अधियज्ञ के विषय में है। यज्ञ दो हैं। इस विराट् सृष्टि में प्रजापति का महायज्ञ है, अथवा यों कहा जाय कि सारी सृष्टि ही यज्ञ-रूप है। उसी विराट् यज्ञ के अनुसार मनुष्य-शरीर की रचना हुई है, जिसमें समस्त देवता और पंच महाभूत अपने-अपने प्रतिनिधियों के रूप में विद्यमान हैं। इस शरीर में जो प्राण या चेतना है, उसका अत्यन्त रहस्यमय और गूढ़ कार्य हो रहा है। जिसे शरीर कहते हैं, वह प्राण और भूत दोनों के मिलने से बनता है। इसी का नाम अधियज्ञ है।

इन छः प्रश्नों के रूप में प्राचीन वैदिक संकेतों की सुन्दर और स्पष्ट व्याख्या एक जगह पाई जाती है।

ओंकार रूप : अक्षर ब्रह्म

इसी प्रसंग में अक्षर-ब्रह्म का जो पहले प्रश्न का विषय है, कुछ विस्तार से विवेचन किया गया है। यहां यह स्मरणीय है कि अक्षर के दो अर्थ हैं। एक तो वह परब्रह्म का वाचक है, दूसरे वाणी के द्वारा जिन शब्दों का उच्चारण होता है, उनके न्यूनतम पद को भी अक्षर कहते हैं। शब्दमयी वाणी अक्षरों का समुदाय है। वह वाणी ही वाक् है। वह वाक् परब्रह्म के रूप में या शब्द-ब्रह्म के रूप में सहस्राक्षरा अर्थात् अनन्त अक्षरों वाली है। वहां किसी शब्दात्मक अक्षर का उच्चारण नहीं होता, अतएव वह अमृत वाक् कही जाती है। वह वाक् का स्थित्यात्मक रूप है, वही एकपदी या अपदी वाक् है। उस एक पदी वाक् का प्रतीत ओंकार माना गया है, जैसा यहां कहा है :

ओमित्येकाक्षरं परब्रह्म (८।१३)

अक्षर विद्या की दृष्टि से ओंकार और अक्षर ये दोनों पर्याय माने गए हैं। जैसे ब्रह्म गुणातीत या निर्गुण और त्रिगुणात्मक भी है, वैसे ही ओंकार की स्थिति है। उसे सम्मिलित रूप में अर्धमात्रात्मक कहा जाता है और दूसरी ओर उसी में अ-उ-म् ये तीन मात्राएं भी मानी जाती हैं। उसका त्रिगुणात्मक रूप ही त्रिमात्रात्मक विषय है।

ग्यारहवें श्लोक में ओंकार को ब्रह्म का संक्षिप्त पद (संग्रह पद) कहा गया है। कठोपनिषद् में भी यह सिद्धान्त पाया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि इसका रहस्य क्या है? इसका उत्तर इस प्रकार है : यह संसार पांच तत्त्वों से बना है, उनमें आकाश सबसे सूक्ष्म है। ओंकार या अक्षर उसी आकाश के द्वारा वायु के आघात से उत्पन्न किया जाता है। उसकी वास्तविक भौतिक सत्ता उस कम्पन, स्पंदन या तरंगों के रूप में है, जो शब्द से उत्पन्न होती हैं। यह ध्वनि नितान्त भौतिक तत्त्व है। अतएव पंच भूतों से बना हुआ जितना भी जगत है, उसका एक सूक्ष्म नमूना ओंकार की

ध्वनि को मान लिया गया है। यही ओंकार प्रत्येक व्यक्ति के कण्ठ से जब निकलता है तो उसका कल्पनात्मक स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। जैसे प्रत्येक शरीर में रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेदा और मल-मूत्र के उच्चार अलग-अलग हैं, जिनकी परीक्षा से शरीर के आरोग्य और निर्दोष या सदोष स्वभाव का परिचय प्राप्त हो जाता है, वैसे ही कण्ठ से उच्चरित वाणी के द्वारा मनुष्य के शरीर की प्रकृति का ठीक परिचय प्राप्त हो सकता है। इसी रूप में प्रत्येक मनुष्य के कण्ठ से उच्चरित ओंकार वह संक्षिप्त पद है, जो उसकी पांचभौतिक देह, पंचप्राण और पंचकोपों का सूक्ष्म और स्थूल परिचय देता है, जैसे शरीर की रचना में जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाएं हैं, वैसे ही ओंकार में तीन मात्राएं हैं, अ मात्रा जाग्रत, उ मात्रा स्वप्न और म् मात्रा सुषुप्ति की परिचायक है। इन तीनों के अनन्तर एक मात्रा-विहीन या अमात्र अवस्था है। उसे तुरीयावस्था कहते हैं। इस प्रकार यदि ब्रह्मा की सारी सृष्टि का और मनुष्य के शरीर का न्यूनतम नमूना लेना हो तो वह ओंकार के रूप में लिया जा सकता है।

अक्षर और क्षर, अव्यक्त और व्यक्त, अमात्र और त्रिमात्र, इन दो कोटियों की ओर ध्यान देते हुए, गीताकार ने इनके सम्बन्ध में विश्व के दो विभागों की ओर आकृष्ट किया है। यह द्वन्द्वरूपभाव ब्रह्मा का विधान है। इसके विना संसार की रचना और प्रवृत्ति संभव नहीं। इसलिए इन्हें जगत् की शाश्वती गति कहा है। इनमें एक सफेद और दूसरी काली गति है। ये ही ऋगवेद के शुक्ल रजस् और कृष्ण रजस् का ठीक उल्टा हैं। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण, ये शुक्ल-गति के प्रतीक हैं। भूमि, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन, और चन्द्रमा, ये प्रकृति की काली गति या कृष्ण रजस् को प्रकट कर रहे हैं। दिन श्वेत, रात्रि अंधेरी क्यों है? उत्तरायण और दक्षिणायन में किस प्रकार का भेद है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न विश्व-रचना के सम्बन्ध में तुरन्त पूछे जा सकते हैं और उनका यथार्थ उत्तर ठीक यही है। संसार का मूल कारण जो गति तत्त्व है, उसी के दो भेद हैं। यह चक्रवत् गति है। वह जब एक ओर ऊंचे चढ़ती है और दूसरी ओर नीचे उतरती है, तभी पहिया घूम सकता है। काल ही संसार को घुमाने वाला चक्र या पहिया है। उसी के दो अर्द्ध भाग अहोरात्र, दर्श-

पौर्णमास, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन आदि रूपों में हमारे सामने घूमते रहते हैं। इन्हीं दो गतियों की व्याख्या प्राचीन काल में अहोरात्र वाद कहलाती थी, उसी की ओर संकेत करते हुए आठवां अध्याय समाप्त होता है।

नवां अध्याय : राजविद्या

गीता के नवें अध्याय का नाम राज-विद्या राजगुह्ययोग है। इसमें बताया है कि किस प्रकार ज्ञान और कर्म का सन्तुलन ही जीवनधारा है। भारत के धर्म तत्त्व और दर्शन का मुख्य लक्ष्य यही है। इसकी परम्परा वेद से लेकर कालान्तर में भी चली आई है। यह सब विद्याओं में श्रेष्ठ होने के कारण राज-विद्या कही गई है। इसे ही सब अध्यात्म तत्त्वों में या उपनिषदों के ज्ञान में सर्वोपरि होने के कारण राजगुह्य भी कहा गया। यह एक ऐसा योग है, जिसमें ज्ञान और विज्ञान अर्थात् व्यावहारिक लोक-जीवन और अध्यात्म-मार्ग दोनों का समन्वय होता है। यह धर्म-मार्ग अत्यन्त पवित्र कहा गया है, क्योंकि इसमें आत्मा का प्रकाश भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में भर जाता है और उसकी मलिनता को हटाकर उसमें पवित्रता भर देता है। इस मार्ग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह कहने-सुनने की बात नहीं है। इसे तो जीवन में प्रत्यक्ष उतारा जाता है। जबतक यह ज्ञान जीवन में खरा न उतरे तबतक इसका कुछ मूल्य और लाभ नहीं है। इसके लिए गीताकार का प्रत्यक्षावगम शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है (९।२)। भारतीय विचारकों ने ज्ञान के दो भेद किये थे—एक शब्दब्रह्म अर्थात् शब्दों के रूप में शास्त्रों का महान्‌भण्डार; वह भी एक निधि है, पर वह अपने में अपर्याप्त है। जब शास्त्र जीवन में आने लगता है तो उसे योग कहते हैं। अतएव आचार्यों ने स्पष्ट लिखा कि शास्त्रीय शब्दज्ञान में जो ब्रह्मा की भांति ही पण्डित हो जाय तो भी उसका पद नीचा है और योग के मार्ग में चलने का जिसने आरम्भ ही किया हो तो वह पहले की अपेक्षा ऊंचा पद रखता है (जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते (६।४४)। जीवन में जो ज्ञान को उधार बांहता है, उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता; पर जो सीखे हुए ज्ञान को आद

कर लेता है, अर्थात् अनुभव में ले आता है, वही उस ज्ञान का सच्चा धनी है। चाहे और सब शास्त्र कहने-सुनने के लिए ही हों, पर अध्यात्मज्ञान तो अवश्य ही जीवन के अनुभव में लाने योग्य है। भगवान् ने तो और भी आगे बढ़कर यह आश्वासन-परक वाक्य कहा है कि सच्चे मन से यदि मनुष्य प्रयत्न करे तो इस मार्ग का आचरण सरल और सुखदायी है (सुसुखं कर्तुम् ९।२)। फिर धर्म-युक्त होने के कारण यह ऐसी उपलब्धि है, जो अव्यय है, अर्थात् छीजती नहीं। जो जितना प्राप्त कर ले, उतना ही श्रेयस्कर है। मनुष्य को इस विश्वास के साथ इस मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए। जो इस प्रकार की श्रद्धा से चलते हैं, वे इस धर्म को प्राप्त कर लेते हैं (९।३)।

भगवान् का दिव्य स्वभाव

इसके अनन्तर भगवान् के उस स्वरूप और शक्ति की ओर ध्यान दिलाया गया है, जिसके द्वारा वे सबमें हैं और सबसे ऊपर भी हैं, अर्थात् आसक्ति और अनासक्ति एवं कर्म और ज्ञान के सम्मिलन का उदाहरण स्वयं ईश्वर की सत्ता है। उसे ऐश्वर-योग कहा गया है (९।५)। इसे देखने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। वह सब भूतों में है, जैसे आकाश और वायु सर्वत्र है। मैं सबमें रहते हुए भी सबसे उदासीन हूं। कोई कर्म मुझे नहीं बांधता। मेरी दैवी प्रकृति या ऐसे दिव्य स्वभाव को महान् या विकसित आत्मा वाले व्यक्ति पहचान लेते हैं और मेरे भक्त बन जाते हैं। मेरी सत्ता को पहचानने का एक दूसरा भी प्रकार है, उस दृष्टिकोण से एक ईश्वर को सबमें विद्यमान देखा जाता है। उसका नाम ज्ञान-योग है। मैं यज्ञ हूं, मैं समिधा हूं, मैं सोम हूं, मैं औषधि हूं, मैं मंत्र हूं, मैं ही दुःख हूं और मैं ही अग्नि और आहुति हूं। इस संसार का पितामह, पिता-माता, धाता, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, सुहृद् मैं ही हूं। ऋक्, यजु, साम और पवित्र ओंकार, सब ईश्वर के रूप हैं। सत् और असत्, अमृत और मृत सभी ईश्वर की सृष्टि हैं और वह स्वयं सबमें है। यह दृष्टि जिनको मिल जाती है, वे अनन्यभाव से ईश्वर का चिन्तन करते हैं। ईश्वर के लिए न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय, वह सब भूतों में समान रूप से है। अतएव

यदि कोई पापाचारी व्यक्ति भी अपने मन को पाप से मोड़ लेता है तो वह साधु बन जाता है। फिर उसे भी जीवन में शान्ति और सद्गति प्राप्त होती है।

दसवां अध्याय : विभूतियोग

लोक-देवता

ईश्वर-चर्चा के प्रसंग में एक प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ कि जो लोग भगवान् को छोड़ कर दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं, उनकी क्या गति होगी? लोक में बहुत से देवता हैं और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनके पूजने वाले भी अनेक हैं। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो उसके मन की रुचि है वह भी भगवान् के संकल्प का रूप है और उसके लिए विष्णुधर्मोत्तर पुराण के लेखक ने 'रोचेश' इस नये शब्द का व्यवहार किया है। जिसकी जिस देवता में रुचि होती है अथवा जीवन की जिस किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है, वही उसका 'रोचेश' है। विष्णुधर्मोत्तर अध्याय २२१ में इस प्रकार के लगभग १२५ देवताओं की सूची दी गई है। गीताकार के सामने भी यहां इस तरह का प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि लोक-देवता कौन-कौन से हैं? यह सामग्री कुछ अध्यात्म दृष्टि से महत्त्व की नहीं, किन्तु लोक-वार्त्ता-शास्त्र के लिए महत्त्व की है।

पहले तो गीताकार ने भगवान् के मुख से एक सामान्य नियम कहलाया है :

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ (९।२५)

व्रत का अर्थ

इस श्लोक का 'व्रत' शब्द पारिभाषिक है और उसका अर्थ किसी देवता विशेष की भक्ति और पूजा से है। यहां यजन का भी वही विशेष

अर्थ है, अर्थात् लोक में चालू रीति से देवताओं की पूजा करना।

व्रत शब्द के इस विशेष अर्थ के लिए सुत्तनिपात की निद्देस नामक टीका देखनी चाहिए। उसमें भिन्न-भिन्न देवताओं के व्रत या भक्ति द्वारा आत्मशुद्धि बताने वाले २२ सम्प्रदायों का उल्लेख है। उनमें से प्रत्येक को व्रतिक कहा गया है। जैसे हस्तिक व्रतिक, अश्व व्रतिक, गो व्रतिक, कुक्कुर व्रतिक, काक व्रतिक, वासुदेव व्रतिक, बलदेव व्रतिक, पूर्णभद्र व्रतिक, मणिभद्र व्रतिक, अग्नि व्रतिक, नाग व्रतिक, सुपर्ण व्रतिक, यक्ष व्रतिक, असुर व्रतिक, गन्धर्व व्रतिक, महाराज व्रतिक, चन्द्रमा व्रतिक, सूर्य व्रतिक, इन्द्र व्रतिक, ब्रह्मा व्रतिक, देव व्रतिक, दिशा व्रतिक। मिलिन्द पह्न पृष्ठ १९१ पर इसी प्रकार के कुछ लोक देवताओं की सूची है, उसकी सिंहली टीका में उन देवताओं को मानने वालों को भत्तियों, अर्थात् भक्त कहा गया है। व्रतिक और भक्तिक एक-दूसरे के पर्याय हैं।

मह नामक लोकोत्सव

इस प्रकार की पूजा-मान्यता को लोक में मह कहा जाता था। 'नाया-धम्म कहा' नामक जैन ग्रन्थ में लिखा है कि राजगृह नगर में बड़े-बड़े लोग निम्नलिखित मह या देव-यात्रा में इकट्ठे होते थे। जैसे इन्द्र मह, स्कन्द मह, रुद्र मह, शिव मह, वैश्रवण मह, नाग मह, यक्ष मह, भूत मह, नदी मह, तड़ाग मह, वृक्ष मह, चैत्य मह, पर्वत मह, उद्यान मह, गिरि यात्रा मह (नायाधम्म कहा १।२५)। इसी तरह की एक दूसरी सूची रायप सेणिय (राज प्रश्नीय) सूत्र में भी पाई जाती है, जैसे इन्द्र मह, स्कन्द मह, रुद्र मह, मुकुन्द मह, शिव मह, वैश्रवण मह, नाग मह, यक्ष मह, भूत मह, स्तूप मह, चैत्य मह, वृक्ष मह, गिरि मह, दरी मह, अवट मह, नदी मह, सर मह, सागर मह (कण्डिका १४८)।

महाभारत में भी इस तरह के मह नामक देव-उत्सवों का उल्लेख मिलता है, जैसे—गिरि मह, (महा १४, ५९, १३), रैवतक मह (आदि पर्व २११।२), ब्रह्ममह। महाभारत आदिपर्व १५२।१७, में इसे ही ब्रह्मा का समाज या विराट् ब्रह्म महोत्सव भी कहा गया है। इसी प्रकार

काम मह और धनुर्मह के नाम भी मिलते हैं। वाल्मीकि रामायण में जिसे जनक का धनुष-यज्ञ कहा जाता है, वह धनुर्मह का ही रूप था। इस सूची और संस्था को ध्यान में रखकर यदि हम गीता के १०वें अध्याय में बतायी हुई भगवान् की विभूतियों की सूची को देखें तो यह बात स्वयं समझ में आ जाती है कि गीताकार ने आधुनिक लोक-वार्त्ता या लोक का अध्ययन करने वाले पण्डितों की भांति अपनी सामग्री का संकलन किया है। इस सूची को गीताकार ने विभूति का नाम दिया है और कुछ विस्तार से कहने की बात को भी स्वीकार किया है (विस्तरेण आत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् १०।१८)। गीता में इन देवताओं के नाम इस प्रकार हैं :

लोक देवताओं की सूची

आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में सूर्य, मरुतों में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्रमा, वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, भूतों में चैतन्य, रुद्रों में शंकर, यक्षों में कुबेर, आठ वसुओं में अग्नि, पर्वतों में मेरु, पुरोहितों में बृहस्पति, सेनापतियों में स्कन्द, सरोवरों में समुद्र, महर्षियों में भृगु, शब्दों में ओंकार, यज्ञों में जपयज्ञ, स्थावरों में हिमालय, पेड़ों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल, घोड़ों में उच्चैः श्रवस्, हाथियों में ऐरावत, मनुष्यों में राजा, गायों में कामधेनु, प्रजनन की शक्तियों में कामदेव, सर्पों में वासुकि, नागों में अनन्त, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा, वन्धन करने वालों में यम, दैत्यों में प्रह्लाद, संख्या करने वालों में काल, पशुओं में सिंह, पक्षियों में गरुड़, पवित्र करने वालों में पवन, शस्त्रधारियों में परशुराम, मछलियों में मगरमच्छ, नदियों में गंगा, विद्याओं में अध्यात्म विद्या, अक्षरों में आकार, समासों में द्वन्द्व, छन्दों में गायत्री, सामगानों में बृहत् साम, महीनों में अगहन, ऋतुओं में वसन्त, वृष्णियों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास और कवियों में उशना कवि, ये मेरे ही रूप हैं। मेरी विभूतियों का कोई अन्त नहीं। यह तो उस विस्तार का संक्षिप्त रूप मैंने तुम्हें बताया है।

इस प्रकार दसवें अध्याय में अधिकांशतः वे नाम, जो पहले व्रत और महकी सूची में आये हैं, सम्मिलित हैं। यहां अध्यात्म या धर्म की दृष्टि से भागवत आचार्यों का एक विशेष उद्देश्य स्पष्ट समझा जा सकता है, अर्थात् लोक-देवताओं की मान्यता को चोट पहुंचाये या उखाड़े बिना वे उन सबका सम्बन्ध विष्णु भगवान् या नारायण के साथ या एक ही ब्रह्म अव्यय ईश्वर-तत्त्व के साथ जोड़ देते हैं। यह बड़ी उपलब्धि थी। इस युक्ति का परिणाम कुछ समय बीतने पर यह हुआ कि विष्णु या नारायण की पूजा सबसे ऊपर उभर आई और लोक के छुटभइए देवता या तो भुला दिये गए या पिछड़ गये। बहुतों के रूप तो इतने धुंधले पड़ गये कि अब पहचाने भी नहीं जाते। जैसे स्कन्द की पूजा महाराष्ट्र में खंडोबा के रूप में बची है, उत्तर भारत में तो वह लुप्त ही हो गई। ऐसे ही कुबेर, बसु, पुण्यजन्म, आदि की पूजा का हाल है। इस प्रकार के लोक देवताओं में विश्वास गीता अथवा जैन और पालि-साहित्य से भी बहुत पहले से चला जाता था। अथर्ववेद के पापमोचन सूक्त में (११।६।१-२३) इस प्रकार के लगभग १०० देवताओं की सूची पाई जाती है। उसके ये नाम तो ऊपर की इन तीन सूचियों से मिलते हैं—इन्द्र, सूर्य, विष्णु, वरुण, गन्धर्व, चन्द्रमा, दिशः, पशु-पक्षी, रुद्र, यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदी, वैश्रवण, पितृ, यम, सप्तर्षि सर्प, संवत्सर, चतुर् महाराजिक, भूत, सर्वदेव आदि। इस प्रकार वैदिक युग से लेकर चली हुई यह देवपूजा लोक की मान्यता में इतनी बस गई थी कि वह जनता के मन से कभी पूरी तरह नहीं हटी। हमने अपने ग्रन्थ प्राचीन भारतीय लोक धर्म में यह दिखाया है कि इनमें से अनेक देवता आज भी किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित रह गये हैं और उनकी पूजा-यात्राएं भी प्रचलित हैं। पर भागवतों के उस समन्वयात्मक दृष्टि का, जिसका गीता के १०वें अध्याय में प्रतिपादन है, परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म में एक महान् ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता के प्रति आस्था ऊपर उभर आई और अन्य सब देवी-देवता उसी में विलीन हो गये या उन्होंने अपने अनमेल अस्तित्व का उसी के हाथों समर्पण कर दिया।

ग्यारहवाँ अध्याय : विश्वरूपदर्शन

पुरुष और प्रकृति की अनेक संज्ञाएं

गीता का विश्वरूप नामक ग्यारहवाँ अध्याय बहुत ही उदात्त एवं प्रभावोत्पादक शैली में लिखा गया है। यों तो संस्कृत-साहित्य में विश्वरूप दर्शन का वर्णन अनेक बार आया है, किन्तु जैसी ओजस्वी शैली गीता के इन ५५ श्लोकों में पाई जाती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं है। भगवान् के विराट् रूप की कल्पना का आरम्भ ऋगवेद के पुरुष सूक्त से होता है। वहां कहा है कि विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, मुख से इन्द्र-अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, मस्तक से द्युलोक, पैरों से पृथ्वी, कानों से दिशाएँ और उसी प्रकार दूसरे अंगों से भिन्न-भिन्न लोकों का निर्माण हुआ (ऋगवेद १०-९०।१३-१४)। विराट् का अर्थ है, महिमा या समष्टिगत विश्वात्मक रूप। इसके मूल में वैदिक सृष्टिविद्या की यह कल्पना है कि विश्व का निर्माण करने वाले प्रजापति के दो रूप हैं : एक अनिरुक्त, अपरिमित, अमूर्त और अनन्त; दूसरा निरुक्त, परिमित, मूर्त और सान्त। पहला रूप अव्यक्त और दूसरा व्यक्त है। व्यक्त रूप में प्रकृति या प्रधान की सत्ता है, और अव्यक्त रूप में उससे ऊपर पुरुष की सत्ता है। पुरुष और प्रकृति के सम्मिलन से ही विश्व का निर्माण हुआ है।

इन्हीं दो तत्त्वों की और भी कई संज्ञाएं हैं,जैसे अनन्त पुरुष को सहस्र-शीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् पुरुष भी कहा गया है, जबकि प्राकृत जगत् केवल दशांगुल मात्र है। अव्यक्त और व्यक्त का पारस्परिक सम्बन्ध यह भी है कि पुरुष प्राकृत जगत् में व्याप्त रहकर भी उससे ऊपर है। दूसरे पुरुष अमृत और प्रकृति मर्त्य है। पुरुष को त्रिपात् और प्रकृति को उसकी उपेक्षा एकपात् कहा जाता है। पुरुष ऊर्ध्व और जगत् पुनः पद या इह कहलाता है। उसे ही अधः या अवर भी कहते हैं। पुरुष की सत्ता सबसे ऊपर होते हुए भी वह अपने ही भीतर से अपनी असामान्य शक्ति के द्वारा जिस विश्व को उत्पन्न करता है उसकी संज्ञा विराट् है। विश्व के निर्माण का और कोई हेतु नहीं, वैदिक शब्दों में वह पुरुष की माया या स्वधा शक्ति है। इसे ही पुराणों में क्रीड़ा या लीला कहा गया है।

विश्व या विराट्

विश्व की ही संज्ञा विराट् है, जिसे वेदों में महिमा कहा है। 'एतावानस्य महिमा' अर्थात् इतना बड़ा जगत् जो स्थूल और सूक्ष्म रूपों में जाना जाता है, वह सब पुरुष या ब्रह्म की महिमा है। वह महिमा ही विराट् प्रकृति है।

उस अनन्त पुरुष को संकेत से 'तत्' और इस विश्व को 'इदं सर्वम्' कहा जाता है 'तत् त्वमसि' इस वक्य में तत् शब्द उसी परम पुरुषको ओर संकेत करता है। उस तत् संज्ञक ईश्वर तत्त्व से जिस महिमा या महत् या विश्व का जन्म होता है वही विराट् है—ततो विराडजायत। वैदिक सृष्टि विद्या के अनुसार तत् या ब्रह्म पुरुष सृष्टि का पिता है और महत् या विराट् उसकी माता है। इसी महत् ब्रह्म को गीता में योनि भी कहा है, अर्थात् यह विश्व को जन्म देने वाली माता है। इसमें स्यंवभू पिता के रूप में गर्भाधान करता है, और उससे अनेक प्रकार की मूर्तियों या रूपों का जन्म होता है (मम योनिर्महद् ब्रह्म) :

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः॥
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता (१४-३-४)।

इस प्रकार ईश्वर अपने भीतर से जिस विराट् विश्व को जन्म देता है, उसमें अपनी प्रचण्ड शक्ति की भरपूर मात्रा उंडेल देता है। वस्तुतः उसकी जिन सीमित मात्राओं को लेकर पंचीकरण प्रक्रिया चलती है, उन्हें तन्मात्रा कहते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श, ये सब परम पुरुष ईश्वर की विश्व में आई हुई पांच मात्राएं हैं। इससे ही जगत् के पंच भूतों का निर्माण हुआ है। और इन्हीं दसों को जानने और भोगने के लिए व्यक्ति के शरीर में दस इन्द्रियों का विकास हो जाता है। इस प्रकार विश्व में और शरीर में इन सभी तत्त्वों का एक शक्तिशाली गुट पैदा हुआ है और अपना काम कर रहा है। प्रत्येक प्राणी को भौतिक शक्ति का यह पुंज प्राप्त हुआ है, पर उसकी मात्रा सीमित है। इसलिए उससे कोई आश्चर्य नहीं होता और निर्बाध गति से चलने वाले रथ की भांति इन बीस तत्त्वों से बना हुआ यह

शरीर-चक्र चला जाता है। सच तो यह है कि इन्हीं बीसों के साथ मन बुद्धि और अहंकार, इन तीन की शक्ति और जुड़ी रहती है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी या तेईस तत्त्वों का शरीरधारी पुतला विश्व-रचना का एक सौम्य अंग बना हुआ है।

ईश्वर की प्रचंड शक्ति

किन्तु इस सौम्य रचना के पीछे ईश्वर की एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति छिपी हुई है, जिसकी कल्पना से ही मनुष्य के होशहवास गुम हो जाते हैं। उसका कुछ रूप वायु के अंधड़-बवण्डरों में, धरती को डांवाडोल करनेवाले भूचालों में, आकाश को चीर डालने वाली बिजली की कड़क में, चन्द्रमा और सूर्य को भी छिपा देने वाले खग्रासों में, एवं खगोल मण्डल के धूमकेतु और उल्का रूपी अनेक उत्पातों में दिखाई पड़ता है। कुशल है कि ये घटनाएँ क्षणिक होती हैं। पर्वतों को उड़ा देने वाला, समुद्र के जलों को मथ देने वाला, वृक्षों और नदियों को उलट देने वाला प्रभंजन वायु क्षण भर के लिए सामने आता है और फिर वहीं शान्त हो जाता है। भगवान् के इस सौम्य रूप की संज्ञा चतुर्भुजी रूप है, पर इनकी जो अनन्त शक्ति है, उसे सहस्र-भुजी रूप कहा गया है।

मनुष्य की सीमित मात्राओं में वह शक्ति नहीं है कि विराट् रूप का दर्शन कर सके। हमारे सीमित मस्तिष्क में विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान आने लगे तो अवश्य ही मस्तिष्क का विस्फोटन हो जायगा। इसी का प्रतीक है 'हुम्फट्'। हमारे नेत्र केवल थोड़ी-सी किरणों से ज्योति ग्रहण कर पाते हैं। यदि सूर्य की सहस्र या अनन्त किरणें इन नेत्रों में आने लगें तो ये चर्म-चक्षु अपनी सत्ता ही खो बैठेंगे। ऐसे ही कानों को कुछ गिनी हुई ध्वनि-तरंगें ही सुनाई पड़ती हैं, विश्व के महानाद को ग्रहण करने के लिए मानव की सुनने की शक्ति अति तुच्छ है। इसी प्रकार हमारी भूख केवल पाव भर अन्न स्वीकार करती है, पर विश्व में तो अन्न के पहाड़ लगे हुए हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य का स्वरूप सब ओर से अत्यन्त सीमित है और यही उसकी जीवन-सत्ता का हेतु है; किन्तु मानव का मन बड़ा भारी प्रश्न है।

जो सम्भव नहीं है, यह उसके साथ भी छेड़-छाड़ करना चाहता है। यही हालत अर्जुन की भी हुई।

जब कृष्ण ने बहुत तरह से अपनी विभूतियों का बखान किया तो अर्जन के मन-रूप यक्ष ने एक उत्कट नाटक खेला। उसने कृष्ण से कहा कि आपने विस्तार से अपनी महत्ता का और प्राणियों के जन्म और विनाश का जो वर्णन किया यदि उसमें यथार्थता हो तो आपका वह ईश्वरी रूप मैं देखना चाहता हूँ। यदि आप ठीक समझें और उसे दिखा सकें और मैं उसे देख सकूँ तो हे योगेश्वर, मुझे उसे दिखाइये।

दिव्य दृष्टि क्या ?

अर्जुन का इतना कहना था कि कृष्ण ने ईश्वर के आश्चर्यों का भण्डार उसके सामने खोल दिया; पर इतना अवश्य कहा कि तुम्हारा यह सीमित चर्मचक्षु इस आश्चर्यमय रूप को देखने में समर्थ नहीं है। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ। यह दिव्य चक्षु क्या है ? मनुष्य के भौतिक शरीर में मन ही देवता है, जैसा ऋगवेद में कहा है—देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् (१।१६४।१८)। इसलिए मन की जो शक्ति है, वही यह दिव्य चक्षु है। भगवान ने अर्जुन के मन को अपनी महती मनःशक्ति से भीतर-बाहर से छा लिया।

विराट् रूप

तब अर्जुन के सामने वह ईश्वरी रूप प्रत्यक्ष आ गया जो सब आश्चर्यों का स्थान है, जो अनन्त है, जिसमें अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं, जिसमें सब देवता और सब लोक हैं। उसकी चमक देखकर उसे ऐसा जान पड़ा, मानो एक सूर्य तो क्या, सहस्रों सूर्यों की भी प्रभा उसके सामने कुछ नहीं है। अग्नि और बिजली के सामान्य तेज विचलित हो गये। न उस रूप का आदि था, न अन्त। चन्द्रमा और सूर्य तो उसके छोटे-से नेत्र थे। समस्त त्रिलोकी उस रूप को देख कर भय खाने लगी। उस मुख की कराल डाढ़ों

को देखकर अर्जुन के मुख से निकल पड़ा, "महाराज, मेरे लिए संसार घूम रहा है। मेरी स्थिति ठीक नहीं है। आपका ही यह अत्यंत विराट् रूप है। ये कौरव और ये पाण्डव आपके मुख में चले जा रहे हैं। कुछ दांतों के बीच में छिपे हुए हैं और उनके मस्तक चूर-चूर हो गए हैं। हे देव, इस उग्र रूप में आप कौन हैं ? मैं यह जानना चाहता हूं, क्योंकि मुझे आपके इस स्वरूप का पहले पता नहीं था।"

भगवान् ने अर्जुन के इस प्रश्न का जो उत्तर दिया, वह एक शाश्वत उत्तर है, "मैं काल हूं। लोकों का क्षय करने वाला हूं। लोको का संहार करने के लिए आज रणभूमि में आया हूं। युद्धभूमि में इकट्ठा हुए इन राजाओं को मैं पहले ही मार चुका हूं। तुम केवल निमित्त बन जाओ।"

इस स्थिति में अर्जुन को कंपकंपी आ गई। वह हाथ जोड़ कर वारं-बार प्रणाम करने लगा। डर से उसकी घिग्घी बंध गई और तब उसने उस विराट् रूप की पुनः स्तुति करते हुए अपनी धृष्टता के लिए बार-बार क्षमा मांगी, "हे देव, आपको मैं ठीक प्रकार नहीं समझ सका। अत्यन्त निकट होने के कारण कभी प्रमाद से और कभी स्नेह से मैंने आपको कृष्ण यादव या सखा कह कर पुकारा है और उससे भी अधिक भोजन के समय, विहार के समय या सोते समय हँसी में आपका अपमान भी किया है। उस सबके लिए आज क्षमा चाहता हूं, क्योंकि मैंने कभी नहीं जाना था कि आपका स्वरूप इतना अधिक प्रभावशाली है। पिता जैसे पुत्र को, मित्र जैसे मित्र को, प्रियतम जैसे अपने प्रिया को क्षमा करता है, वैसे ही आप मुझे क्षमा कीजिए। मेरा मन घबरा गया है, अतएव आप फिर वही अपना चतुर्भुजी सौम्य रूप दिखाइये।"

इसके बाद भगवान् ने अर्जुन के व्याकुल मन को ठीक करने के लिए आश्वासन के कुछ शब्द कहे, "हे अर्जुन ! मैंने तो अपनी प्रसन्नता से तुझे यह रूप दिखाया। इससे पहले और किसी ने मुझे इस तरह नहीं देखा था। चाहे जितना वेद पढ़ो, यज्ञ करो, स्वाध्याय करो, दान दो और तप करो, उन सबसे मेरे इस विराट् रूप को देखना सम्भव नहीं। मेरे इस घोर रूप को देखकर तुम डरो या घबराओ मत। अच्छा, अब इस काण्ड को समाप्त समझो और फिर मेरा वही सौम्य रूप देखो।" इतना कहकर महात्मा

कृष्ण फिर अपने उसी सौम्य रूप में आ गये और उन्होंने डरे हुए अर्जुन को ढाढ़स दिया। अर्जुन ने कहा, "आपका यह सौम्य मानुषी रूप देखकर मेरा चित्त पुनः स्थिर हो गया है।" भगवान् ने अन्तिम रूप से अर्जुन को पुनः समझाया, "हे अर्जुन ! केवल असाधारण भक्ति से ही मेरे इस परम रूप का ज्ञान और दर्शन मिल सकता है। इसलिए मेरे भक्त वनो। मुझे ही परम देव समझो। मेरे लिए ही कर्म करो और सव प्राणियों में द्रोह का त्याग करो।"

बारहवां अध्याय : भक्तियोग

भक्ति-योग नामक बारहवें अध्याय में अर्जुन ने भक्तों के सम्वन्ध में प्रश्न किया कि सगुण भगवान् या ईश्वर की पूजा करने वाले और अव्यक्त अक्षर तत्त्व की पूजा करने वाले, इन दो प्रकार के भक्तों में कौन श्रेष्ठ है ?

सगुण-निर्गुण पूजा

इस प्रश्न का उत्तर उतने ही निश्चित शब्दों में दिया गया है, अर्थात् जो साक्षात् सगुण ईश्वर में मन लगाकर उसकी उपासना करते हैं और जिनके मन में श्रद्धा है, वे उत्तम हैं। अव्यक्त की उपासना या ध्यान सबके लिए सुलभ नहीं, वह कठिनाई से ही हो पाता है और फिर, अव्यक्त और व्यक्त के पचड़े में पड़ना उचित नहीं; क्योंकि निराकार की उपासना का फल भी वही है, जो सगुण भगवान् की उपासना का है।

भक्ति का लक्षण

अव भक्ति का लक्षण वताते हुए कहा कि भक्त को चाहिए कि अपने सव कर्मों का अर्पण भगवान् को कर दे और भगवान् का ही ध्यान करे। मन, चित्त और वुद्धि इन तीनों को यदि ईश्वर में ठहरा दिया जाय तो मनुष्य के लिए भगवान् ही उसका निवास-स्थान बन जाता है।

भक्ति-साधना के कई मार्ग

इसके बाद साधना की कई सीढ़ियों का वर्णन किया गया है। उनमें पहली सीढ़ी यह है कि यदि ईश्वर में चित्त-स्थिर न होता हो तो उसे स्थिर करने के लिए अभ्यास करना चाहिए। उससे ईश्वर की प्राप्ति संभव है। यदि कोई चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास भी न कर सके तो दूसरा उपाय यह है कि जो कुछ कर्म मनुष्य करे, उसे ईश्वर पर छोड़ दे। ईश्वर को अपना कर्म सौंप देने से सिद्धि की प्राप्ति संभव है।

यदि यह भी न बन पड़े और ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा बनी ही रहे तो जो कुछ कर्म किये जाते हैं, उनके फल का त्याग करना सीखना चाहिए। अभ्यास से उत्तम ईश्वर का मन में ध्यान या प्रत्यक्ष दर्शन है। ज्ञान से बढ़कर भक्ति-पूर्वक ध्यान है, और ध्यान से कर्मफल का त्याग उच्च है। कर्म-फल के त्याग से शान्ति मिलती है।

यहां ऐसा विदित होता है कि ज्ञान, अभ्यास, ध्यान और कर्म-फल-त्याग, ये चार उपाय हैं, जिनमें से अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार किसी का भी अवलम्बन लिया जा सकता है। गीता की जो समन्वयात्मक दृष्टि है, उसके अनुसार एक मार्ग की निन्दा और दूसरे मार्ग की प्रशंसा गीता को इष्ट नहीं।

भक्त के लक्षण

इसके अनन्तर भक्त के लक्षण बताये गए हैं। भगवान् का जो भक्त होता है, वही उन्हें प्रिय है। ऐसा व्यक्ति किसी प्राणी से वैर नहीं करता। वह सबके प्रति मैत्री की भावना रखता है। उसके मन में करुणा या दया की भावना रहती है। वह अपने या पराये के साथ ममता या द्वेष नहीं रखता। उसमें अहंकार का भाव नहीं होता। दुःख और सुख में उसकी एक-समान चित्त-वृत्ति रहती है। वह क्षमाशील रहता है। वह अपनी आत्मा को संयम में रखता है। उसका निश्चय दृढ़ होता है। वह अपने मन और बुद्धि को ईश्वर में अर्पित कर देता है। ऐसा व्यक्ति जहां भी हो, वह

समाज के लिए बड़ी निधि है। वह प्रकाश का केन्द्र होता है और अपने जीवन से दूसरों के कष्ट को दूर करता है। ऐसा ही विशिष्ट चरित्रवान् व्यक्ति ईश्वर को प्रिय है। वह लोक से भागता या घबराता नहीं। लोक-संघर्ष के बीच रह कर ही जीवन की सफलता ढूंढ़ता है। ऐसे व्यक्ति को पाकर लोक उसकी ओर खिच आता है। जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से रहित होता है, वही ईश्वर को प्रिय है।

इसके अतिरिक्त और भी भक्त के लक्षण कहे गये हैं। जैसे वह किसी वस्तु को अपने लिए नहीं चाहता। वह मन, कर्म और व्यवहार से शुचि एवं शुद्ध होता है। वह कर्म करने में चतुर होता है। वह उदासीन या निर्लेप होता है। उसे व्यथा नहीं होती। वह किसी भी प्रकार से लड़ाई-झगड़े में नहीं पड़ता। हर्ष और द्वेष, शोक और इच्छा, शुभ और अशुभ, इन बातों से वह ऊपर रहता है। शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीत और उष्ण, सुख और दुःख इन द्वन्द्वों के बीच में वह एक समान रहता है। उसके लिए निन्दा और स्तुति एक-जैसी है। वह प्रायः मौन रहता है। उसे जो कुछ मिल जाता है, उसी से सन्तुष्ट रहता है। वह अपने लिए बड़ा घर या महल नहीं बनाता। उसकी बुद्धि जिस काम को लेती है, उसमें स्थिर रहती है।

इस प्रकार जो यहां भक्त के चालीस लक्षण बताये गए हैं, वे सब वही हैं, जो एक परिपूर्ण मानव के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य की पूर्णता के लिए इनके अतिरिक्त फिर कुछ रह ही नहीं जाता। दूसरे अध्याय में स्थितधी पुरुष के जो लक्षण कहे हैं वे लगभग यही हैं। गुणों के आधान का यह एक नया सिद्धान्त भागवत आचार्यों ने बताया था। श्रीमद्भागवत के अनुसार स्वयं विष्णु भगवान् गुणों के महापात्र हैं। गुणों को रखने के लिए उससे बड़ा बर्तन दूसरा नहीं है। भागवत ने भी चरित्र के उन्तालीस गुणों की एक सूची दी है, जो इस प्रकार है :

सत्य, शौच, दया, शान्ति, त्याग, सन्तोष, आर्जव (स्वभाव की सिधाई), श्रम, दम, तप, साम्य, तितिक्षा, उपरति, श्रुति, ज्ञान, विरक्ति, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वातन्त्र्य, कौशल, शान्ति, धैर्य, मार्दव, प्रागल्भ्य, शील, प्रश्रय, सह, ओज, बल, भग, गांभीर्यं, स्थैर्यं, आस्तिकता,

कीर्ति, मान, अहंकार (भागवत ११।१७।२६-२८)।

ये भगवान् के महागुण हैं। जो मनुष्य अपना महत्त्व चाहे, उसे इन्हें धारण करना चाहिए। भगवान् विष्णु स्वयं इन गुणों के पात्र हैं। इस प्रकार स्पष्ट बात यह है कि विना गुणों को धारण किये हुए कोई भी धर्म का मार्ग पकड़ में नहीं आता। गीता का यह दृष्टिकोण प्रज्ञा-दर्शन के अंगरूप है।

तेरहवां अध्याय : क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार

तेरहवें अध्याय का नाम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग है। इस अध्याय से गीता एक ऐसे क्षेत्र में उतरती है, जहां प्राचीन वैदिक परिभाषाओं की भरमार है। उदाहरण के लिए तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार है। चौदहवें में तीन गुणों का विचार हैं। पन्द्रहवें में क्षर और अक्षर और अव्यय इन तीन पुरुषों का विचार है। सोलहवें में दैव और आसुरी, इन दो प्रकार की सृष्टियों का विचार है। सत्रहवें में तीन प्रकार की श्रद्धाओं की व्याख्या की गई है। अठारहवें अध्याय में पुनः कई मिश्रित परिभाषाओं पर ध्यान दिया गया है। अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से गीता के इन छह अध्यायों का पर्याप्त महत्त्व है। इनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि गीताकार के विचारों का मूल स्रोत सांख्य तत्त्व-दर्शन और वेदों के साथ मिला हुआ था। ऐसा स्वाभाविक है; क्योंकि गीता जैसा विशिष्ट शास्त्र स्वल्प-कालिक चिन्तन का परिणाम नहीं। इसके पीछे भारतीय धर्म और दर्शन की लम्बी परम्परा थी। इसीलिए तो किसी विचारशील व्यक्ति ने गीता के दूध को उपनिषद् रूपी गायों से दुहा कहा है, जैसा हम पहले कह चुके हैं। उपनिषद् का अर्थ वेदों और ब्राह्मणों की अनन्त प्राचीन परम्परा से ही था।

तेरहवें अध्याय की नेपाल, काश्मीर और बंगदेश की प्रतियों में प्रायः यह श्लोक अधिक मिलता है :

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च,
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव (बेल्वेल्कर, १३।१)।

दक्षिणात्य प्रतियों में यह श्लोक प्रायः नहीं है। कहीं-कहीं यह बारहवें अध्याय के अन्त में मिलता है। शांकर भाष्य में भी यह नहीं है, किन्तु श्लोक के मिलने या न मिलने से कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि तेरहवें अध्याय का जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-सम्बन्धी विषय है, वही इस श्लोक में दुहराया गया है। पुराणों की स्पष्ट परिभाषा के अनुसार क्षेत्रज्ञ संज्ञा पुरुष या परमेश्वर की है और क्षेत्र संज्ञा प्रकृति की है।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार की प्राचीनता

यह स्मरण रखना चाहिए कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-सम्बन्धी यह विचार कुछ नया न था। हमें ऋगवेद में सर्वप्रथम इन शब्दों का परिचय मिलता है।

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविद ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्॥
(ऋ० १०।३२।७)

यहां स्पष्ट कहा है कि जो क्षेत्र को नहीं जानता, वह क्षेत्रविद् या क्षेत्रज्ञ से उसके विषय में प्रश्न करता है। क्षेत्रज्ञ उसे जो उपदेश देता है, उसे प्राप्त करके वह प्रसन्न होता है। इस विषय के अनुशासन या उपदेश में इतना कल्याण भरा हुआ है कि जिसे उपदेश दिया जाता है, वह शीघ्र ही ठीक मार्ग प्राप्त कर लेता है। इस मन्त्र के क्षेत्रविद् और अक्षेत्रविद् शब्द अध्यात्मशास्त्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। कालान्तर में उसी विद्या की परम्परा चलती रही। ऋगवेद् ५।४०।५ में भी अक्षेत्रविद् शब्द आया है और वहां क्षेत्र का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति को मुग्ध अर्थात् मूढ़ कहा गया है। इसी से निकला हुआ अक्षेत्रज्ञ शब्द पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दिया है, जिससे भाववाचक शब्द अक्षेत्रज्ञ्य बनता था (अष्टाध्यायी, ६।३।३०)। ७।३।३० सूत्र में क्षेत्रज्ञ शब्द का प्रयोग दिया है, जिससे उसका उलटा अक्षेत्रज्ञ शब्द बनता था और उसी का भाववाचक रूप अक्षैत्रज्ञ्य था।

क्षेत्र और क्षेत्र का विचार बहुत प्राचीन था, इस बात को स्वयं गीताकार ने भी स्पष्ट रीति से कहा है। उन्होंने स्वीकार किया है कि अनेक

ऋषि वैदिक मन्त्रों में इस प्रकार के विचार प्रकट करते रहे और उसके बाद ब्रह्म-सूत्र में भी इसी तरह की क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विद्या का प्रतिपादन हुआ।

अतएव गीताकार का स्वाभाविक अभिप्राय यह है कि गीता में भी यह विषय वहीं से लिया गया था।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी विद्या का बहुत विस्तार था और पुराणों में बार-बार इसका उल्लेख किया गया है। उसका संक्षिप्त और सारगर्भित परिचय गीता में केवल एक श्लोक में बता दिया है :

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः (१३।५)

किन्तु इससे पहले कि हम गीता के इस श्लोक की व्याख्या करें, यह आवश्यक है कि वेदान्त-शास्त्र के ब्रह्म-सूत्रों में जिसका प्रमाण गीता ने दिया है, जो यह विषय है, उसका भी कुछ परिचय दे दें।

ब्रह्मसूत्रों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार

ब्रह्म-सूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के पहले तेरह सूत्रों में पांच महाभूतों पर विचार किया गया है कि किस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल रूप में उनका विकास होता है। चौदहवें सूत्र में प्रलय या प्रतिसंचर काल में जिस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए एक-दूसरे में लीन होते जाते हैं, उसका संकेत किया गया है, उसे विपर्यय कहा है। फिर पन्द्रहवें सूत्र में विज्ञान अथवा बुद्धि और मन इन दोनों की उत्पत्ति का उल्लेख है। फिर सोलहवें सूत्र के अन्तिम तिरपनवें सूत्र तक जीव और ईश्वर तत्त्व का विचार है। इस प्रकार ब्रह्म-सूत्रों के इस पाद में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विषय प्रतिपादित हुआ है। इस पर बाद के दार्शनिकों ने तर्क और वितर्क के द्वारा विस्तृत ऊहापोह किया है, जो अनुसंधान का पृथक् विषय है।

गीता में क्षेत्र का विचार

अव गीता के क्षेत्र-स्वरूप पर विचार करना चाहिए। गीताकार ने ऊपर लिखे पांचवें श्लोक में जिस तरह तत्त्वों का परिगणन किया है वह, इतना सरल और स्पष्ट है कि उसे देखकर आश्चर्यमय आनन्द होता है। गीताकार ने जो तत्त्व गिनाए हैं, वे सांख्य शास्त्र के तेईस तत्त्व हैं :

महाभूतान्यहंकारो　　बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥
(१३।५—६)

क्षेत्र के इस स्वरूप को बहुत स्पष्टता से एक वार समझ लेना चाहिए, क्योंकि यह भारतीय दर्शन का निचोड़ है और वेद, वेदान्त, सांख्य एवं अनेक पुराणों में इसे वार-वार दुहराया गया है और कई वार तो नई-नई संज्ञाओं का भी प्रयोग हुआ है। गीता में इसे ही अपरा प्रकृति भी कहा है। यह क्षेत्र प्रकृति की संज्ञा है। इससे जो ऊपर क्षेत्रज्ञ है, वह पुरुष है। पुराणों में क्षेत्र को अण्ड-सृष्टि कहा है और उस अण्ड को वारम्वार प्राकृत अण्ड कहा है। इस प्राकृत अण्ड के मूलभूत सात आवरण हैं, जैसे १. महत् २. अहंकार और ३—७ पांच तन्मात्राएं।

इन सातों से २३ तत्त्वों का विकास इस प्रकार हो जाता है :

१. महत् (जिसे बुद्धि भी कहते हैं)।

२. मन (स्थिर विज्ञान की संज्ञा बुद्धि और चंचल विज्ञान की संज्ञा मन है)।

३. अहंकार।

४-८. पांच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)।

९-१३. पांच कर्मेन्द्रियां।

१४-१८. पांच ज्ञानेन्द्रियां।

१९-२३. पांच महाभूत।

इन तेईस तत्त्वों के समूह को त्रयोविंशक कहा जाता है। इन्हीं में

अव्यक्त (जिसे प्रधान या प्रकृति) जोड़ देने से तत्त्वों का चतुर्विंशक गुण बन जाता है। यही गीता के श्लोक में तत्त्वों की गिनती है। इन २३ जड़ तत्त्वों के मिलने से पुतला बनता है, वही अपरा प्रकृति है। अपने आपमें यह जड़, चेतना शून्य और चेष्टाहीन है। जब पुरुष से इसका संयोग होता है, तब इनमें चेष्टा या प्राण का प्रवेश हो जाता है। उसी की संज्ञा जीव है और उसे ही दार्शनिक भाषा में परा प्रकृति कहते हैं। वह ईश्वर का अंश माना जाता है। जीव को लक्ष्य में रखकर यहां कुछ गुण कहे गये हैं, जैसे इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, संघात-वृत्ति और चेतना। ये सब जीव के लक्षण हैं। संघात का एक अर्थ मृत्यु ही है, जो जीव के शरीर में प्रवेश करने और निकल जाने से ही संभव होती है। धृति जीव का स्वाभाविक गुण है, क्योंकि वही भूतों को धारण करने वाला है और स्वयं पंचभूतों के समुदाय रूपी शरीर या कूट पर स्थित रहता है। अक्षर, प्राण या जीव ही भूतों की सच्ची विधृति है, उसी के बल से पंचभूत इकट्ठे बने रहते हैं। जीव के हटते ही भूत बिखर जाते हैं। उस जीव का स्वरूप चेतना है, जैसा देवी-माहात्म्य में कहा हैं :

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते (देवीमाहाम्त्य, ५।१३)।

यह चेतना विष्णु की माया या शक्ति कही गई है। दूसरे शब्दों में, यही पुरुष तत्त्व का चिदंश या प्राणांश है। इसे ही हिरण्यगर्भ, हंस,ब्रह्मा, संवित् आदि कितने ही नामों से भारतीय धर्म में कहा गया है।

इस प्रकार अपरा प्रकृति अर्थात् भौतिक शरीर और उसमें रहने वाला जीव इन दोनों की सम्मिलित संज्ञा क्षेत्र है। यही स्मरणीय है कि इसी क्षेत्र में पंच भूतों के अलावा मन और बुद्धि का भी निवास है, किन्तु वे दोनों भी जड़ और प्राकृत हैं। उनके अतिरिक्त चैतन्य तत्त्व जीव है, यदि जीव न हो तो बुद्धि और मन का सूक्ष्म व्यापार नहीं चल सकता।

गीताकार ने पांचवें श्लोक में अव्यक्त को भी एक तत्त्व माना है और उनको क्षेत्र की परिभाषा में गिना है। वस्तुतः प्रधान या प्रकृति की संज्ञा ही अव्यक्त है। सात आवरणों के रूप में विकसित होने से पहले प्रकृति की जो अमूर्त्त अवस्था है, उसके लिए ही अव्यक्त शब्द है। उसे कभी-कभी अलग तत्त्व ही मान लेते हैं और तब मन को अलग न गिन कर अव्यक्त,

बुद्धि, अहंकार के साथ महाभूतादि २०तत्त्वों को जोड़कर तेईस तत्त्व माने जाते हैं। उनके लिए पुराणों में त्रयोविंशक संज्ञा का प्रयोग पाया जाता है। इसी के साथ २४वां जीव मिलकर चतुर्विंशक तत्त्व हो जाते हैं। उसी में पच्चीसवां ईश्वर भी मिला दिया जाय तो उनकी संख्या पंचविंशक हो जाती है। इस प्रकार तत्त्वों की गिनती के आधार पर सांख्य शास्त्र में कई संज्ञाएं पाई जाती हैं। ये नाम पुराणों में आये हैं और विषय को स्पष्ट करने के लिए छोटे-छोटे शीर्षकों का काम देते हैं। कहा भी है—सांख्यं संख्यात्मकत्वात्, अर्थात् जिस शास्त्र में तत्त्वों का विश्लेषण करके उनकी गिनती कर ली गई हो, उसका नाम सांख्य शास्त्र है।

प्रकृति के सात अवयव और तीन गुण

ऊपर कहा जा चुका है कि बुद्धि, अहंकार और पंच तन्मात्राओं का सप्तक प्राकृत है, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होता है; किन्तु प्रकृति को तो तीन गुणों वाली माना गया है। प्रश्न होता है कि उन तीन गुणों के साथ इन सात तत्त्वों का क्या सम्बन्ध है ? इसका उत्तर नितान्त स्पष्ट रीति से पुराणों में दिया है, वह इस प्रकार है : बुद्धि का सम्बन्ध सत्व गुण से है, अहंकार का रजोगुण से और पंचतन्मात्राओं या पंचमहाभूतों या तमोगुण से। इन्हीं के लिए पुराणों में तीन शब्द और आये हैं : वैकारिक, तैजस और तामस। यहां वैकारिक का अभिप्राय है बुद्धि या मन, तैजस का अभिप्राय है प्राण, और तामस का अभिप्राय है पंच महाभूत। इसी को तालिका-रूप में यों कह सकते हैं :

१. सत्त्व गुण—वैकारिक—बुद्धि या मन

२. रजो गुण—तैजस—प्राण—अहंकार

३. तमो गुण—तामस—पंचमहाभूत या जिन्हें विशेष भी कहते हैं।

बुद्धि का नाम महत् है। चैतन्य पुरुष के भीतर सृष्टि की कामना का उदय, यही बुद्धि तत्त्व या महत् तत्त्व है। प्रजापति की बुद्धि में समस्त सृष्टि का अन्तर्भाव है। बुद्धि के जन्म के साथ ही सृष्टि का जन्म हो जाता है। यह सतोमयी स्थिति है। इसे व्यक्त या प्रकट रूप में लाने के लिए चेष्टा,

क्रिया या रजोगुण की आवश्यकता है। रजोगुण के व्यापार या क्रिया के साथ ही पंचभूत या तामसी सृष्टि बनने लगती हैं। इसे तामसी इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें चेतना को ढक लेने या आवरण कर लेने का गुण है।

अब प्रश्न यह है कि एक ओर प्रकृति का आवरण या तमोगुण है और दूसरी ओर जीव का रजोगुण है। इन दोनों में जन्म भर रस्साकशी हुआ करती है। जीव प्रकृति का अधिकार चाहता है और प्रकृति जीव को अपनी मुट्ठी में रखना चाहती है। इसी कशमकश के कारण इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इन भावों का जीव को अनुभव करना पड़ता है। उसकी विलक्षण स्थिति होती है। प्रकृति के भोग या पंच विषय जब जीव को नहीं मिलते तो दुःख जान पड़ता है, और जब मिल जाते हैं तो पहले सुख, पर पीछे दुःख होता है। क्षणिक बुद्धि से जीव उन्हें पाकर सुख मानता है। यह सुख दो प्रकार का है: एक बाहरी और दूसरा भीतरी। बाहरी सुख तो विषय के स्पर्श से इन्द्रियों को मिलता है, क्योंकि हरएक विषय को भोग करने वाली एक-एक इन्द्रिय प्रकृति की रचना से इस शरीर में विद्यमान है। दूसरा भीतरी सुख अन्तःकरण को प्राप्त होता है। करण का अर्थ है इन्द्रिय और अन्तः-करण का अर्थ है भीतर की इन्द्रिय। वस्तुतः यह अन्तःकरण मन ही है। उसे ही भोगों का सुख मिलता है। इन्द्रियों के भोग तो थोड़ी ही देर के बाद चले जाते हैं, किन्तु मन में अपना संस्कार छोड़ जाते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चारों मन के ही भेद हैं। और इन्हें अहंकार चतुष्टय भी कहा जाता है।

ज्ञान और अज्ञान का विवेचन

इस प्रकार क्षेत्र अर्थात् शरीर और जीव इन दोनों का पारस्परिक द्वन्द्व जब सामने आया तब गीताकार के लिए यह बताना आवश्यक हुआ कि ऐसी कौन सी चित्त-वृत्ति या रहन-सहन है, जिसके द्वारा इन्द्रियों के विषय जीव के ऊपर अपना अधिकार न जमाने पावें। इसी दैवी शक्ति से परिपूर्ण या उत्तम विचारों से भरी हुई रहन-सहन को गीताकार ने पांच श्लोकों में (१३।७—११) बताया है।

उनका कहना है कि ये सद्गुण ज्ञान का रूप है और इसके विपरीत जो जीवन है, वह अज्ञान है।

ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

१. मान या अहंकार का न होना, २. दम्भ या पाखण्ड का न होना ३. अहिंसा, ४. शान्ति या क्षमा, ५. आर्जव या हृदय का सीधापन या कुटिलता का अभाव, ६. आचार्य या गुरुजनों के प्रति उपासना या आदर का भाव, ७. शौच, ८. पवित्रता, ९. स्थिरता या दृढ़ता, १०. आत्म-संयम, ११. इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, १२. अनहंकार अर्थात् अपने बड़प्पन का मद न होना, १३. जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, भोग और दुःख इनमें जो दोष हैं, उनको भली प्रकार समझना, १४. अनासक्ति, १५. पुत्र, स्त्री, घर आदि में बहुत ममता का न होना, अर्थात् इन सबके साथ रहना, किन्तु उनमें लिपटना नहीं, १६. इष्ट और अनिष्ट चाहे जैसी घटना घटित हो उसमें अपने चित्त को सम भाव में रखना, १७. ईश्वर की अनन्य भक्ति, १८. एकान्त स्थान में रहना, भीड़-भड़क्के से अपने को अलग रखना, १९. आत्म-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्न करना, २०. आत्म-दर्शन, २१. तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए रुचि रखना। इन इक्कीस प्रकार के आचार या वृत्तियों को ज्ञान कहते हैं। यह संख्या केवल संकेत मात्र है। इसमें और भी अपनी बुद्धि के अनुसार मनुष्य घटा-बढ़ा सकता है, क्योंकि ज्ञान तो एक विशेष प्रकार के रहन-सहन का नाम है। वह जब मनुष्य में आने लगती है, तो बहुत से सद्गुण अपने भीतर उत्पन्न हो जाते हैं। इसका फल यह होता है कि प्रकृति के विषयों का मनुष्य के मन पर जो धावा है, वह कमजोर पड़ जाता है। और विषयों के प्रति इन्द्रियों का जो खिंचाव है, वह भी वैराग्य से हट जाता है। सच पूछा जाय तो सारे दर्शन का निचोड़ 'इन्द्रियसंयम' ही है।

क्षेत्रज्ञ पुरुष

इस प्रकार क्षेत्र या प्रकृति के विषय में प्रकृति से ऊपर उठने के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन करके गीताकार ने क्षेत्रज्ञ पुरुष के विषय का

संक्षेप में वर्णन किया है कि वह पुरुष ही वस्तुतः ज्ञेय-तत्त्व या जानने योग्य है। प्रकृति को जानने का फल मृत्यु ही है, किन्तु पुरुष को जानने का फल अमृत है। उस तत्त्व को अनादि परब्रह्म कहते हैं। वह सत् और असत् इन परस्पर विरुद्ध कोटियों से ऊपर है। उसे चाहे निर्गुण कहें या गुणों का भोक्ता, वह असत् भी है और सबके भीतर भी है। उसमें सब इन्द्रियों के गुण हैं और किसी भी इन्द्रिय का गुण नहीं है। वह भूतों के भीतर और बाहर व्याप्त है, वह चर और अचर दोनों है, वह दूर भी है और निकट भी है, वह इतना सूक्ष्म है कि जाना नहीं जा सकता। वह प्राणरूप है। अतएव उसके सिर, मुंह, आंखें, हाथ, कान, और पैर सर्वत्र हैं, क्योंकि वह भौतिक देह से परिछिन्न नहीं है, वह सब भूतों में एक, अविभक्त तत्त्व है और भूतों के रूप में अलग-अलग बँटा हुआ है। वह सबको ग्रसनेवाला और सबके ऊपर रहनेवाला तत्त्व है। ज्योतियों की ज्योति और अन्धकार से ऊपर तत्त्व वही है, ज्ञान और ज्ञेय उसी को कहना चाहिए और वही सबके हृदय या भीतरी केन्द्र में स्थित है। इस प्रकार गीताकार ने क्षेत्र अर्थात् प्राकृत शरीर और क्षेत्रज्ञ या पुरुष इन दोनों का स्पष्ट वर्णन किया है।

गीताकार पुरुष और प्रकृति इन दोनों को अनादि तत्त्व मानते हैं; किंतु जितने त्रिगुणमय विकार हैं, वे सब प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। कर्ता, करण और कार्य, यह विभाग भी प्रकृति के कारण ही होते हैं; किन्तु सुख और दुःख, इनका भोग करने वाला पुरुष है, जो प्रकृति के धरातल पर उतरकर प्राकृत गुणों का भोग करता है और जिस-जिस गुण का आश्रय लेता है, उस-उसके अनुसार अच्छी और बुरी चीजों का ज्ञान प्राप्त करता है। मनुष्य-शरीर में रहनेवाला भी पुरुष परमात्मा है। वह महान् ईश्वर है, वही जीवरूप में भोक्ता है, वही ईश्वर रूप में साक्षी है और वही भरण करनेवाला प्राण एवं अनुमति देनेवाला मनस् तत्त्व है। इस प्रकार पुरुष को और प्रकृति को अलग-अलग पहचानना चाहिए।

विवेक का मार्ग

इस प्रकार का विवेक प्राप्त करने के कई उपाय हैं। कोई ध्यान-योग के द्वारा परमात्मा का आत्मा में दर्शन करते हैं, कोई शान्ति के द्वारा और कोई कर्मयोग के द्वारा ईश्वर को जानना चाहते हैं और कोई स्वयं न जानते हुए दूसरों से उसका मर्म जानकर भक्ति के द्वारा ईश्वर की उपासना करते हैं। वे सब वेद के मार्ग का आश्रय लेने के कारण मृत्यु के पार हो जाते हैं। जितने प्राणी चर और अचर रूप में यहां हैं, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से बने हुए हैं। ईश्वर उन सबमें है और चाहे वे नष्ट हो जायं, किन्तु ईश्वर का नाश नहीं होता। जिसकी ऐसी दृष्टि बन जाती है कि कर्म प्रकृति के सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों के कारण होते हैं, वह आत्मा को अकर्त्ता जान लेता है। जब इस प्रकार भूतों के पृथक् भाव को और उनमें व्याप्त ईश्वर को मनुष्य पहचान लेता है तब कर्म करते हुए भी कर्म में लिप्त नहीं होता। इसका उदाहरण सूक्ष्म आकाश है, जो सब जगह होने पर भी किसी बन्धन में नहीं है। ऐसे ही यह आत्मा है, जो सब शरीरों में विद्यमान होने पर भी कहीं भी लिप्त नहीं होता। जैसे एक सूर्य समस्त लोकों को प्रकाश देता है, वैसे एक ईश्वर सब शरीरों में आत्मा रूप से प्रकाश भर रहा है।

चौदहवां अध्याय : तीन गुणों का विवेचन

चौदहवें अध्याय का नाम गुणत्रय विभाग योग है। तेरहवें अध्याय में प्रकृति का परिचय देते हुए बार-बार उसके गुणों का उल्लेख दिया गया है। अतएव तीन गुणों का विवेचन करना आवश्यक था। इस सम्बन्ध में एक मूल बात यह कही गई है कि ईश्वर सृष्टि का पिता है और प्रकृति माता है। लौकिक जीवन की उपमा लेते हुए पिता को बीजप्रद अर्थात् गर्भाधान करने वाला कहा गया है और प्रकृति वह योनि है, जिसमें बीज आधान किया जाता है। वेदों में प्रकृति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता; किन्तु उसके लिए माता, महत् और योनि शब्द आते हैं। जो महत् है वही महिमा या

प्रकृति है, उसे ही विराज् और योनि और माता भी कहते हैं। उसे ही यहां गीता में महद् ब्रह्म कहा गया हैं। यह सुन्दर परिभाषा स्मरणीय है।

ईश्वर के सम्पर्क से जब प्रकृति गर्भित होती है, तो उसमें प्रसुप्त पड़े हुए गुण क्षुब्ध हो जाते हैं। गुणों की साम्यावस्था मूल प्रकृति है। क्षोभ से जब गुणों में वैष्म्य होता है, तो उसे ही विकृति समझना चाहिए। ये गुण सत्त्व, तम और रज कहे जाते हैं। केवल सत्त्व से और केवल तम से, सृष्टि नहीं होती। सत्त्व प्रकाश की संज्ञा है और तम अन्धकार की। ये दोनों गुण एक दूसरे से अलग रहकर सृष्टि नहीं कर सकते। पर जब वे आपस में टकराते हैं तो प्रकाश में अन्धकार और अन्धकार में प्रकाश भर जाता है। दूर क्यों जायं, अपने सामने नित्य होनेवाले रात और दिन के नाटक में प्रत्येक क्षण हमें प्रकाश और अन्धकार के इस पारस्परिक मिश्रण का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। दिन का कोई भी मुहूर्त लें, उसमें कुछ-न-कुछ अंश अन्धेरे का रहता ही है। ऐसे ही रात के हरएक क्षण में अन्धेरे में उजाला मिला हुआ है। वेद की भाषा में इन्हीं को मित्र और वरुण कहते हैं। मित्र प्रकाश की संज्ञा है और वरुण अन्धकार की। मित्र और वरुण के तेज से ही सृष्टि होती है। वह तेज उर्वशी या विराट् प्रकृति में संक्रान्त होता है और उससे मैत्रावारुणि वसिष्ठ का जन्म कहा जाता है। यह वसिष्ठ जीवन का आरम्भ करने वाले मूलभूत प्राण की संज्ञा है। उस प्राण में मित्र और वरुण या प्राणापान, दोनों मिले होते हैं। यहां परिभाषा में कहना होगा कि उस मूलभूत प्राण में सत्त्व और तम् दोनों मिलकर एक नये गुण को जन्म देते हैं, जिसका नाम रजोगुण है। रजोगुण का अर्थ है गति अर्थात् सत्त्व और रज की आपस में टक्कर या दूसरे के प्रति खिचाव, इसके कारण दोनों में से एक भी चैन से नहीं बैठता। दोनों मधु-कैटभ के रूप में आपस में टकराने लगते हैं, तभी सृष्टि सम्भव होती है।

जैसे गीताकार ने कहा है, कर्म की संज्ञा ही रजोगुण है (रजः कर्मणि भारत ! १४।९) इस कर्म का स्वरूप राग या खिचाव है। जबतक एक विन्दु का दूसरे विन्दु के प्रति आकर्षण नहीं होता, तबतक रजोगुण रूपी कर्म की सम्भावना नहीं होती। सत्त्व गुण अपने आनन्द और प्रकाश में

या ज्ञान में अलग रहे तो कोई कर्म सम्भव नहीं होगा। ऐसे ही तमोगुण अपने प्रमाद अन्धकार और मूर्च्छा में अलग रहे तो भी कर्म की प्रेरणा नहीं होगी, किन्तु जब सत्त्व तम की ओर या तम सत्त्व की ओर हाथ बढ़ाता है, तब उन दोनों में एक राग या आकर्षण उत्पन्न होता है। वही दोनों को मिलाने वाला रजोगुण है। उस राग का नाम तृष्णा है (रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवं, १४।७)। यह वस्तु मुझे प्राप्त हो जाय, मेरा केन्द्र दूसरे के साथ जुड़ जाय, इस प्रकार की भावना तृष्णा है। संसार के सभी छोटे-बड़े प्राणी ऐसी भावना से प्रेरित होकर कर्म करते हैं।

तीन गुणों के लक्षण

इस प्रकार तीन गुणों की सरल और स्पष्ट परिभाषा गीता के इस प्रकरण में पाई जाती है। अब आगे और भी स्पष्टता के लिए इन तीनों गुणों के लक्षणों का विवेचन किया गया है। जब सब इन्द्रियों में प्रकाश भरा हुआ जान पड़े और उनमें आत्म-संयम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का अनुभव हो, तो समझना चाहिए कि सत्त्व गुण बढ़ा हुआ है।

जब मन में लोभ उत्पन्न हो, काम की ओर प्रवृत्ति हो, चित्त में शान्ति न हो और उथल-पुथल हो, बाहर की वस्तुओं में स्पृहा या लगाव हो तो समझना चाहिए कि रजोगुण बढ़ा हुआ है।

जब मन में अन्धकार-सा छाया रहे, कुछ भी काम करने को मन न करे, आलस्य और मूर्च्छा जकड़े रहे, तो समझना चाहिए कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

मन की वृत्ति इन्हीं तीन गुणों में रहती है और प्रत्येक व्यक्ति का जन्म भर पीछा करती है। यदि कोई सत्त्व गुण को लिये हुए मृत्यु पाता है, तो दूसरे जन्म में उसे वैसी ही अच्छी परिस्थितियां मिलती हैं, अर्थात् वह निर्मल ज्ञान और अति उत्तम भोगों को प्राप्त होता है। जो रजोगुण के भावों को लेकर शरीर छोड़ता है, वह अगले जन्म में भी कर्म के मार्ग में पड़ता है। जो तमोगुण में डूबा हुआ शरीर छोड़ता है, वह दूसरे जन्म में भी मोहग्रस्त बना रहता है और उसे ऊँचे कर्म या ज्ञान की प्रेरणा नहीं

होती।

जो उच्चकोटि का कर्म है, उसका फल सात्त्विक ज्ञान है। जो निम्न कोटि का तृष्णायुक्त रजोगुणी कर्म है, उसका फल दुःख है, मोह में फँसे हुए तमोगुण का फल अज्ञान ही है। सत्त्व से ज्ञान, रजस् से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं। सतोगुणी व्यक्ति ऊँचे उठते हैं, रजोगुणी बीच में रहते हैं और तमोगुणी नीचे गिरते हैं।

ये तीनों गुण प्रकृति के हैं। इनको जो पहचान लेता है, वह ईश्वर को उनसे अलग जानकर उसे प्राप्त कर लेता है। इन गुणों को जानकर ही यह सम्भव होता है कि व्यक्ति जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु से छूटकर अमृत सुख को पा ले। इस पर अर्जुन ने कामकाजी व्यक्ति का दृष्टिकोण अपनाते हुए बुद्धिमत्ता का प्रश्न किया कि यह कैसे पता चले कि कोई व्यक्ति इन तीनों गुणों के बन्धन से ऊपर उठ गया है।

गुणातीत व्यक्ति के लक्षण

कृष्ण ने भी इस प्रश्न का निखरा हुआ स्पष्ट उत्तर दिया—जो व्यक्ति प्रकाश या सतोगुण, कर्म में प्रवृत्ति या रजोगुण और मोह या तमोगुण के आने पर उनसे घबराता नहीं और उनके हट जाने पर दुःखी नहीं होता, वह मानो इन गुणों से ऊपर उठा हुआ है। गुण जिसमें क्षोभ नहीं उत्पन्न करते, उनके उदय और नाश में जो एक समान रहता है, जो यह समझता है कि गुण अपना काम कर रहे हैं, मैं उनका प्रभाव क्यों पड़ने दूं, वही सच्चा व्यक्ति है। इसलिए ऐसा व्यक्ति दुःख और सुख को एक समान मानने लगता है। वह अपने अन्तरात्मा में स्थिर हो जाता है। उसके सामने मिट्टी का ढेला और सोने की डली बराबर है। वह प्यारे मित्र और शत्रु को एक-सा मानता है। उसके लिए निन्दा और स्तुति बराबर हैं। ऐसे व्यक्ति को हम धीर कहते हैं। मान और अपमान में जो तुल्य रहता है, शत्रु और मित्र में जो अपना सन्तुलन नहीं छोड़ता और कर्म करने की जो भारी प्रवृत्ति है, उससे बचा रहता है, ऐसे व्यक्ति को समझना चाहिए कि वह गुणातीत है। गुणों से मन हटा लेने का प्रभाव व्यक्ति के

जीवन पर यह होता है कि वह अपने मन को ब्रह्मभाव में डाल देता है और अनन्य भक्ति से ईश्वर का चिन्तन करता है। फिर ऐसा क्या है, जो उसे नहीं मिल जाता ? भूतों का क्षर जगत् (ब्रह्मणः प्रतिष्ठा), प्राण का अमृत जगत्, अव्यय पुरुष या मनस् तत्त्व का संसार, इन तीनों से ऊपर पारमेष्ठ्य लोक, जहां समस्त धर्मों का अधिष्ठान है (शाश्वतस्य धर्मस्य), और उससे भी ऊपर जो नितान्त आनन्द का स्वयम्भू लोक है (सुखस्य एकान्तिकस्य), इन पांचों को गुणातीत व्यक्ति अपने जीवन में प्राप्त कर लेता है, अर्थात् इन पांचों की समस्याओं का समाधान उसे प्राप्त हो जाता है। गीताकार ने यहां एक गूढ़ शैली को अपनाते हुए क्रमशः भूतात्मा, प्राणात्मा प्रज्ञानात्मा, महानात्मा (शाश्वत धर्म), अव्यक्तात्मा (एकान्तिक सुख), इन पाँच आत्माओं का वर्णन किया है। ये पांचों प्राकृतिक हैं। इन पाँचों से ऊपर पुरुष या ईश्वर है। इसीलिए भगवान् का कहना है कि मैं इन पांचों की प्रतिष्ठा या आधारभूमि हूं। इनमें भूतात्मा या प्राणात्मा का सम्बन्ध तमोगुण से है। बीच की प्रज्ञानात्मा का सम्बन्ध रजोगुण से है। प्रज्ञान या मन के दो भेद होते हैं। एक को प्रज्ञान और दूसरे को विज्ञान कहते हैं। प्रज्ञान मन नीचे की दो वृत्तियों के साथ मिला रहता है। वह इन्द्रियानुगामी होता है; किन्तु वही जब प्रकाश का अनुगामी बनता है तब उसे विज्ञान मन या विज्ञान बुद्धि कहते हैं। इससे ऊपर महान् आत्मा और अव्यक्त आत्मा सतोगुण से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार प्रकृति के तीन गुण ही प्रत्येक व्यक्ति में इन पांच आत्माओं के धरातल पर प्रकट होते हैं। ये सब प्रकृति के अंश हैं। इन पांचों से ऊपर ईश्वर, चैतन्य पुरुष या क्षेत्रज्ञ है। उसकी ओर मनुष्य का ध्यान तब जाता है, जब वह तीन गुणों के ब्रह्मजाल से अपने आपको ऊपर उठा लेता है।

पन्द्रहवां अध्याय : पुरुषोत्तमयोग

पन्द्रहवें अध्याय का नाम पुरुषोत्तम योग है। पुरुषोत्तम का तात्पर्य है, क्षर पुरुष एवं अक्षर पुरुष से ऊपर ईश्वर पुरुष अर्थात् अव्यय पुरुष। वही तो गीता का लक्ष्य है। अतएव इस अध्याय में पहले संसार-रूपी वृक्ष

की व्याख्या की गई है। इस पांच भौतिक जगत् को क्षर पुरुष या क्षर ब्रह्म कहा गया है। इसका भोग करनेवाला जो जीव है वह अक्षर पुरुष है। क्षर और अक्षर दोनों से ऊपर अव्यय पुरुष या ईश्वर है, उसी की ओर ले जाना इस अध्याय का लक्ष्य है।

सबसे पहले संसार-रूपी अश्वत्थ वृक्ष की व्याख्या की गई है। यही भाव कठ-उपनिषद् में भी आया है। उससे पूर्व स्वयं ऋगवेद में संसार की कल्पना वृक्ष के रूप में की गई है। यह वृक्ष ऐसा है कि जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएं नीचे फैली हुई हैं। यहां ऊर्ध्व का सच्चा अर्थ ब्रह्म या चेतन पुरुष है और अधः का तात्पर्य प्राकृतिक जगत् है। इस संसार-वृक्ष का मूल तो ब्रह्म में ही है। उसका विस्तार अवश्य प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा होता है। यह वृक्ष अव्यय कहा गया है। दार्शनिक करव्यौंत से इसका चाहे जो परिणाम निकाला जाय, किन्तु सच यह है कि जब इस विश्व-वृक्ष की जड़ ब्रह्म में है, तो जबतक वह जड़ हरी रहेगी तबतक इस पेड़ का तना भी हरा रहेगा। यही इसका अव्यय रूप है। कोई नहीं जानता कि कब इसका आरम्भ हुआ और कब अन्त होगा। महाकाल की लपेट में यह अनन्त संसार भी नित्य चला जाता है। जैसे पेड़ में पत्ते होते हैं, वैसे ही इस बड़े संसार रूपी पीपल में जो छन्दों की गति या लय है, वही इसके पत्ते हैं। गति के कारण इसमें नये-नये पत्ते फूटते रहते हैं और लोकों की सृष्टि होती रहती है। यहां यह भी कहा है कि जो इस विश्व-रूपी अश्वत्थ की विद्या को समझता है, वही सच्चा वेदज्ञ है। सीधे अर्थों में वेदविद्या सृष्टि-विद्या का ही दूसरा नाम है। सृष्टितत्व की व्याख्या ही वेदों को इष्ट है। विश्व-रचना के मूल भूत नियम ही वेदों की प्रतीकात्मक भाषा में कहे गये हैं। इन्द्र और वृत्र किसी इतिहास विशेष के प्राणी नहीं। वे तो विश्व की प्राणमयी और भूतमयी रचना के दृष्टान्त हैं। जैसे ऋगवेद में स्वयं कहा है :

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से॥

(ऋगवेद १०।५४।२)

"हे इन्द्र, अपने शरीर को बढ़ा कर, बलों का बखान करते हुए, जो तुम

इधर-उधर विचरते हो, वह तुम्हारे युद्धों का वर्णन माया है। तुम्हारा न कोई शत्रु आज है, न पहले कभी हुआ।" इस प्रकार के वेद के ऋषियों को यह स्पष्ट था कि इन्द्र और वृत्र के युद्धों का वर्णन और इसी प्रकार दूसरे देवों और असुरों का उल्लेख सृष्टि के मूलभूत नियमों का उपाख्यानों द्वारा विवेचन है। अतएव गीताकार का यह वचन यथार्थ है कि संसार-रूपी अश्वत्थ वृक्ष का ज्ञान ही असली ज्ञान है (यस्तं वेद स वेदवित्, १५।१)।

जहां पेड़ होता है, वहां उसकी डालियां और पल्लव फैलते ही हैं। इस संसार-वृक्ष की शाखाएं तीन गुणों के अनुसार ऊपर और नीचे की ओर फैलती हैं, अर्थात् सतोगुण की शाखाएं ऊपर और तमोगुण की नीचे की ओर प्रसार पाती हैं। ऊपर का अर्थ चैतन्य पुरुष और नीचे का अर्थ प्रकृति है। इन्द्रियों के विषय इन्हीं शाखाओं में फुटाव लेने वाले नये-नये पल्लव हैं। जैसे पेड़ में उसकी जटाएं ऊंचे से नीचे की ओर आती हैं, ऐसे ही कर्म मनुष्यलोक में नीचे की ओर फैलकर व्यक्ति को बद्धमूल कर देते हैं।

इस संसार-वृक्ष का सच्चा रूप कोई नहीं जानता। इसका आदि और अन्त नहीं और कहां इसकी जड़ है, ज्ञात नहीं होता; किन्तु इसका मूल कहीं बहुत दृढ़ है। केवल एक ही उपाय से इस वृक्ष को काटा जा सकता है, और वह है असंज्ञ और अनासक्ति का कुल्हाड़ा। मनुष्य अपने मन को संसार के विषयों के पल्लवों से खींच ले तो यह वृक्ष स्वयं ही नास्ति हो जाता है। इसका उपाय है, उस आदिपुरुष परब्रह्म की शरण में अपने आपको ले जाना, जहां से जगत् की यह पुरानी प्रवृत्ति चली है और जहां पहुंचकर फिर लौटना नहीं होता। वह मोक्ष का स्थान ही परमपद है। उस अव्यय स्थान में वे ही पहुंच पाते हैं, जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से छूट गये हैं। उस ब्रह्म-तत्त्व की ज्योति का क्या कहना है! उसके सामने सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि की ज्योति फीकी है। वस्तुतः ऋगवेद में ब्रह्म-तत्त्व की उपमा देने के लिए सूर्य की ज्योति का उदाहरण दिया गया है; किन्तु एक सूर्य क्या, कोटि-कोटि सूर्य भी उसकी तुलना नहीं कर सकते। यह सूर्य तो प्रतीक मात्र है (ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिः, यजुर्वेद २३।४८)।

जीव का स्वरूप

इसके अनन्तर भगवान् ने एक ऐसी बात कही है कि उसमें मनुष्य को सबसे अधिक रुचि हो सकती है, वह जीव का स्वरूप है। मनुष्य को चाहे ईश्वर में विश्वास हो या न हो; किन्तु स्वयं अपनी सत्ता में अविश्वास नहीं होता। गीताकार का कथन है कि पांच इन्द्रियां और छठा मन ये प्रकृति से उत्पन्न हैं। इन्हें ही शरीर कहते हैं (मनः पष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति-स्थानि १५।७); किन्तु यह शरीर जड़ है। इस भारी पुतले को खड़ा रखने वाला जीव है, जो ईश्वर का सनातन अंश है। यह आस्था और यह विश्वास गीता की सबसे बड़ी देन है (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः १५।७)। 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' यह एक छोटा-सा वाक्य अपने अन्तर में कितना महान् तत्त्व लिये हुए है। इसके मूल में कितना गहरा अनुभव है। यह एक ऐसी सच्चाई है, जिसका स्वयं अनुभव करना पड़ता है; किन्तु इससे बढ़कर आशा और विश्वास का दूसरा सन्देश नहीं है। ईश्वर की शक्ति बार-बार जीव रूप में आती और जाती है, मानो वायु एक फूल से दूसरे फूल की गन्ध लेकर बहती हो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन छोटे दिखाई पड़ने वाले पांच विषयों को भोगने के लिए कान, आंख, त्वचा, जिह्वा और नासिका ये पांच इन्द्रियां हैं और इनके साथ छठा मन है। यही तो प्रकृति की बड़ी विभूति है, जिसने जीव को भुलावे में डाल रक्खा है। जो ज्ञानी हैं, वे इनके कार्य को देखते हैं, मूढ़ नहीं देख पाते। किन्तु ईश्वर का तेज अवश्य है और वह सबसे उपर है। उसी के ओज से यह पृथ्वी और पंचभूत टिके हैं। ईश्वर का रूप जो सोम है, वह एक प्रकार का जीवन-रस है। उसी से मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभी उत्पन्न हो रहे हैं और हरे होकर बढ़ते एवं काल पाकर सूख जाते हैं (पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः १५।१२)।

वैश्वानर-विद्या

इसके अनन्तर जीव की ही व्याख्या करते हुए कृष्ण ने एक दूसरी वैदिक परिभाषा का उल्लेख किया है। वह वेद की वैश्वानरी विद्या है :

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(१५।१४)

इसका स्पष्ट अर्थ यों समझना चाहिए—सृष्टि की दो मूल धाराएं हैं, एक सोम और दूसरी अग्नि। सोम ठंडी धारा है और अग्नि गरम धारा है। इन्हें ही ऋगवेद में आपोभूयिष्ठ और अग्निभूयिष्ठ कहा गया है (ऋगवेद १।१६१।९)।

'आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्'। अथर्ववेद में इन्हें ही हिम और घ्रन्स कहा गया है (अग्नी हिमम् घ्रन्सम् च, अथर्व० १३।१।४६)। अग्नि और सोम से ही संसार की रचना हुई है। यहां १३वें श्लोक में सोम और चौदहवें में अग्नि का वर्णन है। गीताकार ने वैश्वानर की स्पष्ट परिभाषा दी है। प्राण और अपान के रूप में जीवनी शक्ति शरीरों में संचार कर रही है। इनका जो सम्मिलित रूप है, वही वैश्वानर अग्नि है। जैसा शतपथ में कहा है, "स एषोऽग्निर्वैश्वानरः यत् पुरुषः (शतपथ १०।६।१।११)। यहां अग्नि को अन्नों का पचानेवाला कहा है, अर्थात् वह अन्नाद है।" तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि अग्नि देवों का जठर है (अग्निर्देवानां जठरम्, तैत्तिरीय २।७।१२।३)। शौनक ने भी इसका स्वरूप यों कहा है :—

तिष्ठत्येष हि भूतानां जठरे जठरे ज्वलन् ।"
(बृहद् देवता १।६५)।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में जो एक सुनिश्चित तापमान है वही इस अग्नि का स्वरूप है। उसी ताप के कारण शरीर के समस्त अवयवों में सिकुड़ने और फैलने की क्रिया हो रही है, जो प्राण का संधमन है। वैसे देखा जाय तो उदर के भीतर कोई अग्नि की ज्वाला नहीं है, किन्तु नाना प्रकार के दाहक और पाचक रसों के रूप में प्रकृति स्वयं उस शक्ति का निर्माण

करती है, जो नाना भांति के खाद्य पदार्थों को पचा डालती है। इस समस्त प्रक्रिया की शक्ति को एक शब्द में कहा जाय तो उसकी संज्ञा वैश्वानर है। आकाश में सूर्य और पृथ्वी पर वैश्वानर ये दोनों एक ही महाशक्ति के दो रूप हैं। इसीलिए ऋगवेद में कहा है, "वैश्वानरो यतते सूर्येण(ऋगवेद १।९८।१)। यह वैश्वानर अग्नि सब प्राणि-जगत् का राजा है (राजा हि कं भुवनानां अभिश्रीः, ऋगवेद १।९८।१)। जहां वैश्वानर की सत्ता है, वहीं सब प्रकार का मंगल है। वैश्वानर बुझ गया तो शरीर राख हो जाता है। इस प्रकार जो वैश्वानर अग्नि तत्त्व है, वही चेतना का सबसे बड़ा लक्षण है, वह साक्षात् ईश्वर का अंश है।

हृद्देश में ईश्वर की सत्ता

इसी के आगे मानो व्याख्या रूप में ही एक तत्त्व और कहा गया है: "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो', अर्थात् मैं सबके हृदय में बैठा हूं। यह वही बात है, जिसे गीता के अन्त में फिर दुहराया गया है:

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (१८।६१)

जीव ईश्वर का अंश है। ईश्वर सबके हृदय में बैठा है। इन दोनों वाक्यों का अर्थ एक ही है। इसे ही उपनिषदों में अंगुष्ठ पुरुष कहा है: 'अंगुष्ठःमात्रपुरुषः जनानां हृदये सन्निविष्टः', (अंगुष्ठमात्रःपुरुषो हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति)। अंगुष्ठ मात्रा का अर्थ सांकेतिक है, अर्थात् वह चेतना अंश जो सबके भीतर विद्यमान है, पर जिसकी कोई मात्रा या माप नहीं। जिसकी माप होती है, वह तो साढ़े तीन हाथ का चाक्षुष पुरुष कहलाता है, उसकी परछाई पड़ती है। अंगुष्ठ पुरुष की कोई परछाई नहीं पड़ती। वह तो निर्धूम अग्नि के समान एक ज्योति मात्र है। हृद्देश का अर्थ भी रक्त का अभिसरण करनेवाला हृदय नामक अवयव नहीं। हृद्देश का अर्थ व्यक्ति का वह केन्द्र है, जो प्रकृति से ऊपर अव्यक्त है, किन्तु प्रत्येक स्थूल देह में रहता अवश्य है, उसी के कारण तो चेतना और प्राण की सत्ता है।

वही चेतन पुरुष स्मृति, अज्ञान और ज्ञान का कारण है। स्मृति आदि के स्थूल उपकरण या अवयव तो शरीर में हैं, जिन्हें हम मस्तिष्क आदि

के रूप में जानते हैं, किन्तु उनका वास्तविक कारण चेतना ही है। यहां वैश्वानर विद्या के सम्बन्ध में बताते हुए गीताकार ने एक पते की बात और कही है :

वेदश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (१५।१५।)

अर्थात् वेदविद्या का एकमात्र सार वैश्वानर पुरुष या चैतन्य का ज्ञान करना ही है। वेद की यह शैली है कि वह प्राकृत भूतों या पदार्थों का वर्णन करते हुए उनमें अनुस्यूत जो देव तत्त्व है, उसी पर बारम्बार दृष्टि ले जाते हैं। भूतों में देव की सत्ता यही वेद के ज्ञान का मर्म है। वह देव तत्त्व ही ईश्वर-तत्त्व है, जिसे अनेक नामों से पुकारा जाता है।

क्षर और अक्षर पुरुष

इसके अनन्तर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीन पुरुषों की व्याख्या जैसी यहां गीता में कही है, वैसी संस्कृत साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलती :

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
(१५।१६)

अर्थात् पंचभूतों की संज्ञा क्षर है और उन भूतों के ढेर या शरीर में रहनेवाला अक्षर कहलाता है। वही जीव है। इस अध्याय का नाम पुरु-षोत्तम योग है। अतएव पुरुषोत्तम की भी व्याख्या स्पष्ट की गई है, अर्थात् क्षर और अक्षर या प्रकृति और जीव इन दोनों से ऊपर जो उत्तम पुरुष अव्यय ईश्वर है, वही परमात्मा है :

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः (१५।१७)।

इसी परिभाषा को और दृढ़ करते हुए लिखा है कि मैं क्षर से भी ऊपर हूं और अक्षर से भी ऊपर हूं। इसीलिए लोक में और वेद में मुझे पुरुषोत्तम कहा है। यह गुह्य शास्त्र मैंने तुम्हें बताया।

सोलहवां अध्याय : दैवी और आसुरी संपद्

सोलहवें अध्याय की संज्ञा दैवासुर-संपद विभाग योग है। इसकी संगति पहले दो अध्यायों के साथ स्पष्ट है, क्योंकि सत्त्व गुणी प्रकृतिवाले व्यक्ति देव और तमोगुणी प्रकृति के असुर होते हैं। अतएव स्पष्ट शब्दों में यह कहना आवश्यक था कि दैवी प्रवृत्ति और आसुरी प्रवृत्ति इन दोनों की अलग-अलग पहचान क्या है ?

दैवी सम्पत्ति के गुण इस प्रकार हैं : अभय, निर्भयता, चित्त की शुद्धि, ज्ञानात्मक दृष्टिकोण में निरन्तर स्थित रहना, दान, इन्द्रिय संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तपश्चर्या, कुटिलता का अभाव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, पिशुनता या चुगलखोरी का न होना, प्राणियों पर दया, लोलुपता का अभाव, मृदुता, मर्यादा की लज्जा, सफलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अतिमान या अहंकार का अभाव। ये दैवी गुण हैं। इनसे व्यक्ति का सतोगुणी प्रभाव पहचाना जाता है।

आसुरी सम्पत्ति के लक्षण ये हैं : "दम्भ, दर्प, अभिमान (अपने ही घमण्ड में चूर रहना), क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान।

दैवी गुणों से मुक्ति और आसुरी गुणों से बन्धन प्राप्त होता है। दैवासुर युद्ध या विरोध की कल्पना ऋगवेद में ही पाई जाती है। वहां समस्त सृष्टि की व्याख्या देवों और असुरों के द्वन्द्व-युद्ध के रूप में की गई है। ज्योति, अमृत और सत्य की संज्ञा देव है। तम, मृत्यु और अनृत असुरों का लक्षण है। ये गुण तो दृष्टान्त मात्र हैं। इनमें चाहे जितने जोड़े जा सकते हैं।

आसुरी लक्षण

यहां सातवें श्लोक से बीसवें श्लोक तक आसुरी गुणों की लम्बी सूची पुनः बताई गई है। जिनका स्वभाव आसुरी है, वे न यह जानते हैं कि क्या करना चाहिए और न यह समझते हैं कि क्या नहीं करना चाहिए। न उनमें पवित्रता का भाव रहता है और न सदाचार के अनुसार जीवन। वे संसार में ईश्वर की सत्ता नहीं मानते और कहते हैं कि इसकी कोई प्रकृति

आधार-शिला भी नहीं है। यहां तो सब व्यवहार झूठ का है। यहां किसी को किसी से कुछ मतलब नहीं। सब अपने-अपने काम की सिद्धि के लिए मतलब रखते हैं। वे संसार में सबका बुरा चेतते हैं। उनकी इच्छाएं कभी पूरी नहीं होतीं। वे बुरी बातों का आग्रह लेकर चलते हैं। वे अपने चारों ओर आशा और कामनाओं का पूरा जाल बुने रहते हैं और सोचते हैं आज यह पा लिया है, कल और यह पा लेंगे। इतना धन आज है, इतना आगे और हो जायगा। आज इसे मार लिया, कल उस शत्रु को साफ करूंगा। मैं सबका मालिक हूं। मैं बलवान् और सुखी हूं। मैं रईस और कुलीन हूं। मेरे जैसा और कौन है ? ऐसे मोह-जाल में वे फंसे रहते हैं और उनका मन अनेक बातों में भागता रहता है। अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध का आश्रय लेकर वे अनेक प्रकार के बुरे कर्मों में लिप्त रहते हैं। जन्म-जन्म में उन्हें आसुरी योनि ही मिलती है। ईश्वर तत्त्व की ओर वे ध्यान नहीं देते। काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं। इनमें अन्धेरा छाया रहता है। इनसे छूटने पर ही मनुष्य अपने कल्याण का आचरण कर सकता है। ऐसे आसुरी लोगों के लिए अच्छा उपाय है कि वे शास्त्र की बात मानकर चलें और अपनी मनमानी न करें।

सत्रहवां अध्याय : तीन प्रकार की श्रद्धा

सत्रहवें अध्याय का नाम श्रद्धा त्रय विभाग योग है। इसका सार यह है कि सत्त्व, रज और तम के अनुसार मनुष्य को कर्म में लगानेवाली प्रेरणा भी तीन तरह की है। मनुष्य का मन जैसा कर्म करना चाहता है, उसी को उसकी श्रद्धा कहते हैं :

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७।३)

संस्कृत में मन को ही सत्त्व कहते हैं। बाण ने कादम्बरी में लिखा है, 'सत्त्वाख्यं ज्योतिः मनः'। प्रत्येक प्राणी के भीतर जो मनरूपी ज्योति है, उसी का नाम सत्त्व है। हरएक प्राणी अपने-अपने सत्त्व के कारण ही

इस संसार में सत्तावान् बनता है। मनुष्यों के स्वभाव और कर्म अनेक प्रकार के हो सकते हैं और होते हैं, किन्तु उनका सामान्य वर्गीकरण सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी, इन तीन भेदों में आ जाता है। इसलिए कुछ प्रधान उदाहरण लेकर गीताकार ने इन तीन गुणों के भेदों के अनुसार आहार, यज्ञ, तप, दान, इन चारों के भेद अत्यन्त स्पष्ट भाषा में बताये हैं। सात्त्विक आहार वह है, जिससे आयुष्य, मानसिक शक्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि होती है। सात्त्विक यज्ञ वह है, जो विधिपूर्वक किसी इच्छा के बिना किया जाता है। तप भी मन शरीर और वाणी के भेद से तीन तरह का है। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, पवित्रता, पूजनीय व्यक्तियों का पूजन, यह शरीर का तप है। किसी का जी न दुःखाना, सत्य और प्रिय वचन कहना और स्वाध्याय करना, वाणी का तप है। मन को प्रसन्न रखना, सौम्य भाव से रहना, मौन, आत्म-संयम और भावशुद्धि, यह मन का तप है। सात्त्विक तप उसे कहते हैं, जो फल की इच्छा के बिना, श्रद्धा से किया जाता है। सात्त्विक दान वह है, जो योग्य पात्र को उचित देशकाल में दिया जाय।

ओम् तत् सत्

इसी प्रकरण के अन्त में 'ओम् तत् सत्' इस प्राचीन वाक्य की अध्यात्म-व्याख्या की गई है। ये तीनों शब्द ब्रह्म के ही वाचक हैं। 'ओम्' भी ब्रह्म है, 'तत्' से भी ब्रह्म का संकेत किया जाता है, और सत्य भी ब्रह्म परक भावों के लिए है। जो लोग ईश्वर और विश्व की सत्ता में विश्वास रखते हैं, जो भगवान् को महा सत्तावान मानते हुए जीवन को भी उसी के अनुसार सत्तायुक्त समझते हैं, उन्हीं के लिए यज्ञ, तप, दान की धार्मिक क्रियाएं हैं।

वेद, यज्ञ और ब्रह्मतत्त्व इन तीनों से मिलकर बनी हुई जो जीवन की सात्त्विक धारा है, वही तो 'ओम् तत् सत्' इस मूल स्रोत से प्रकट हुई है। जो इस धारा को नहीं मानते उनके लिए न ओम का कुछ अर्थ है, न तत् की कोई सत्ता है और न सत् का कोई महत्व है। जिसे दैवी सम्पत्ति या

दिव्य प्रकाश, अमृत और सत्य का मार्ग कहा है, वह सब 'ओं तत् सत्' इस सूत्र में आ जाता है। वही वेदों का सार है। यही जीवन में सद्भाव है। इसके विपरीत जो कुछ है, वह असद् भाव है। असत् में इस लोक में न कोई सार है, न परलोक में।

अट्ठारहवां अध्याय : मोक्ष-संन्यास योग

अठारहवें अध्याय की संज्ञा मोक्ष-संन्यास योग है। कई प्रतियों में मोक्ष योग, संन्यास योग, परमार्थ निर्गुण मोक्ष योग या केवल परमार्थ निर्णय ही कहा गया है। एक प्रति में इस प्रकार पाठ है :

'सर्वकर्मफलत्यागपूर्वकं काम्यकर्मणां सम्यङ् न्यासपूर्वकं सत्त्वरजस्तमो-गुणमयजगद्विवरणपूर्वकं ब्रह्मप्राप्तियोगः ॥'

अध्याय को ध्यानपूर्वक देखने से यही विदित होता है कि यहां अन्त में गीताकार ने संन्यास और कर्मफल-त्याग, इन दो मार्गों के बीच में समन्वय स्थापित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। संन्यास का लक्षण काम्य कर्मों को छोड़ देना है और त्याग की परिभाषा सब कर्मों के फल का त्याग है (१८।२)। इसी बात को कई प्रकार से पहले भी कहा जा चुका है। जो लोग कर्म छोड़कर संन्यास के पक्ष में हैं, उनके लिए भगवान् का कहना है कि यज्ञ, दान, तप जैसे पवित्र कर्मों को छोड़ने से क्या लाभ ? इसलिए इन कर्मों को करते ही रहना चाहिए। केवल उनके फल की आसक्ति से अपने को बचाना चाहिए। यही मेरा उत्तम मत है (१८।६)। कर्म को छोड़ने के दो ही कारण हो सकते हैं : या तो तमोगुणी मोह से अर्थात् आलस्य और प्रमाद के कारण, या कर्मों को शरीर के लिए झंझट समझकर, यह राजस त्याग है, उससे भी त्याग का कोई फल नहीं मिलता। इसलिए जो करना है, उसे करना ही चाहिए, हां, उसके फल में असक्ति न रखनी चाहिए, यही सात्त्विक त्याग है। कोई कितना भी चाहे, सब कर्मों को कैसे छोड़ सकता है (न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः, १८।११)। इसलिए कर्मफल छोड़ने से ही कोई व्यक्ति सच्चा त्यागी कहला सकता है।

कोई भी काम किया जाय, उसके लिए पांच अंग आवश्यक हैं। पहला

कर्त्ता या कर्म करनेवाला, दूसरा अधिष्ठान या शरीर, जिससे कर्म किया जाय, तीसरा कारण, जिसकी सहायता से कर्म किया जाय, चौथा वह चेष्टा जो कर्म का स्वरूप है। ये चारों भी रहें तो भी पांचवां कारण दैवी शक्ति या भाग्य है, जो कर्म को प्रभावित करता ही है। शरीर, मन या वचन से कोई भी कर्म किया जाय, ये पाँचों हेतु अवश्य चाहिए। अब इन पांचों के विषय में ठीक दृष्टिकोण क्या हो सकता है, इसकी स्पष्ट व्याख्या यहां दी गई है।

पहले तो जो व्यक्ति अपने-आपको कर्त्ता मान कर कर्म करते समय अहंकार में भर जाता है, उसका कर्म वहीं बिगड़ जाता है (१८।१६)। मन में अहंकार का भाव न आने पावे और अपनी बुद्धि को उस कर्म-फल में लिप्त न होने दे, वही कर्त्ता ठीक है (१८।१७)।

वस्तुतः किसी भी कर्म के दो अंग होते हैं। पहले कर्म की प्रेरणा मन में आती है और फिर कर्म किया जाता है। पहले अंग को कर्म-चोदना, और दूसरे को कर्म-संग्रह कहा गया है। कर्म की प्रेरणा के भी तीन भाग होते हैं, "एक कर्म के सम्बन्ध में विचार करनेवाला व्यक्ति (परिज्ञाता), दूसरे वह जो विचार करता है (ज्ञान) और तीसरे वह जिस लक्ष्य या उद्देश्य को लेकर विचार करता है (ज्ञेय)। इन तीन अंगों से कर्म की प्रेरणा या भावना का स्वरूप बनता है। उसी प्रकार जो वास्तविक कर्म किया जाता है, उसके भी तीन अंग हैं: एक तो करने वाला (कर्त्ता) दूसरे जो सहायक साधन हैं (करण) और तीसरे स्वयं जो किया जाय, उसका प्रत्यक्ष रूप (कर्म)।

इनमें ज्ञान, कर्म और कर्त्ता सत्त्व, रज और तम् के अनुसार तीन-तीन तरह के हैं।

उत्तम ज्ञान तो वह है, जिसमें कर्म की प्रेरणा या भावना सब प्राणियों में एक ईश्वर की सत्ता मान कर होती है; पर यदि सबको अलग-अलग समझ कर कर्म का विचार किया जाय तो वह रजोगुण है। जो बिना किसी तत्त्वविवेक और बिना हेतु के किया जाय, वह तामस है। जिसमें यह भावना हो कि करनेवाला अपने छोटे से काम में ही सब प्राणियों के हित की बलि देने को तैयार हो जाय, वह भी तमोगुणी है। (कृत्स्नवद-

कस्मिन् १८।२२)।

ऐसे ही कर्म भी तीन तरह के हैं। जो आवश्यक है, जो संग-रहित भाव से किया जाता है, जिसमें राग-द्वेष नहीं होते और जो फल की आसक्ति के विना किया जाता है, वह सात्विक कर्म है। जिसमें अहंकार आ जाय, कामना भी हो, वहुत व्यर्थ परिश्रम भी पड़े और फल थोड़ा निकले, वह रजोगुणी कर्म है। जिस कर्म में हठ, हिंसा या हानि हो और अपनी शक्ति का विचार किये विना जो मोह से किया जाय, वह तमोगुणी कर्म है।

ऐसे ही कर्त्ता भी तीन तरह के समझने चाहिए। जिसमें संग नहीं है, अहंकार नहीं है, जो धृति और उत्साह से रहित है और जो सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्त्ता सात्त्विक विचार का है। हर्ष-वाला शोक से भरा हुआ, लोभी, अपवित्र, हिंसक, आसक्ति-युक्त कर्म फल को चाहनेवाला कर्त्ता रजोगुणी होता है। जो शठ, कपटी, आलसी, घमंडी, सदा रोने-धोनेवाला और काम में ढिल्लड़ हो, वह तमोगुणी कर्त्ता कहलाता है।

इस प्रकार विशुद्ध कर्म की स्थापना के लिए यहां कितनी ही बातें वताई गई हैं, जिनमें कर्म के सम्वन्ध में स्पष्ट विचार करने में सहायता मिलती है और यदि उनके अनुसार ठीक कर्म किया जाय तो वह सच्चा कर्म संभव हो सकता है, जिसके लिए गीता—शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। इसलिए कर्त्ता, कर्म और ज्ञान के त्रिगुणात्मक भेद बताकर मनुष्य की बुद्धि और धृत्ति के भी इसी प्रकार तीन भेद समझाये गये हैं। सात्त्विकी बुद्धि वह है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति को अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना है, अभय और भय को एवं वन्धन और मोक्ष को एक-दूसरे से अलग-अलग पहचानती है। यही उत्तम समझदारी है। राजसी या रजोगुणी समझ वह है, जो धर्म-अधर्म, कार्य और अकार्य का भेद नहीं जानती। तामसी बुद्धि सबसे गईबीती है। वह अधर्म के काम को अज्ञानवश धर्म समझ लेती है और एक सीधी वात को भी उलटे ढंग से सोचती है (सर्वार्थान् विपरीतांश्च, १८।३२)।

धृति चरित्र का वह गुण है, जिसके द्वारा मनुष्य उठाये हुए काम में दृढ़ चित्त रहकर उसे पूरा करता है। धृति भी तीन प्रकार की है : मन, प्राण और इन्द्रियों को एकाग्रता से साध कर जो उन्हें डांवाडोल नहीं होने

देती, वह सतोगुणी धृति है। जो धर्म, अर्थ और काम की बातों को उठाकर या अपनाकर, फल की आसक्ति से प्रवृत्त होती है, वह रजोगुणी धृति है। जिसमें भय, शोक, विषाद, मद भरे हों, वह तामसी धृति है।

संसार में सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं। चाहे वह कर्म के मार्ग से चलें, चाहे संन्यास से। इसलिए सुख के भी तीन भेद बताये गए हैं। जो पहले विष और पीछे अमृत के समान जान पड़े, वह सात्त्विक सुख है। उससे आत्मा और बुद्धि में प्रसन्नता मिलती है। जिसमें इन्द्रियां विषयों का भोग करती हुई पहले सुख मानती हैं और बाद में दुःख उठाती हैं, वह राजस सुख है। जिसमें पहले भी और पीछे भी केवल मोह ही हाथ लगे, वह झूठा तामस सुख है, जैसे निद्रा, आलस्य और प्रमाद की अवस्था में होनेवाला सुख होता है।

पृथ्वी के मनुष्यों में या स्वर्ग के देवताओं में कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जो इन तीन गुणों से छूटा हुआ हो। (१८।४०)।

यहीं गीताकार ने वर्ण, धर्म के अनुसार बंटे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्गों के स्वाभाविक कर्मों का परिगणन किया है। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष के समाज निर्माताओं ने मनुष्यों के स्वभाव और समाज की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर इन चार वर्णों की अवस्था को स्वीकार किया था। वर्णों के निजी कर्म विभाग के कारण एक तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस कर्म को उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और दूसरे, समाज में स्पर्धा द्वारा उत्पन्न होनेवाली अनिश्चित स्थिति भी नहीं होती। शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वर, विश्वास, ये ब्राह्म कर्म हैं, अर्थात् ब्राह्मणत्व के लक्षण हैं। यहां गीताकार ने यज्ञ, स्वाध्याय, ज्ञान आदि लक्षणों को छोड़ दिया है। ऐसे ही शौर्य, तेज, धैर्य, समर में दक्षता, विजय, दान, और राज्य-शक्ति ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। शूद्र का स्वाभाविक कर्म परिचर्या या सेवा है। अपने कर्म से प्रत्येक व्यक्ति की शुद्धि होती है। जिस परमेश्वर ने यह विश्व रचा है और जिसने प्राणियों को बनाया है, उसी एक तत्त्व की उपासना मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों के द्वारा करता है और उनसे एक समान सिद्धि प्राप्त करता है। इन कर्मों में यश उनको करनेवाले वर्णों

में छोटे-बड़े या कम-अधिक का कोई विचार नहीं है। मनुष्य को यह नहीं चाहिए कि अपना कर्म छोड़कर दूसरे के कर्म के लिए भागता फिरे। प्रत्येक के लिए अपना-अपना कर्म हितकर है :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८।४६)

अपने सहज कर्म में कुछ त्रुटि भी जान पड़े तो भी उसे न छोड़ना चाहिए, क्योंकि यहां ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसमें कोई त्रुटि न हो ?

जब कर्म करनेवाला कर्त्ता अनासक्त बुद्धि, जितेन्द्रिय और विगतस्पृह हो जाता है, तो वह भी उसी नई कर्मसिद्धि अर्थात् कर्म न करने की सिद्धि को पा लेता है, जो संन्यास से मिलती है (१८।४९)।

इस सिद्धि को पहुंचकर जो ब्रह्म प्राप्ति की दशा होती है और जो ज्ञान की चरम निष्ठा है, उसमें व्यक्ति की क्या स्थिति होती है, इसको भी कहा गया है। विशुद्ध बुद्धि से आत्मसंयम करके शब्दादि पांच विषयों को दूर हटाकर, राग और द्वेष से मुक्त होकर, एकान्त का सेवन, अल्पाहार, वाणी, शरीर और मन का संयम, वैराग्य भाव की उपासना और सदा ध्यान में प्रीति इन गुणों से व्यक्ति ब्रह्ममूर्त्ति हो जाता है। अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह, इन सबसे बचता हुआ ब्रह्मभूत व्यक्ति अपने आत्मा के आनन्द में किसी बात का शोक नहीं करता और न कोई इच्छा करता है और सब प्राणियों से समान भाव रखता हुआ ईश्वर की परम भक्ति ध्यान में लाता है (१८।५४)।

इस प्रकार चाहे संन्यास हो या कर्मयोग, दोनों का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म-साक्षात्कार ही है और ईश्वर की अनन्य भक्ति से बढ़कर उसका कोई दूसरा उपाय नहीं। जिसे ऊपर कर्मयोग कहा गया है, वही बुद्धियोग है, जिसमें अपने चित्त से सब कर्मों के फल को भगवान् को अर्पण करके अपने मन को ईश्वरमय बनाया जाता है (१८।५७)।

जो ईश्वर-परायण होता है, वह सब कठिनाइयों को पार कर लेता है।

सिद्धान्त रूप से इतना बताकर भगवान ने विशेष रूप से अर्जुन को लक्ष्य करके कहा, "युद्ध तुम्हारा सहज कर्म है, पर अहंकारवश यदि तुम

उससे बचना चाहो तो तुम्हारा ऐसा सोचना मिथ्या होगा, क्योंकि प्रकृति तुमको उसमें लगाकर ही छोड़ेगी। स्वाभाविक निज कर्म से बचकर मोह-वश तुम चाहते हो कि कर्म न करें, तो ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें विवश होकर करना ही होगा। हे अर्जुन ! ईश्वर सबके हृदय में है। वह अपनी मायाशक्ति से प्राणियों को ऐसे घुमाता है, जैसे वे चाक पर चढ़े हुए घूम रहे हों। अतएव सब प्रकार से उसी ईश्वर की शरण में जाओ और स्थायी शान्ति प्राप्त करो। मुझे जो कहना था, वह ज्ञान मैंने तुम्हें बता दिया। अब जैसी इच्छा हो करो (१८।६३)।

एक और बात तुम्हें अपना अत्यन्त प्रिय जानकर कहता हूं। उससे तुम्हारा हित होगा। अपने मन को मुझमें लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे लिए यजन करो और मुझे ही प्रणाम करो तो तुम मेरे समीप आ जाओगे। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। सब धर्मों को छोड़कर केवल-मात्र मेरी ही शरण में आओ। मैं सब पापों से तुम्हारी रक्षा करूंगा। शोक मत करो।"

इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को अपना अन्तिम उपदेश और आश्वासन प्रदान किया।

गीताकार ने इसे धर्मयुक्त संवाद कहा है और गीता को ज्ञान-यज्ञ माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम मानसिक विचारों को देवत्व प्रदान करना चाहें तो गीता के ज्ञानयज्ञ का आश्रय लेना चाहिए। श्रद्धा और ईर्ष्या रहित भाव से ही इस ज्ञानयज्ञ का पूरा फल प्राप्त होता है।

इतना कह कर भगवान् ने अर्जुन से पूछा कि गीताज्ञान के सुनने से तुम्हारा मोह दूर हुआ या नहीं ? इस पर अर्जुन ने निश्चित उत्तर दिया, "हे कृष्ण, आपकी कृपा से मेरा मोह जाता रहा और मुझे ठीक स्मृति प्राप्त हो गई। अब मैं सन्देहरहित हूं और आपके वचन का पालन करूंगा।"

५५ : : भीष्म-युद्ध-वर्णन

(अ० ४३—११७)

गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन युद्ध के लिए तयार हो गया। अब युद्धभूमि में एकत्र हुई दोनों सेनाएं संग्राम के लिए सन्नद्ध डटी हुई थीं। युद्ध आरम्भ होने ही वाला था कि युधिष्ठिर के मन में श्रद्धा का एक भाव जाग उठा। उन्होंने सोचा कि पितामह भीष्म और गुरु द्रोण की अनुमति और आशीर्वाद के बिना युद्ध करना ठीक नहीं। वे रथ से उतर कर पैदल ही, कवच और शस्त्र भी छोड़ कर नंगे पैर कौरव सेना की ओर चले और भीष्म के पास पहुंच कर उन्हें प्रणाम करके युद्ध के लिए उनकी अनुमति और आशीर्वाद मांगा। भीष्म उनके इस भाव से द्रवित हो गये और इस अवसर पर आत्मग्लानि का अनुभव करते हुए उन्होंने कौरवों के पक्ष में अपनी स्थिति का कुछ समाधान रूप में यों कहा, "हे युधिष्ठिर, पुरुष अर्थ का दास होता है, अर्थ किसी का दास नहीं। कौरवों ने मुझे अर्थ के द्वारा बांध लिया है। मुझे तो उनके लिए युद्ध करना ही है, तुम और क्या चाहते हो?" युधिष्ठिर ने कहा, "महाराज, आप अवश्य कौरवों की ओर से ही युद्ध करें, पर यदि आप मेरा हित सोचते हों, तो कृपया बताएं कि आप जैसे अपराजित वीर को हम कैसे जीत सकेंगे?" भीष्म ने कुछ सोचकर स्पष्ट कहा कि जब मैं युद्ध में उतरूंगा तो कोई पुरुष मुझे नहीं जीत सकेगा। इसकी व्यञ्जना युधिष्ठिर ने समझ ली और इसी कारण आगे चलकर शिखंडी को भीष्म के सामने खड़ा किया गया।

इसके बाद युधिष्ठिर द्रोण के पास गये और उन्हें प्रणाम किया। द्रोण ने भी भीष्म के समान ही अपने आपको कौरवों के पक्ष में अर्थ के द्वारा बंधा हुआ कहा, किन्तु यह आश्वासन दिया कि भले ही मैं कौरवों की ओर से लड़ूं, पर विजय तुम्हारी ही चाहता हूं। इसके बाद उन्होंने कृपाचार्य के पास जाकर उनका भी अशीर्वाद प्राप्त किया और फिर अपने मामा मद्रराज शल्य को प्रणाम करके युद्ध की आज्ञा चाही।

महाभारत के वर्तमान संस्करण में यहां एक इतना मोड़ और पाया

जाता है कि इसी बीच में कृष्ण ने भी कर्ण के पास जाकर उससे पाण्डवों के पक्ष में आने का अन्तिम अनुरोध किया, "हे कर्ण, मैंने सुना है कि भीष्म की खीज से तुम उनके जीतेजी युद्ध नहीं करोगे। अतएव जबतक भीष्म मारे नहीं जाते तबतक के लिए तुम हमारे पक्ष में आ जाओ, फिर दुर्योधन के पक्ष में चले जाना।" पर कर्ण तो दूसरी ही मिट्टी का बना था। उसने स्पष्ट कहा, "मैं दुर्योधन का अनहित नहीं करूंगा। उसके हित में ही मेरे प्राणों को गया हुआ समझो।"

तब सेना के बीच में खड़े होकर युधिष्ठिर ने आवाज लगाई, "जो हमारे पक्ष में लड़ना चाहें, वे हमारी ओर आ जायं।" और किसी पर तो इसका प्रभाव नहीं हुआ, केवल युयुत्सु कौरवों का पक्ष छोड़कर पाण्डवों की ओर आ गया। सबने अपने कवच पहने और युद्ध के लिए अनेक प्रकार की दुन्दुभियां और शंख बज उठे। दोनों सेनाओं में कड़खा गाया जाने लगा और तुमुल युद्ध आरम्भ हो गया। सर्वप्रथम भीष्म अपने धनुष को टंकारते हुए अर्जुन की ओर बढ़े और उसपर प्रहार किया। अर्जुन ने भी अपने गाण्डीव से उनका उत्तर दिया।

भीष्म ने पाण्डवों से दस दिन तक युद्ध किया। संक्षेप में, पहले दिन एक पक्ष के चुने हुए सैनिकों का दूसरे पक्ष के वैसे ही मुड्ढ सैनिकों के साथ द्वन्द्व-युद्ध हुआ। फिर कौरव सेना और पाण्डव सेना परस्पर घमासान युद्ध करने लगीं। इसी दिन अभिमन्यु ने भीष्म के साथ भयंकर युद्ध किया। शल्य ने भी कुछ पराक्रम दिखाया और विराट के पुत्र उत्तर कुमार का वध कर डाला। तब पाण्डवों की ओर से विराट के दूसरे पुत्र श्वेत ने महा भयंकर युद्ध किया। पर वह भीष्म के प्रचण्ड बल के सामने न ठहर सका और मारा गया। तब विराट के तीसरे पुत्र शंख ने अपने दोनों भाइयों के वध से दुःखी होकर भीष्म पर प्रहार किया। यों पहले दिन का युद्ध समाप्त हुआ।

पहले दिन के युद्ध में अपने पक्ष की हानि देखकर युधिष्ठिर को चिन्ता हुई, तब कृष्ण ने उन्हें धैर्य दिया। धृष्टद्युम्न ने उत्साह-पूर्वक पाण्डवों की ओर से दूसरे दिन क्रौञ्चारुण व्यूह का निर्माण किया। इस दिन भीष्म और अर्जुन का युद्ध तथा धृष्टद्युम्न और द्रोणाचार्य का भयंकर युद्ध हुआ। भीमसेन ने भी कलिंग और निषादों की सेना से युद्ध किया।

तीसरे दिन दोनों पक्ष अपनी-अपनी सेनाओं की व्यूह-रचना करके संग्राम करने लगे। पाण्डव-पक्ष के लोगों ने ऐसा पराक्रम दिखाया कि कौरव सेना में भगदड़ मच गई। तब दुर्योधन ने भीष्म के पास जाकर उन्हें उलाहना दिया कि आपकी छिपी हुई सहानुभूति पाण्डवों की ओर है। इसे अन्यथा सिद्ध करने के लिए भीष्म ने अद्‌भुत पराक्रम प्रकट किया, यहां तक कि कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा भूलकर भीष्म को मारने के लिए रथ-चक्र लेकर दौड़े। अर्जुन भी वीररस में आ गये और उनके द्वारा उस दिन कौरव सेना की पराजय हुई।

तीसरे दिन का उफान अपने वेग पर था और चौथे दिन प्रातः काल से ही सेनाएं व्यूह रचकर खड़ी हुईं तो भीष्म और अर्जुन का द्वैरथ युद्ध आरम्भ हो गया। अभिमन्यु और धृष्टद्युम्न ने भी पराक्रम किया; पर इस दिन सबसे अधिक भीमसेन ने गज सेना का संहार करके एवं भीष्म के साथ भी युद्ध में अपने बल का परिचय दिया। घटोत्कच ने भी अपना बल दिखाया। चौथे दिन युद्ध का झुकाव कौरवों के विरुद्ध रहा।

पांचवें दिन दुर्योधन बहुत घबराया हुआ था। कौरवों की सेना ने मकर व्यूह रचना की। पाण्डवों ने श्येन व्यूह रचकर उसका उत्तर दिया। युद्ध में पहले भीष्म और भीमसेन और फिर भीष्म और अर्जुन के बीच घनघोर युद्ध हुआ। बीच-बीच में और भी योद्धाओं ने द्वन्द्व-युद्ध में भाग लिया, जैसे—विराट और भीष्म, अश्वत्थामा और अर्जुन, दुर्योधन और भीमसेन तथा अभिमन्यु और लक्ष्मण (दुर्योधन का पुत्र)। इन्होंने आमने-सामने डटकर संग्राम किया। सात्यकि और भूरिश्रवा जो चौथे दिन के युद्ध में मुठभेड़ कर चुके थे, आज भी पुराने वैर को साधने पर उतर आये और भूरिश्रवा ने सात्यकि के दस पुत्रों का वध कर डाला। उत्तप्त होकर अर्जुन ने भी अपना पराक्रम दिखाया।

छठे दिन दोनों सेनाओं के वीर बराबरी के उत्साह से भरे हुए थे। उस दिन पाण्डव सेना ने मकर व्यूह और कौरव सेना ने क्रौञ्चव्यूह बनाया। धृष्टद्युम्न और द्रोणाचार्य दोनों में खुलकर युद्ध हुआ। भीमसेन और दुर्योधन भी एक-दूसरे से घमासान युद्ध करने लगे, पर दुर्योधन की पराजय हुई। इसी दिन अभिमन्यु ने अन्य द्रौपदी पुत्रों के साथ मिलकर

धृतराष्ट्र के पुत्रों से युद्ध किया।

सातवें दिन कौरव सेना ने मण्डल व्यूह और पाण्डव सेना ने वज्र व्यूह बनाकर भीषण संग्राम किया। द्रोणाचार्य को विराट ने ललकारा। तब विराट का पुत्र शंख, जो पहले दिन के युद्ध में भीष्म से लड़ चुका था, द्रोण के सम्मुख आया, पर वह जूझ गया। तब शिखंडी और अश्वत्थामा, सात्यकि और अलम्बुष, धृष्टद्युम्न और दुर्योधन एवं भीमसेन और कृतवर्मा इन वीर योद्धाओं में परस्पर संग्राम हुआ। इसी दिन भगदत्त के सामने घटोत्कच की पराजय हुई। नकुल और सहदेव ने मद्रराज शल्य पर विजय प्राप्त की। युधिष्ठिर ने भी राजा श्रुतायु से युद्ध करके उसे पराजित किया। भूरिश्रवा से धृष्टकेतु और अभिमन्यु से चित्रसेन पराजित हुए। इस दिन के युद्ध की एक बड़ी घटना त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा का, जो संशप्तक गणों का भी नेता था, अर्जुन के साथ युद्धारम्भ करना था। उसकी बहुत इच्छा थी कि अर्जुन को युद्ध में जीतूं; पर अर्जुन के पराक्रम के सामने वह न ठहर सका। इसी दिन भीष्म और युधिष्ठिर का भी युद्ध हुआ।

आठवें दिन दोनों सेनाओं के घमासान युद्ध के अतिरिक्त मैदान घटोत्कच के हाथ रहा। उसने दुर्योधन एवं द्रोण आदि प्रमुख वीरों के साथ भयंकर युद्ध किया। उसकी माया से मोहित होकर कौरव सेना भागने लगी। तब भीष्म की आज्ञा से भगदत्त ने घटोत्कच को युद्ध में रोका। भगदत्त ने भीमसेन के साथ भी घोर युद्ध किया। अभिमन्यु ने अम्बष्ठ राजा के साथ घोर युद्ध किया।

आठवें दिन की भयानक स्थिति से चिन्तित होकर दुर्योधन ने भीष्म से कहा, "पितामह, ऐसे कबतक काम चलेगा ? या तो आप स्वयं पाण्डवों को मारिए या कर्ण को युद्ध के लिए आज्ञा दीजिए।" भीष्म ने दुर्योधन को समझाया और स्वयं भयंकर युद्ध करने की प्रतिज्ञा की। दिन के पहले भाग में पाण्डवसेना प्रबल रही। द्रौपदी के पांचों पुत्र और अभिमन्यु ने एक साथ राक्षसराज अलम्बुष के साथ युद्ध करके कौरव सेना को युद्ध-भूमि से खदेड़ दिया। इधर, अर्जुन ने भीष्म के साथ और सात्यकि ने कृपाचार्य, अश्वत्थामा और द्रोण के साथ युद्ध किया। अर्जुन ने भी द्रोण और त्रिगर्त-राज सुशर्मा के साथ संग्राम किया। अर्जुन के द्वारा त्रिगर्त सेना की परा-

जय हुई। इधर, अभिमन्यु से चित्रसेन, द्रोण से द्रुपद और भीमसेन से वाल्हीक की हार हुई। युधिष्ठिर और नकुल, सहदेव ने शकुनि की घुड़सवार सेना को हराया और फिर वे सब मद्रराज शल्य की सेना पर टूट पड़े। यह सब देखकर भीष्म ने इस दिन अपने पराक्रम का पूरा प्रयोग करते हुए घोर युद्ध किया और पाण्डव सेना में भगदड़ मच गई। कृष्ण इसे सहन न कर सके और रथ से कूदकर क्रोधपूर्वक भीष्म की ओर दौड़े। उन्हें सन्देह था कि अर्जुन पूरे मन से युद्ध नहीं कर रहा है। अर्जुन ने आगे बढ़कर कृष्ण को रोकते हुए उन्हें उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाया और यह आश्वासन दिया कि वे स्वयं अपने बल का पूरा प्रयोग करते हुए भीष्म को जीतेंगे।

रात में पाण्डवों की गुप्त मंत्रणा हुई। अगले दिन जब दोनों पक्ष की सेनाएं तैयार हो गईं तो अर्जुन ने शिखंडी को आगे करके भीष्म पर आक्रमण कराया। दोनों पक्ष के महारथी घोर युद्ध करने लगे, किन्तु शिखंडी की आड़ लेकर अर्जुन ने अपने बाणों से भीष्म को बींधकर रथ से गिरा दिया। भीष्म युद्धभूमि में शर-शया पर स्थित होकर प्राण-त्याग के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा करने लगे। इस प्रकार भीष्म के सेनापतित्व में दस दिन का युद्ध समाप्त हुआ।

(भीष्म-पर्व समाप्त)

द्रोण-पर्व

यह महाभारत का सातवां पर्व है, जिसमें विशेषतः युद्ध की कथा ही वर्णित है। धर्म और नीति-विषयक सामग्री का इसमें प्रायः अभाव है। बम्बई-संस्करण में २०२ अध्याय हैं और पूना के संशोधित संस्करण में केवल १७३ हैं। इनमें लोक-प्रचलित संस्करणों के २० अध्याय (५२—७१) काश्मीर की पोथियों में नहीं हैं और वे प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं। इनमें मृत्यु का उपाख्यान, (५२—५४), संजय और उसके पुत्र स्वर्णष्ठीवी का उपाख्यान

(५५) और शोणसराजकीय प्रकरण (५६—७१) यहां द्रोण-पर्व में आगन्तुक ज्ञात होते हैं, क्योंकि यही सामग्री शान्ति पर्व अध्याय २९-३१, २४८—५० में भी आई है।

इस पर्व के मुख्य उपपर्व इस प्रकार हैं :

१. द्रोणाभिषेक १—१५
२. संशप्तक-वध १६—३१
३. अभिमन्यु-वध ३२—५१
४. अर्जुन-प्रतिज्ञा ५२—६०
५. जयद्रथ-वध ६१—१२१
६. घटोत्कच-वध १२२—१५४
७. द्रोण-वध १५५—१६५
८. नारायणास्त्र-मोक्ष १६६—१७३

५६ : : द्रोणाभिषेक पर्व

(अ० १—१५)

जब दस दिन तक युद्ध करने के बाद भीष्म धराशायी हो गये तब कौरवों के सामने नया सेनापति चुनने का प्रश्न आया। इसमें कर्ण ने प्रस्ताव किया कि द्रोणाचार्य को सेनापति बनाया जाय। दुर्योधन ने द्रोण से प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार किया और उनका अभिषेक कर दिया गया। यहां उल्लेखनीय है कि जब भीष्म जैसे महारथी युद्ध में असमर्थ हो गये तो कर्ण के मन पर सबसे अधिक चोट लगी और उसने उचित समझा कि युद्ध-भूमि में पड़े हुए भीष्म से परामर्श किया जाय। वह उनके पास गया और भीष्म ने यही कहा कि नया सेनापति चुनकर युद्ध जारी रखना चाहिए, क्योंकि नायक के बिना सेना क्षण भर भी नहीं संभल सकती (न विना नायकां सेना मुहूर्तमपि तिष्ठति, ५—८)। यहां यह उल्लेखनीय है कि

कौरवों और पाण्डवों के सेना का जो वंटवारा हुआ था, उसमें मध्य देश के क्षत्रिय, जो ययाति के पुत्र पुरु के वंशज थे, प्रायः पाण्डवों की तरफ रहे। ययाति के पुत्र यदु, जिनमें सौराष्ट्र-गुजरात के वृष्णि, अन्धक आदि यादव क्षत्रिय थे, कृष्ण के द्वारा पाण्डव पक्ष में लड़े। इनके अतिरिक्त ययाति के तीन पुत्र तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु थे। इनके वंशज प्रायः कौरवों के पक्ष में गये। अनु के वंशज आनव दो भागों में बंट गये, पश्चिमी आनव पंजाब में और पूर्वीबिहार-बंगाल में फैले। मद्र, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, शिवी, सौवीर, शूद्र आदि आनव दुर्योधन की ओर थे तथा ययाति के दूसरे पुत्र द्रुह्यु ने गान्धार, वाह्लीक और कम्बोज तक अपने राज्य का विस्तार किया और उत्तर-पश्चिम के शक-यवन भी उसी के साथ हो गये। ये उत्तर पश्चिम के वीर लड़ाके कौरवों के साथी वने। इसके अतिरिक्त ययाति का पांचवां पुत्र तुर्वसु था, जो पश्चिम की ओर अज्ञात रूप में चला गया था, पर कालान्तर में उसी के वंश में सुदूर दक्षिण के केरल, चोल और पाण्ड्य नाम के राजा हुए। वे भी दुर्योधन के पक्ष में ही लड़े। पूर्वी आनव बिहार-बंगाल में फैले और उनके वंशजों ने पांच राज्य स्थापित किये। अंग (पूर्वी बंगाल) वंग, कलिंग, पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल), सुम्ह (पश्चिमी बंगाल)। इनमें कर्ण अंग देश का अधिपति था। ये लोग भी कौरव पक्ष में ही आये। इस प्रकार देखा जाय तो उस समय के अधिकांश क्षत्रिय और राज्य दुर्योधन की नीति के पक्षपाती थे। यह कृष्ण का ही व्यक्तित्व था, जिसने कीर्ति और बल से पाण्डव पक्ष को संगठित किया और कंस, शिशुपाल, जरासन्ध एवं मध्य राजस्थान के सौभपति, शाल्व, इन चार कण्टकों को हटा कर मध्य देश का ठोस बिचला भाग पाण्डवों के पक्ष में कर दिया।

५७ : : संशप्तकवध पर्व

(अ० १६—३१)

ये त्रिगर्त देश (वर्तमान कुल्लू-कांगड़ा) के राजा थे। इनका अर्जुन के साथ घोर संग्राम हुआ और अर्जुन ने उनकी सेना के अधिकांश भाग का वध कर दिया। संशप्तक गणों ने अर्धचन्द्र व्यूह बनाकर युद्ध किया। पाण्डवों की ओर से उनसे युद्ध करने वाली सेना को गोपाल नारायण कहा गया है, अर्थात् यह भगवान् कृष्ण की वह सेना थी, जो गोपालगिरि या ग्वालियर के प्रदेश में एकत्र की गई। वह प्राचीन कुन्त (कोंतवार) प्रदेश था। इस उपपर्व में प्रायः युद्ध-जनित संहार का वर्णन है, किन्तु अध्याय २२ में धृतराष्ट्र ने संजय को बीच में रोककर योद्धाओं के रथ आदि के विषय में विशेष रूप से जानना चाहा। इसी प्रसंग में कथाकार ने ५० प्रकार के घोड़ों का नामोल्लेख किया है, जिसका आधार उनके भांति-भांति के रंग थे। अवश्य ही यह वर्णन गुप्त युग का ज्ञात होता है। उस समय भारतीय सेना का पुनः संगठन गुप्त सम्राटों ने घुड़सवार पल्टनों को रख कर किया और अश्वसेनाओं को सबसे अधिक महत्त्व दिया। वस्तुतः पहली और दूसरी शती में विक्रान्त शक सेना में घुड़सवार पल्टनें ही मुख्य थीं। शकों की इस युद्ध-कला को भारतीयों ने भी सर्वथा अपना लिया। कालिदास ने रघुवंश के चौथे सर्ग में सरपट चलती हुई इन सेनाओं का बहुत अच्छा चित्र खींचा है। उस समय कम्बोज (मध्य एशिया), वाह्लीक (वल्ख), दरद्-काश्मीर, गान्धार, वनायु, उत्तर पश्चिम की वना घाटी आदि स्थानों से वहां के व्यापारी बढ़िया नस्ल और रंगों के घोड़े भारतवर्ष में लाकर बेचते थे। इसका कुछ उल्लेख बाण ने हर्षचरित में किया है। बाण की सूची में वनायु, कम्बोज, सिन्धु आदि देशों के अतिरिक्त, सासानी ईरान देशों के घोड़ों का वर्णन है, जिनका उल्लेख कालिदास ने भी पार्शिकों के वर्णन में किया है (पाश्चात्तै अश्व साधनैः, रघु० ४।७)।

गुप्त-युग के साहित्य में द्रोण-पर्व का यह वर्णन नितान्त मौलिक और अनूठा है। किसी प्रतिभाशाली कवि ने अपने समकालीन वर्णक साहित्य

से इस प्रकार के रंगों और नामों का संग्रह करके उसे लगभग साठ श्लोकों में यहां संगृहीत कर दिया है। यह घोड़ों का व्यापार करने वाले सार्थवाहों की क्रोड़पत्रिका सी जान पड़ती है। इससे मिलती-जुलती और ऐसी ही विचित्र अन्य सूची दण्डि की अवन्ति-सुन्दरी नामक सातवीं सदी की रचना में है (पृष्ठ ९०-९४)। उसका भी आधार कोई ऐसा ही वर्णक रहा होगा। यह उल्लेखनीय है कि चौथी से सातवीं शती तक ही ३०० वर्षों तक घोड़ों की शब्दावली ठेठ भारतीय और संस्कृत प्रधान थी, किन्तु आठवीं शती के आरम्भ से अरब देश के सौदागर भी घोड़ों की तिजारत में हिस्सा लेने लगे और राष्ट्रकूट राजाओं ने इस विषय में उनको बहुत-सी सुविधाएं दीं। फलतः आठवीं शती के मध्य भाग से अरबी भाषा के नाम भी जैसे बोल्लाह आदि भारतीय बाजारों में चालू होने लगे। अगले तीन सौ वर्षों में स्थिति ऐसी हो गई कि भारतीय शब्दावली प्रायः जाती रही और उसके स्थान में अरबी के नाम ही चल पड़े, जैसा मानसोल्लास और हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि कोश से ज्ञात होता है। अतएव यह और भी भूमिका का विषय है कि द्रोण-पर्व के इस प्रकरण से उस युग की ठेठ भारतीय शब्दावली का एक उज्ज्वल चित्र हमारे सामने आ जाता है।

कहा गया है कि भीमसेन के घोड़े हिरन के रंग के थे (ऋश्य वर्ण)। यह वही था, जिसे सुतली रंग कहते हैं। सैनेह सात्यकि के घोड़ों का रंग चांदी जैसा था (रजतास)। इसे आजकल नुकरह कहा जाता है। बाण ने इसे ही श्वेत और दण्डी ने कर्क रंग कहा है। दण्डी के अनुसार कर्क रंग के घोड़े सिन्धु देश से आते थे, जो पंजाब का सिन्धुसागर इलाका था और जहां आज भी घोड़े पालने की बड़ी-बड़ी तलवण्डियां हैं। इस रंग को आज-कल नीला सब्जा कहते हैं। नकुल के घोड़े कम्बोज देश से लाये गए थे, जिनका रंग सुआपंखी (शुक पत्र परिच्छयः) था। इसे ही बाण ने हरित-रंग कहा है, जो अंग्रेजी में 'चेस्ट नट' कहलाता है। दण्डी ने कम्बोज के घोड़ों को शोण रंग का कहा है। सहदेव के घोड़े कृष्ण रंग के थे, जिसकी पहचान वर्तमान मुश्की से की जा सकती है। युधिष्ठिर के घोड़े सुनहले रंग के थे। मत्स्यदेश के राजा के अश्वों का रंग पाटल पुष्प के समान चटकीला लाल था। दण्डी ने रक्त पाटल, सुमना पाटल, गुञ्ज पाटल (घुमची के

समान लाल), तिमिस पाटल, और हरित पाटल इन पांच तरह के पाटल रंगों का उल्लेख किया है। विराट के पुत्र उत्तर के घोड़े हल्दी के रंग के थे। दण्डी ने इन्हें सोनजुही के रंग का कहा है, जो गान्धार और यवन देश से लाये जाते थे। केकय देश के राजकुमारों के पास बीरवहूटी के जैसे चटकीले लाल रंग के घोड़े थे, जिनकी पहचान दण्डी के गुंजपाटल घोड़ों से की जा सकती है, जो काश्मीर देश से लाये जाते थे। शिशुपाल के पुत्र नरसिंह के पास सारंग सवल या गुल्दार घोड़े थे। संभवतः इन्हें ही वाण ने कीर्त्तिका-पिञ्जर कहा है। किसी भी रंग का घोड़ा, जिसकी जिल्द पर सफेद चित्तियां हों, जैसे सफेद तारे बिखरे हुए हों, कीर्तिका-पिञ्जर कहा जाता था।

चेदि देश के राजा के पास भी शवलित रंग के काम्वोजी घोड़े थे। ज्ञात होता है कि कम्वोज देश से सुआ-पंखी, समन्द, चितकबरे इस प्रकार कई रंगों के घोड़ों का आयात होता था। केकय देश के अधिपति बृहतक्षेत्र के पास अपने ठीक पश्चिम में सिन्धु सागर दोआब में तैयार होने वाले सैन्धव घोड़े थे, जिनका रंग धुमैले वर्ण का था (पलालधूम्र वर्ण)। शिखण्डी के पुत्र क्षात्रदेव के पास वासल्क देश के घोड़े थे, जिनका रंग लाल कमल जैसा और जिनकी आंखों में सफेद रंग के डोरे थे, जिसके कारण उन्हें मल्लिकाक्ष कहा जाता था। वाण ने भी इनका उल्लेख किया है। कुछ घोड़े क्रोञ्च वर्ण के (क्रौञ्च नामक हंस जातीय पक्षी जैसे श्वेत), कुछ शरीर के श्वेत गरदन में काले (कृष्णक ग्रीव), कुछ उर्द के फूल जैसे पीले रंग के थे; संभवतः इन्हें ही दण्डी ने सिद्धार्थ कहा है। घोड़ों के रंगों की सूची में कुछ और नाम इस प्रकार हैं :

सालवृक्ष के पुष्पों का रंग, मोर की ग्रीवा जैसा नीला रंग, (दण्डी ने इन्हें इन्द्र नील के रंग का कहा है), नीलकण्ठ के पंख जैसा रंग (चासपत्र-नील), पीला (पिसंग), पयार के डंठल जैसा, पलाण्डु वर्ण, सुनहला (हेमवर्ण), कबूतरी रंग (पारावत सवर्ण), भूरा रेशमी (वभ्रु कौशेय), इन्द्र धनुष जैसा रंगबिरंगा (इन्द्रादि सवर्ण) चितकबरा, (करवुर), कमल-नाल जैसा हरा, (पुष्कर नाल समवर्ण), सरसों के फूल जैसा पीला (सरषप पुष्प तुल्य वर्ण), सफेद धारियों से युक्त, मकड़ा जैसा ललछौंह,

उर्द के रंग जैसा सही मायल हरा (माष वर्ण), सरकण्डे के समान सफेदी लिये हुए पीला, लाल कमल जैसा (पद्म किञ्जल्क वर्ण), नीले कमल सदृश्य (नीलोत्पल सवर्ण), मटर के रंग जैसे सफेदी युक्त ललछौंह (कलाय पुष्परंग श्वेत), लोहित टेसू के फूल जैसा (किंशुक पुष्प तुल्य वर्ण), कमल के पत्ते जैसा (काही), पुष्कर वर्ण तुल्य वर्ण, अड़ूसे के फूल जैसा श्वेत (आटरुचक पुष्प आभाः) इत्यादि। इनके अतिरिक्त ऐसे आकाशी नीले रंग का भी उल्लेख है, जिसमें तारे बिखरे हुए हों (तारका चित्रित अन्तरिक्ष सवर्ण)। यह बाण के कृत्य का पिञ्जर रंग से मिलता हुआ ज्ञात होता है। एक दूसरे रंग की तुलना उस रेशमी वस्त्र से की गई है, जिस पर सुनहली बूंदें छिटकी हुई हों (रुक्म पृष्ठा वकीर्णं कौशेय सदृश्य)। दण्डी ने भी हूबहू इसी रंग के घोड़ों का उल्लेख किया है, जो गान्धार देश से लाये जाते थे (निष्टप्त सुवर्ण निर्मित पीत कौशेय सन्निभ) इस प्रकार अनेक रंग और रंगतों से युक्त अच्छी नस्ल के घोड़ों के लक्षणों की पहचान गुप्त-युग की संस्कृति का विशेष अंग था।

५८ : : अभिमन्युवध-पर्व

(अ० ३२—५१)

बीस अध्यायों में यह महाभारत का प्रसिद्ध उपपर्व है। जब दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को लड़ाई को कुछ ढील देने का उलाहना दिया तो द्रोणाचार्य ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करने के लिए फाड़ बांधा एवं चक्रव्यूह की रचना की। युधिष्ठिर के रोकने पर भी अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को तोड़ने की प्रतिज्ञा कर ली और वह कौरवों की चतुरंगिणी सेना का वध करता हुआ चक्रव्यूह की ओर बढ़ा। उसका पराक्रम देखकर द्रोणाचार्य भी चकित हो गये।

दुःशासन और कर्ण भी उसका मार्ग नहीं रोक सके, यहाँ तक कि

अभिमन्यु ने कर्ण के भाई का भी वध कर दिया। अभिमन्यु के साथ जो पाण्डव थे, उन्हें जयद्रथ ने रोक दिया और व्यूह-द्वार की रक्षा करने लगा किन्तु उसे भी हटा कर अभिमन्यु चक्रव्यूह में घुस गया। वहां उसने अनेक योद्धाओं के साथ युद्ध किया। दुर्योधन भी उसके सामने नहीं ठहर सका और उसका पुत्र लक्ष्मण भी अभिमन्यु द्वारा मारा गया। तब छः महा-रथियों ने उस अकेले वीर को घेर लिया। अभिमन्यु फिर भी डरा या हटा नहीं और अपने विचित्र क्षात्र तेज से अकेला उन छहों से युद्ध करता हुआ खेत रहा। इस प्रकार युद्ध के तेरहवें दिन पाण्डव-पक्ष का एक अद्‌भुत् वीर काम आ गया।

अभिमन्यु का वध पांडवों के लिए साधारण घटना न थी। जैसे ही युधिष्ठिर ने यह समाचार सुना, वे अत्यन्त विलाप करने लगे।

इसके बाद ही महाभारत के लोक प्रचलित संस्करण में व्यासजी ने आकर युधिष्ठिर को सान्त्वना दी और मृत्यु की उत्पत्ति का वर्णन किया और फिर कहा कि उसने तप के द्वारा ब्रह्माजी से समस्त प्रजा के संहार का वरदान प्राप्त कर लिया है। उसके बाद राजा संजय की कथा कही, जिसका सुवर्ण ष्ठीवी नामक पुत्र, जो उसे अत्यन्त प्रिय था, मृत्यु के संहार से नहीं बच सका। फिर उन्होंने सुभोत्र; कौरव, शिव, राम, भगीरथ, दिलीप, मान्धाता, ययाति, अम्बरीष, शशविन्द, गय, रन्तिदेव, भरत, पृथु और परशुराम इन सोलह राजाओं का चरित्र सुनाया, जो महा प्रतापी चक्रवर्ती होते हुए भी मृत्यु से नहीं बच सके। यह प्रकरण षोडश राजकीय कहलाता है और यहां प्रक्षिप्त है। इसकी पुनरावृत्ति शान्तिपव में आई है।

५९ : : प्रतिज्ञा पर्व

(अ० ५२—६०)

अर्जुन जब संशप्तक युद्ध से लौटकर शिविर में आये तो अभिमन्यु-वध का समाचार सुनकर उनके दुःख का ठिकाना न रहा। शीघ्र ही उनका वह शोक क्रोध में बदल गया और उन्होंने जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा कर ली। यह समाचार कौरव शिविर में बिजली की तरह दौड़ गया। दुर्योधन और द्रोणाचार्य जयद्रथ की रक्षा के लिए नाना भांति के उपाय सोचने लगे। अभिमन्यु की मृत्यु से समस्त पांडव शिविर अत्यन्त दुःखी हुआ और सबसे अधिक दुःख उसकी माता सुभद्रा को हुआ। वह बहुत विलाप करने लगी। तब कृष्ण ने उसे आश्वासन दिया। यहां एक छोटी-सी कथा यह भी दी गई है कि युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए कृष्ण ने अर्जुन को प्रेरित किया कि वह भगवान् शिव की पूजा करे। लिखा है कि अर्जुन स्वप्न में भी शिव के समीप रहे और शिव ने स्वप्न में ही अर्जुन को पाशुपत अस्त्र दिया।

अर्जुन द्वारा शिव का स्तोत्र (५७—४६—५८) दस श्लोकों का छोटा नमः स्तोत्र है।

चतुर्थ्यन्त पदों के साथ जहां नमः पद का प्रयोग किया जाय, उसे नमः स्तोत्र कहते थे। यजुर्वेद के शतरुद्रीय स्तोत्र से इस शैली का आरंभ हुआ था और बाद में अनेक पुराणों में इस प्रकार के स्तोत्र पाये जाते हैं। इसी द्रोण-पर्व के अन्त में लगभग ८० श्लोकों का एक बहुत बड़ा और विशिष्ट नवां स्तोत्र है, जिसे व्यास ने अर्जुन को सुनाया था (१७३—२०—९८)। स्वयं महाभारत के लेखक ने इन दोनों स्तोत्रों को शतरुद्रीय कहा है (५७—७१, गृणन्तव शतरुद्रियं, १७३—१०१, देव देवस्य ते पार्थ व्याख्यातं सत्रुद्रियं)। अगले दिन प्रातःकाल सब लोग भारी दायित्व के बोझ से आक्रान्त होकर उठे और युधिष्ठिर ने कृष्ण से प्रार्थना की कि अर्जुन की प्रतिज्ञा को आप सफल बनावें और अर्जुन को आशीर्वाद दिया। तब अर्जुन ने कृष्ण के साथ रथ पर बैठकर रण-यात्रा की।

युधिष्ठिर की नित्य दिनचर्या

इसी प्रसंग में एक रोचक प्रकरण युधिष्ठिर आह्निक है, जिसमें उनके नित्य कृत्य का वर्णन किया गया है। कुछ हस्तलेखों में इसे युधिष्ठिर की काल वृद्धि भी कहा गया है। इसके अनुसार राजा युधिष्ठिर रात्रि बीतने पर प्रातःकाल उठे और तब तीन प्रकार के व्यक्तियों ने उनका स्वागत किया। एक पाणिस्वनिक, अर्थात् हाथ बजाकर ताल उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति थे, जिन्हें पाणिक या पाणिवादक कहा जाता था। दूसरे मागधजन, स्तोत्रगायन करने वाले थे, जिन्हें वैतालिक भी कहते थे। तीसरे मधुपर्क लेकर राजा का सम्मान करने वाले (मधुपर्किक) थे। इसके अतिरिक्त सूत और वैतालिक, ये भी राजा का स्तोत्र-गान करने के लिए उपस्थित होते थे। कालिदास ने रघुवंश के पांचवें सर्ग के अन्त में व्यतालिस पंचदशी लिखकर १५ श्लोकों में व्यतालिसों के गान का परिचय दिया है। मागध और सूत का राजा के जीवन में विशेष स्थान था। जिस समय आदिराज पृथु राजा बनाये गए और उन्होंने प्रजाओं का रञ्जन करने एवं चक्रवर्ती के धार्मिक आदर्शों के पालन करने की प्रतिज्ञा की, तभी से उस प्रतिज्ञा के आदर्शों का स्मरण दिलाने वाले स्तोत्र या गान का पाठ करने वाले मागध और बन्दीजनों का भी, राज के साथ अधिक सम्बन्ध हो गया। प्रकरण में तो जान पड़ता है कि वे मागधराज की स्तुति कहते थे, किन्तु उनका लक्ष्य चक्रवर्ती धर्मराज के आदर्शों का स्मरण कराना ही था। राजा के जागरण के समय प्रातःकाल कुछ संगीत और नृत्य का भी आयोजन आवश्यक था, जिससे प्रजाओं को उनके उठ जाने की सूचना मिल सके। आज भी नौवत के रूप में यह प्रथा पाई जाती है। यहां यह भी उल्लेख है कि नृत्यक, गायक, अपना कार्य करने लगे हैं। उनके साथ मृदंग, झरझर, भेरी, पणव, आनक, गोमुख, आडंवर (बड़े ढोल), दुन्दुभी आदि इन बाजों के बड़े शव्द का भी उल्लेख है। ज्ञात होता है कि प्राचीन नौवत झरने के समय इन बाजों का वृंदवाद्य होता था। इस प्रकार की भारी ध्वनि से राजा और महल के नौकर-चाकर सब जाग उठते थे। उठकर राजा आवश्यक कार्य के लिए स्नान-गृह में प्रविष्ट होते थे (उत्थाय आवश्यकार्थम्

यथौ स्नानगृहं ५८।७) । स्नान कराने लिए १०८ स्नातक तरुण श्वेत वस्त्र पहन कर और सोने के घड़ों में जल भर कर राजा की स्नान-क्रिया के लिए तैयार रहते थे। स्नान के अनन्तर सूक्ष्म हल्का वस्त्र पहन कर राजा भद्रासन पर बैठकर चन्दन आदि से अनुलेपन करते थे और अभिमन्त्रित मन्त्र पढ़कर उनका प्रोक्षण किया जाता था। कई प्रकार के सुगन्धित पदार्थों से व्यक्ति उनका उत्सादन या अनुलेपन करते थे। इसमें हरिचन्दन द्रव्य का विशेष रूप से नाम आया है। इसके अतिरिक्त नाना प्रकार की सुगन्धित मालाएं भी राजा को धारण कराई जाती थीं। इसके अनन्तर राजा के लिए धार्मिक कृत्य करना आवश्यक था। उसमें देवता के नामों का या अन्य किसी प्रकार के मन्त्र का जप किया जाता था। यह राजा की प्रातःकालीन पूजा का कृत्य था। इसलिए महल में 'अग्नि शरण' नामक स्थान बनाया जाता था। वहां युधिष्ठिर ने अग्नि में हवन किया और तब बाहर आये।

राजा के बाहर आने का भी एक विशेष अर्थ था, अर्थात् वे महल की तीसरीं कक्ष्या से, जिसमें अन्तःपुर रहता था, दूसरी कक्ष्या में आकर पहले दानशाला में विराजते थे (द्वितीयां पुरुषः व्यघ्रः कच्छ्यामं निष्क्रमय)। वहां सभी प्रकार के लोगों की राजा से मुलाकात होती थी। उनमें सर्वप्रथम वेदों के विद्वान ब्राह्मण होते थे, जो कुशल-प्रश्न पूछ कर राजा को आशीर्वाद देते थे। राजा इस प्रकार के वेदज्ञ, याज्ञिक, ब्राह्मणों और स्नातकों का यथोचित आदर करके विदा करते थे। इसमें राजा के दानों में स्वर्ण, निष्क, वस्त्र, गौ, अश्व आदि का उल्लेख है। इसके बाद एक महत्वपूर्ण उल्लेख यह है कि राजा के सामने नाना प्रकार के मांगलिक चिह्न और द्रव्य लाये जाते थे, जैसे सोने के पत्तर पर ठप्पा मार कर बनाये हुए स्वस्तिक, वर्धमान और नंद्यावत नामक विशेष चिह्न, सुवर्ण माल्य पूर्णकुम्भ, प्रज्ज्वलित अग्नि, पूर्ण अक्षत पात्र, रुचक या सुवर्ण निष्क, अलंकृत कन्याएं, दधि, मधु, घृत, जलकुम्भ, मंगलात्मक पक्षी। राजा इन पदार्थों का दर्शन करके इनमें से कुछ का दान भी करते थे।

पूर्णशाला या सत्र स्थान से उठकर राजा दूसरी कक्षा में ही बने हुए आस्थानमण्डप में, जिसे सभा भी कहा जाता था, आकर बैठते थे। जहां राजा

के लिए विशेष भद्रासन सजाया जाता था। आसन के साथ तीन वस्तुएं आवश्यक हैं—एक अति उत्तम आस्तरण, दूसरे चंदोवा (उत्तरच्छद), तीसरे सोने के पतले दण्ड, जिन पर चंदोवा ताना जाता था (पराध्यास्तिरणास्तीर्णं सोत्तरच्छद मृद्धमत्। विश्वकर्मकृतं दिव्यं उपजह्रुर्वरासनं ५८।२३)। आसन पर बैठते ही परिचारक राजा के ऊपर सुनहले चंवर डुलाने लगते थे। यहां सार्वजनिक रूप से मागध, बन्दी और सूत सर्वप्रथम राजा की स्तुति करते थे। इस प्रकार जो युधिष्ठिर का नित्य कार्य कहा गया है, वैसा प्रत्येक राजा की दिनचर्या का राज्य-शास्त्र के ग्रन्थों में और काव्यों में भी पाया जाता है।

६० : : जयद्रथवध पर्व

(अ० ६१—१२१)

इसमें अर्जुन के द्वारा जयद्रथ के वध की महती कथा है। अर्जुन ने बड़े उत्साह के साथ रणभूमि में प्रवेश किया। पहले उसकी मुठभेड़ दुःशासन से हुई, पर वह उसके सामने ठहर न सका। फिर द्रोणाचार्य से युद्ध हुआ। तब उनको एक ओर बचाकर अर्जुन आगे बढ़े। दुर्योधन ने इसके लिए द्रोण को उलाहना दिया, तो आचार्य ने उसी के शरीर में दिव्य कवच बांधकर अर्जुन के साथ युद्ध करने के लिए भेजा। इधर धृष्टद्युम्न ने द्रोण के सामने आकर उनसे लोहा लिया। सात्यकी धृष्टद्युम्न की रक्षा के लिए पहुंचा तो द्रोण का उसी से युद्ध होने लगा। इधर विन्द और अनुविन्द का वध करके अर्जुन शत्रु सेना पर आक्रमण करते हुए जयद्रथ की ओर बढ़े। इतने में दुर्योधन ने अर्जुन का मार्ग रोका और उन्हें युद्ध के लिए ललकारा। दोनों में भीषण संग्राम हुआ, पर दुर्योधन अर्जुन के सामने न ठहर सका। अकेले अर्जुन ने कौरव सेना के नव महारथियों को परास्त किया। इसी बीच युधिष्ठिर की भी द्रोणाचार्य से टक्कर हुई, जिसमें युधिष्ठिर के पैर

उखड़ गये। युधिष्ठिर ने सात्यकी को अर्जुन की सहायता के लिए भेजा। सात्यकी ने बहुत पराक्रम दिखलाया। उसने त्रिगर्त्तों के साथ, काम्बोजों के साथ और पाषाणयोधी म्लेच्छों के साथ युद्ध किया। जब अर्जुन को गये बहुत देर हो गई, तो युधिष्ठिर ने चिन्तित होकर भीम को उनकी सहायता के लिए भेजा। भीमसेन कौरव सेना को चीरते हुए अर्जुन के पास जा पहुंचे। भीमसेन और कर्ण का घोर युद्ध हुआ, जिसमें कर्ण की पराजय हुई, पर पीछे कर्ण फिर तगड़े पड़े तो अर्जुन ने बीच में पकड़कर अपने बाणों से कर्ण को पीछे हटाया। इस समय अर्जुन ने डट कर जयद्रथ पर आक्रमण किया और घोर युद्ध के अनन्तर अद्‌भुत पराक्रम करते हुए आखिर में सिन्धुराज जयद्रथ का वध कर डाला। तब श्रीकृष्ण अर्जुन की प्रशंसा करते हुए उन्हें युधिष्ठिर के पास वापस लाये। इस पर दुर्योधन खेद करता हुआ द्रोणाचार्य को उपालम्भ देने लगा।

६१ : : घटोत्कच पर्व

(अ० १२२—१५४)

अगले दिन के युद्ध में घटोत्कच का वध मुख्य घटना है। उस दिन सायंकाल को भी युद्ध बंद नहीं हुआ और पाण्डव सैनिकों ने रात्रि-युद्ध में द्रोणाचार्य पर आक्रमण किया। द्रोण ने शिबी का और भीम ने कलिंग के राजकुमार ध्रुव का वध किया। तब घटोत्कच और अश्वत्थामा का युद्ध हुआ। इधर युधिष्ठिर ने भी द्रोण पर आक्रमण किया और पहले तो युद्ध में युधिष्ठिर विजयी रहे, पर पीछे द्रोण के सामने युधिष्ठिर के पैर उखड़ गये। अश्वत्थामा का पांचाल के राजकुमार धृष्टद्युम्न से पुराना बैर था, जिसके कारण दोनों में घमासान युद्ध हुआ और धृष्टद्युम्न को भागना पड़ा। नकुल और शकुनि, शिखण्डी और कृपाचार्य, सात्यकी और दुर्योधन, अर्जुन और शकुनि इन विपक्षी वीरों का परस्पर घोर युद्ध होता रहा।

दुर्योधन के उपालम्भ देने से द्रोण और कर्ण ने पराक्रम की पराकाष्ठा कर दी, जिससे धृष्टद्युम्न और पांचालों के पांव उखड़ गये। इससे युधिष्ठिर घबड़ा उठे। तब कृष्ण और अर्जुन ने घटोत्कच को कर्ण के साथ युद्ध करने के लिए भेजा। घटोत्कच ने अत्यन्त घोर युद्ध किया और अन्त में विवश होकर कर्ण को इन्द्र की दी हुई अमोघ शक्ति घटोत्कच पर छोड़नी पड़ी, जिससे उसका वध हो गया। इससे पाण्डव-पक्ष में शोक छा गया, पर कृष्ण प्रसन्न हुए, क्योंकि उन्हें आशंका थी कि किसी दिन कर्ण द्वारा उस शक्ति का अर्जुन के विरुद्ध प्रयोग हो सकता था।

६२ : : द्रोणवध पर्व

(अ० १५५-१६५)

रात्रि-युद्ध से थके-मांदे सैनिकों ने दिन में विश्राम किया और चन्द्रोदय के बाद से पुनः युद्ध शुरूहो गया, जो उस रात्रि को और अगले दिन चलता रहा। सब पांडव-वीरों ने द्रोण पर आक्रमण किया, किन्तु द्रुपद एवं विराट दोनों खेत रहे। तब धृष्टद्युम्न ने और भी घोर आक्रमण किया, पर द्रोणाचार्य ने संग्राम में बहुत भयंकर रूप धारण किया। उससे पाण्डव-पक्ष में अत्यन्त निराशा छा गई। तब उनकी ओर से अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार फैला दिया गया। उसे सुन कर द्रोण जीवन से निराश हो गये और उन्होंने अस्त्र रख दिया। उस अवस्था में धृष्टद्युम्न ने उनका शिरोच्छेद कर दिया। पाण्डव-पक्ष से यह अत्यन्त निन्दनीय कार्य हुआ।

६३ : : नारायणास्त्रमोक्ष पर्व

(अ० १६६—१७३)

अपने पिता का वध सुनकर अश्वत्थामा क्रोध से भर गया और उसने नारायणास्त्र नामक एक विशेष हथियार का प्रयोग किया, उससे भीमसेन का अन्त ही हो गया होता, किन्तु कृष्ण ने भीमसेन को रथ से उतारकर नारायणास्त्र को एक प्रकार से विफल कर दिया। तब अश्वत्थामा ने आग्नेयास्त्र छोड़कर एक अक्षौहिणी सेना का संहार कर दिया, पर श्रीकृष्ण और अर्जुन पर उस अस्त्र का कोई प्रभाव नहीं हुआ। उस समय व्यासजी ने प्रकट होकर अश्वत्थामा को शिव और कृष्ण की महिमा बताई। इससे प्रभावित होकर अश्वत्थामा ने दोनों को प्रणाम किया।

द्रोण-पर्व के अन्त में एक अध्याय शिव के नमः स्तोत्र का है। कथा इस प्रकार है, जब द्रोण-युद्ध समाप्त हुआ तो अकस्मात् व्यासजी वहां आ गये और अर्जुन ने कहा कि जब मैं युद्ध करता था तो अग्नि के समान त्रिशूलधारी एक महापुरुष को आगे चलता हुआ देखता था, जिस दिशा में वे जाते थे, उसी दिशा में शत्रु बिखर जाते थे। न तो वह महापुरुष पैरों से पृथ्वी का स्पर्श करता था और न हाथ से त्रिशूल ही छूता था। व्यासजी ने समाधान किया, "वे तो साक्षात् भगवान् शंकर ही थे। हे अर्जुन, प्रजापतियों में प्रथम जो तैजस पुरुष हैं, जो सब लोकों के ईश्वर और ईशान हैं, हे अर्जुन, तुमने उन्हीं शिव का दर्शन किया है। उन महात्मा महादेव की शरण में जाओ। उनके अनेक पार्षद हैं, जो सदा उनके साथ रहते और पूजा करते हैं। जिस सेना की रक्षा कर्ण और द्रोणाचार्य करते थे, उनका घर्षण भगवान् रुद्र के अतिरिक्त और कौन कर सकता था? उनके सम्मुख कोई भी ठहरने का साहस नहीं कर सकता। अतएव हे अर्जुन, उन भगवान् शिव को नमस्कार करो।" यह कह व्यासजी ने स्वयं ही एक अत्यन्त प्रभावशाली रुद्र-स्तोत्र अर्जुन को सुनाया। ८९ श्लोकों (१७३-२०—९८) का यह स्तोत्र शतरुद्रीय कहा गया है और इसके चार भाग इस प्रकार हैं :

१. नमः स्तोत्र (१७३—२०—३९)
२. दिव्यकर्ण वर्णन (१७३-४०—७४)
३. बहुधारूप वर्णन (१७३-७५—७७)
४. नामनिर्वचन (१७३-७८—९८)

इसी कारण मूल में इसे चतुर्विध स्तोत्र कहा गया है। इस प्रकार के स्तोत्र सर्वमहार्थ संयुक्त समझे जाते थे, अर्थात् ईश्वरतत्त्व के विषय में जितने प्रकार का वर्णन संभव है, उन समस्त अर्थों को प्रयत्न-पूर्वक एकत्र करके स्तोत्रों के रूप में ढाला जाता था। कहीं इनमें १०० नाम और कभी एक सहस्र नाम पाये जाते हैं। वर्तमान नमः स्तोत्र यजुर्वेद के शतरुद्रीय स्तोत्र से प्रभावित है, किन्तु कालान्तर में माहेश्वर और पाशुपत शैवों ने शिवतत्त्व के विषय में जिन नये विचारों की भावना की, वे भी इस स्तोत्र में आये हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि शिव या विष्णु के नामों की नई-नई व्युत्पत्तियां पुराणों का आवश्यक अंग बन गई थीं। ये निरुक्तियां आर्थी निरुक्ति हैं, शास्त्रीय नहीं, अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थ को उलट करके तीन प्रकार की निरुक्तियां मिलती हैं। उसी शैली में ये भी हैं :

नामधेयानि लोकेषु बहून्यत्र यथार्थवत्।
निरुच्यन्ते महत्त्वाच्च विभुत्वात्कर्मभिस्तथा॥ (१७३।७८)

उदाहरण के लिए त्र्यम्बक के नाम के विषय में कहा है कि भुवनेश्वर भगवान् शिव देव, पृथ्वी और आपः या जलमय मूर्त्ति इन तीन देवों का आश्रय लेते हैं। इसलिए उनका नाम त्र्यम्बक है। अर्थवेत्ता की दृष्टि से निःसन्देह यह शिव स्तोत्र अत्यन्त विशिष्ट रचना है और संक्षिप्त होते हुए भी स्तोत्र-साहित्य में इसे ऊंचा स्थान मिलना चाहिए।

(द्रोण-पर्व समाप्त)

कर्ण पर्व

यह महाभारत का आठवां पर्व है, जिसमें ६९ अध्याय और लगभग ४००० श्लोक हैं। इसमें निम्नलिखित घटनाओं का वर्णन है :

१. कर्णाभिषेक
२. पाण्ड्य वध
३. त्रिपुरघातन
४. कर्ण-शल्य-विवाद
५. हंस-काकीयोपाख्यान
६. मद्रदेश की निन्दा
७. युधिष्ठिर-पराजय
८. कर्ण-भीम युद्ध
९. युधिष्ठिर-पलायन
१०. युधिष्ठिर-कोप
११. युधिष्ठिर और अर्जुन में मेल
१२. दुःशासन वध
१३. अश्वत्थामा के सान्त्वना-वाक्य
१४. कर्ण-वध
१५. युधिष्ठिर का हर्षोल्लास

६४ : : कर्णयुद्ध-वर्णन

द्रोण के अनन्तर दुर्योधन ने कर्ण को अपना सेनापति नियुक्त किया और युद्ध पहले से ही घोर रूप में शुरू हुआ। पहले दिन भीम के द्वारा क्षेमधूर्त्तिका वध हुआ और उसने अश्वत्थामा के साथ भयंकर युद्ध किया। अर्जुन ने संशप्तक वीरों के साथ पहले के समान घोर संग्राम किया। सहदेव

ने दुःशासन को और कर्ण ने भीम को नीचा दिखाया। इस दिन कितने ही छोटे-मोटे द्वन्द्व (या संकुल) युद्ध हुए। दुर्योधन और कर्ण ने मिलकर राजा युधिष्ठिर से संग्राम किया।

इस समय एक समस्या उत्पन्न हुई अर्थात् कर्ण के लिए एक योग्य सारथी की आवश्यकता पड़ी, जिससे वह भी अर्जुन के समान पराक्रम दिखला सके। कर्ण ने प्रस्ताव किया कि शल्य को उसका सारथी बनाया जाय। शल्य को पहले तो यह बात मान्य न हुई, किंतु दुर्योधन के बहुत आग्रह करने और शकुनि के बहुत समझाने-बुझाने पर उसने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पर यह स्वीकृति कर्ण के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हुई। इससे कर्ण के लिए एक बखेड़ा ही खड़ा हो गया। दोनों में काफी कलह उत्पन्न हो गया। कर्ण जब अपनी प्रशंसा में कुछ कहता, तब शल्य उसे वहीं रोककर उल्टे अर्जुन की बड़ाई करने लगता। शल्य ने यहां तक कह डाला कि हे कर्ण, यदि तुम युद्ध से भाग न गये, तो अर्जुन के हाथ से बच नहीं सकोगे। स्वतः युद्ध में कमर कस कर उतर हुए वीर के लिए उसकी प्रशंसा से बढ़कर और कोई अमृत का पान नहीं होता और लांछना से वढ़कर उस वीर के लिए कोई विष नहीं होता, पर कर्ण के भाग में यह अमृतपान न था। शल्य को सारथी कार्य के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से दुर्योधन ने त्रिपुराख्यान का वर्णन किया, जिसमें शिवजी ने देवताओं की ओर से युद्ध करने के लिए एक सर्वदेवमय और सर्वलोकमय रथ सजाया था, तब स्वयं ब्रह्माजी ने उनका सारथी होना स्वीकार किया था। इसलिये सारथी का पद अत्यन्त सम्मानित समझा जाता था। दुर्योधन की इस बात का शल्य के मन पर प्रभाव हुआ और उसने उसकी बात मान ली। कर्ण को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने अच्छे हृदय से यह कहा :

ईशानस्य यथा ब्रह्मा यथा पार्थस्य केशवः।
तथा नित्यं हिते युक्तो मद्रराजभजस्वनः। (२५।७)

पर कर्ण और शल्य की कुण्डली मिलने वाली न थी। शल्य ने कठोर भाषण से शत्रु की प्रशंसा और कर्ण की निन्दा, विशेषतः अर्जुन के पराक्रम का बखान करना शुरू किया। कर्ण को तो अर्जुन से युद्ध करने का उत्साह था और वह सैनिकों से पूछ रहा था कि शल्य ने ः से फिर चिढ़ाया, "हे

कर्ण, अब तुम काल-पक्व होकर मृत्यु के मुख में जाना चाहते हो।" तब कर्ण को कहना पड़ा, "हे शल्य, तुम मित्र का मुख रखने वाले मेरे शत्रु हो और मुझे भयभीत करना चाहते हो।" (त्वं तु मित्रमुखः शत्रुर्मां भीषयितुमिच्छसि २७।२८)। पर शल्य की जिह्वा विष की थैली थी। उससे चुप न रहा गया और कहने लगा, "हे कर्ण, तुम गीदड़ की तरह शेर से या बटेर की तरह गरुड़ से भिड़ना चाहते हो। जैसे मेढक मेघ को देख कर टर्राता है, ऐसे ही तुम्हारा यह भाषण है। क्या बिना डोंगी के कोई कुपित समुद्र पार कर सकता है ? चूहे और बिलार में, कुत्ते और बाघ में, शृगाल और सिंह में, खरगोश और हाथी में, झूठ और सत्य में एवं विष और अमृत में जितना अन्तर है, उतना ही तुममें और अर्जुन में है।"

जब बात इतनी बढ़ी तो कर्ण से भी न रहा गया और इसके बाद कर्ण ने जो कुछ शल्य के लिए कहा, वह महाभारत का अत्यन्त विलक्षण प्रकरण है। उसे पुष्पिका में मद्रक-कुत्सन कहा गया है। यह अंश कर्ण पर्व के २७ वें अध्याय के ७१–९१ श्लोकों में और ३०वें अध्याय के ७–८१ श्लोक में आया है।

यहां महाभारतकार क्या कहना चाहते थे और इन श्लोकों का वास्तविक अर्थ क्या है, यह बात अभी तक किसी लेखक ने स्पष्ट नहीं की है। यह ऊपर से तो कर्ण और शल्य की तू-तू मैं-मैं जान पड़ती है, किन्तु इसके भीतर ठोस ऐतिहासिक तथ्य छिपा हुआ है। बात ऐसी है कि जब इस देश पर सिकन्दर ने आक्रमण किया, तो उसके अन्यायी यवनों का कुछ प्रदेशों पर अधिकार हो गया। पहले यह अधिकार बाल्हीक या बल्ख प्रदेश पर था और वहां के यवन शासक बाल्हीक यवन कहलाते थे। मौर्य सम्राटों के युग में तो वे निस्तेज होकर सिकुड़े हुए पड़े रहते थे; किन्तु मौर्य साम्राज्य के बिखरने पर जब पुष्यमित्र सत्तारूढ़ हुआ, उस समय यवनों ने गान्धार और पंजाब की ओर अपने पैर फैलाने शुरू किये और उनमें से दिमित्र और मेनन्द्र नामक राजाओं ने पंचनद या पंजाब के उत्तरी प्रदेश में, जिसे मद्र कहते थे, एवं जिसकी राजधानी शालक थी, अपना अधिकार जमाया। मद्रराज शल्य भी वहीं के थे। अतएव उनके ब्याज से जो कुछ मद्रक यवनों के आचार और विचार के प्रति भारतीयों की प्रतिक्रिया थी, वह सब शल्य

के सिर मढ़ कर यहां कही गई है। स्पष्ट ज्ञात होता है कि मद्रक यवनों का रहन-सहन भारतीयों के आचार-विचार और सामाजिक संगठन से भिन्न था। उनमें खान-पान, नाच, रंग, सुरा और मद, नग्न-नृत्य आदि बहुत-सी कुटिल प्रथाएं ऐसी थीं, जिनकी चर्चा मध्य देश में रहने वाले भारतीयों के कानों में आने लगी। तभी ऐसा हुआ कि मध्य देश में ऐसी धारणा फैली कि पांच नदियों वाला वाहीक देश पृथिवी का मल है, वहां किसी को नहीं जाना चाहिए। यहां तक बात बढ़ी कि जो कुरुक्षेत्र, सरस्वती और दृशद्वती के बीच का प्रदेश, पृथ्वी का सबसे पवित्र स्थान माना जाता था, उसके लिए भी कहा गया है कि "तीर्थयात्रा के लिए वहां दिन में ही जाना चाहिए और रात्रि में न ठहर कर उसी दिन वापस चले आना चाहिए।" यह बात कुरुक्षेत्र की यात्रा के सम्बन्ध में कही गई है और उसकी भी संगति यही है।

मद्रक यवनों के विषय में ये किंवदन्तियां चलते-चलते ही गाथाओं के रूप में लोक में फैल गई थीं, यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है। लगभग एक जैसा वर्णन कुछ हेरफेर से १० या ११ बार दुहराया गया है और उसका ढंग यही है कि एक किसी ब्राह्मण ने ऐसा कहा था, किसी दूसरे ब्राह्मण ने ऐसा कहा था। मैंने धृतराष्ट्र की सभा में ऐसा सुना था, इत्यादि। इन वर्णनों की तालिका इस प्रकार है :

१. "मद्र देश कुदेश या पाप का देश है। वहां की स्त्रियां, बालक, बूढ़े और तरुण प्रायः खेल में मस्त रहते हैं और वे इन गाथाओं को ऐसे गाते हैं, मानो अध्ययन कर रहे हों। मद्रक दुरात्मा हैं। उनकी तरह की गाथाओं को, जैसा पहले ब्राह्मणों ने राज-सभा में सुनाया था, वे इस प्रकार हैं : मद्रक बड़ा मित्र-द्रोही होता है। जो हमारे साथ नित्य शत्रुता का व्यवहार करता है, वही मद्रक है। मद्रक के साथ कभी दोस्ती नहीं हो सकती, क्योंकि वह झूठा, कुटिल और दुरात्मा होता है। दुष्टता की जितनी हद है, वह सब मद्रकों में समझो। उनकी विचित्र प्रथा है कि मां, बाप, बेटे, बेटी, सास और ससुर, भाई, जमाई, पोते और धेवते, मित्र-अतिथि, दास-दासी, जान-पहचान के और अनजान स्त्री और पुरुष सब एक-दूसरे के साथ मिलकर संगत करते हैं। वे शिष्ट व्यक्तियों के घर में

इकट्ठे होकर सत्तू की पिण्डियां और उसका घोल पीते हैं और गोमांस के साथ शराब पीकर हँसते और चिल्लाते हैं एवं कामवश होकर स्वेच्छाचार वरतते हैं। उनकी काम से भरी बातें सुनकर जान पड़ता है कि उनमें धर्म का सर्वथा लोप हो गया है। मद्रक के साथ न वैर और न मैत्री करनी चाहिए। वह अत्यन्त चपल होता है। उसमें शौच का भाव नहीं, उसे स्पर्श और अस्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता। विच्छू जैसे विष-वुझा डंक मारता है, वैसे ही मद्रक का मेल है। उनकी स्त्रियां शराव के नशे में वुत्त होकर कपड़े फेंक कर नाचती हैं, यहां तक कि असंयत कामचार से भी नहीं चूकती हैं। हे मद्रक, तू उन्हीं का बेटा है, तू धर्म क्या जाने ? जैसे ऊंटनी खड़ी होकर मूतती है, वैसे ही उनकी स्त्रियां भी। वहां कांजी (सुमिरक) पीने का वेहद रिवाज है। कांजी की शौकीन स्त्री कहती है कि मैं पुत्र दे दूंगी, पर कोई मुझसे कांजी न मांगे। वहां की स्त्रियां लम्बे-चौड़े शरीर वाली, ऊनी वस्त्र पहनने वाली, डटकर भोजन करने वाली, निर्लज्ज और अपवित्र होती हैं, ऐसा मैंने सुना है। उनके विषय में और भी कुछ कहा जा सकता है। मद्रक धर्म को क्या जानें ? वे पापी देश में उत्पन्न हुए म्लेच्छ हैं। हे मद्रराज, फिर यदि तुमने कुछ कहा तो मैं गदा से तुम्हारा सिर तोड़ दूंगा।"

कर्ण के उत्तर में शल्य ने कौवे और हंस की एक कहानी सुनाई, जिसमें कौवा कुजात होकर भी अपनी वड़ाई हांकता है। अन्त में वह अपनी उड़ान के करतव दिखाता हुआ समुद्र में डूवने लगा तो उसके माफी मांगने पर हंस ने उसे उठाकर किनारे पर रख दिया। इसके उत्तर में अध्याय २९ में कर्ण ने पहले तो सच्चे मित्र के विषय में कुछ सुन्दर श्लोक सुनाये, किन्तु इतना अंश यहां स्पष्ट जोड़ा गया है और तीसवें अध्याय का मेल पूर्व के २७वें अध्याय से मिल जाता है। फिर मद्रकों के विषय की गाथाओं का तांता शुरू हो जाता है, जो इस प्रकार है :

२. "हे शल्य ! धृतराष्ट्र की सभा में मैंने देश-विदेश घूमकर आते हुए ब्राह्मणों को यह कहते सुना था, "एक बूढ़े ब्राह्मण ने बाल्हीक देश और मद्र देश का अपना अनुभव यों बताया था कि हिमालय और गंगा, यमुना और सरस्वती एव कुरुक्षेत्र की सीमा के उस पार जो सतलज, व्यास, रावी-

चिनाब, झेलम और सिंधु इन छः नदियों के बीच का देश है, वह धर्मबाह्य और अपवित्र है। उस बाल्हीक देश को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। वहां गोवर्द्धन नामक बड़ा बरगद का पेड़ है और सुमान्य नामक पूजने का चौरा (चत्वर) है। ये ही वहां के राजकुल में प्रवेश करने के दो बिन्दु हैं, ऐसा बचपन से सुनता आया हूं। जब बहुत आवश्यक कार्य पड़ा तब मैं बाल्हीक में गाया। तब वहां रहने से उनका यह समाचार ज्ञात हुआ। वहां शाकल नामक नगर है और आपग नाम की नदी है। उन बाल्हीकों को जर्तिक भी कहते हैं। उनका आचार महानिन्दित है। वे गोमांस और लहसुन के साथ धान और गुड़ की शराब पीते हैं और मालपूए जैसे मीठी रोटी एवं कबाब (अपूप-मांसवटी) खाते हैं। शील छोड़कर वे मदमस्त होकर स्त्रियों के साथ हँसते-गाते और नंगे नाचते हैं। नगर के बाहर चुने हुए स्थानों में माला पहन कर और अनुलेपन लगाकर मतवाले बने हुए गधे और ऊंट की तरह रेंकते हैं। उनमें एक प्रकार की हेहता-हेहता (पाठा० हाहता-हाहता) नाम की गणिकाएं होती हैं, जो पति या स्वामी नहीं करतीं। वे ऐसे उत्सवों के समय चिल्लाती हुई नाचती हैं—(हा हते हा हतेत्येव स्वामिभर्तृ हतेति च। आक्रोशन्त्यः प्रनृत्यन्ति मंदाः पर्वस्वसंयताः, ३०।१८)। कभी ऐसा हुआ कि उनमें से एक बाल्हीक दूर प्रदेश में चला जाय तो वहां रहकर उदास मन से वह सोचने लगता है, 'वह गोरी लम्बी-चौड़ी, महीन वस्त्र पहनने-वाली मेरी प्रिया मेरा स्मरण करके आज अकेली शयन करती होगी। मैं सतलज नदी और उस प्यारी रावी नदी को पार करके स्वदेश पहुंचूंगा और उठी हुई तपोदासी प्यारी वहां की शुभ स्त्रियों को देखूंगा। उनके कटाक्ष मैनसिल की भांति उज्ज्वल हैं और उन गोरी स्त्रियों के नेत्रों में अञ्जन की सलाई से रेखाएं बनाई गई हैं। वे केवल चमड़े का वस्त्र ढंक कर कूदती हुई नाचती हैं। उस समय मृदंग, भेरी, शंख, बादल बाजों के साथ गदहे, ऊंट, खच्चरों की सवारी पर गोरियों के साथ पीलू और करील के जंगलों में हम विचरेंगे और मीठी रोटियां एवं सत्तू की पिण्डियां मट्ठे के साथ खाते हुए बटोहियों के साथ प्रबल होकर लूट-मार भी करेंगे।' इस प्रकार दुरात्मा बाल्हीक उद्सेधजीवी प्रत्या की तरह बर्तते हैं। जान-बूझकर कौन ऐसे बाल्हीकों के साथ रहेगा? कुछ मैं नहीं कहता, उस ब्राह्मण ने ऐसा

कहा था।"

३. "इसके वाद उस ब्राह्मण ने इतना और कहा था कि उन विनय-शून्य वाल्हीकों में कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में कोई राक्षसी वड़े शाकल नगर में दुन्दुभी बजा कर गाया करती है। कब फिर शाकल नगर में घोषिका गाथाएं हम गायेंगे ? कव गोमांस से छक कर गौड़ीय सुरा पी कर अलंकृत और बृहती गोरी स्त्रियों के साथ प्याज कूचते हुए शराब के कुल्ले करेंगे और भेड़ का मांस खायेंगे ? जो सूवर, मुर्गे, गौ, गधा, ऊंट और भेड़ का मांस नहीं खाता, उसका जन्म निरर्थक है। शराब से धुत् होकर आबाल-वृद्ध शाकल के रहने वाले कूद-कूद कर इस प्रकार गाते हैं। उनमें सदाचार का कहां ठिकाना ! हे शल्य ! तुम ऐसा समझ लो और फिर सुनो।"

४. दूसरे ब्राह्मण ने कुरु राजसभा में हमें यह वात सुनाई थी। जहां पीलू के जंगल हैं, जहां शतद्रु, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा और वितस्ता, ये पांच नदियां और छठी सिन्धु बहती है, वे वहिर्गत् देश हैं। उनका नाम आरट्ट है। वहां धर्म का नाश हो गया है। इसलिए वहां कभी नहीं जाना चाहिए। वहां लूटमार करने वाली जातियों का राज्य है। उनको व्रात्य कहते हैं या दास-दासियों का या रोजगारियों का (विदेह) और यज्ञहीनों का निवास है। उन नष्टधर्म वाल्हीकों के यहां देव-पितर और ब्राह्मण नहीं जाते, ऐसा सुना जाता है।"

५. "किसी दूसरे ब्राह्मण ने एक साधु-समाज में पहुंच कर ऐसा कहा था। बाल्हीक में लोग लकड़ी के वर्त्तनों में और मिट्टी के वर्तनों में खाते हैं। उन वर्तनों को कुत्ते भी चाट लेते हैं, पर सत्तू के गोले और कबाब में मस्त बाल्हीक कुछ विचार नहीं करते। वे लोग भेड़, गधे और ऊंटनी का दूध और उससे बने हुए पनीर खाते और पीते हैं। उनके यहां पात्रों में एक-एक करके सब तरह के अन्न और दूध का भोजन किया जाता है। बुद्धिमान को चाहिए कि आरट्ट नामक बाल्हीकों के दूध से बचावें।"

६. "हे शल्य ! और भी सुनो, जो एक दूसरे ब्राह्मण ने कुरु सभा में सुनाया था। जिसने युगन्धर में दूध पिया, अच्युत् स्थल में निवास किया और भूतलय में स्नान किया, उसे वह स्वर्ग कैसे मिलेगा, जहां पांच नदियां पर्वत से निकल कर बही हैं, वहीं आरट्ट नामक बाल्हीक देश है। आर्य

वहां दो दिन भी नहीं रहे। वहीं वाल्हीक नामक दो पिशाच व्यास नदी के किनारे रहते हैं। वहीं की सन्तान वाल्हीक है, इसे ब्रह्मा की सृष्टि नहीं कहा जा सकता। उन्हीं की तरह के और भी कुछ देश हैं, जैसे कारस्कर, महिषक, कलिंग, कीकट (मगध), कर्कोटक और वीरक (सौवीर)। उनका धर्म दुष्ट आचार है। उनसे दूर रहना चाहिए, यह बात किसी उलूखल मेखला नाम की यक्षी ने शमी (छौंकर) के कुंज में किसी रात को एक तीर्थयात्री से कही थी। उस देश का नाम आरट्ट है और वहां के लोगों का नाम बाल्हीक है।"

७. "हे शल्य, मैं फिर कहता हूं, उसे सुनो। कोई एक ब्राह्मण पहले किसी शिल्पी के घर मेहमान होकर आया और उस शिल्पी के आचार को देखकर प्रसन्न होकर बोला, 'मैंने बहुत दिन तक हिमालय में निवास किया है और बहुत से देशों को, नाना धर्मों को, घूम कर देखा है। जैसी प्रजाओं के धर्म यहां हैं, वैसे ही और सब जगह हैं। वेदों में पारंगत लोगों से सब जगह मैंने वैसे ही वर्णाश्रम के धर्म सुने हैं, पर जब मैं बाल्हीक में था, तब मैंने विचित्र बात देखी। वहीं ऐसा है कि आज जो ब्राह्मण है, वह कल क्षत्रिय हो जाता है या वाल्हीक कभी वैदिक, कभी शूद्र, कभी अनार्य बन जाता है। नाई बनकर फिर ब्राह्मण बन जाता है या जो द्विज है, वह फिर दास बन जाता है। एक कुटुम्ब में एक व्यक्ति विप्र है तो दूसरे कामाचारी होकर जैसा चाहते हैं, वैसी जीविका करते हैं। गान्धार, मद्रक और वाल्हीकों में इसी प्रकार की मूर्खता है। मैंने सारी पृथ्वी का चक्कर लगाने के बाद वाल्हीकों में ही इस प्रकार धर्म की उलट-फेर देखी।' "

८. "और भी शल्य, सुनो, जो मैं कहता हूं, और जिसे किसी ने वाल्हीकों की निंदा में कहा था। आरट्ट देश की किसी सती स्त्री को डाकू पकड़ ले गये और जब उन्होंने उसके साथ अधर्म किया, तो सती ने उन्हें शाप दे डाला—'मुझ पतिमती बाला के साथ तुम लोगों ने जो अधर्म किया, इसलिए तुम्हारे यहां की सब स्त्रियां वेश्या तुल्य हो जायंगी (वन्धकी) और इस घोर पाप से तुम लोग कभी न छूटोगे।' पूर्व पांचाल देश, शाल्व, मत्स्य, नैमिश देश, काशी, कोशल, अंग, कलिंग, मगध और चेदि, ये जो मध्य देश के जनपद हैं, यहां के निवासी शाश्वत धर्म को जानते हैं। सभी देशों में

पुराण धर्म का पालन करनेवाले अच्छे संत लोग हैं, केवल मद्र और कुटिल पंचनद के लोगों में धर्म का अभाव है। जब ब्रह्मा की सृष्टि में सब देश शाश्वत धर्म का पालन करने लगे, तब पंचनद के देश के धर्म को देखकर स्वयं ब्रह्माजी ने कहा कि इसे धिक्कार है। वाल्हीक के लुटेरे दैत्यों और अशुभ कर्मदासों को ब्रह्मा ने भी धर्म की दृष्टि से अत्यन्त निन्दित माना है।"

९. "हे शल्य, फिर सुनो, मैं जो कहता हूं। कल्माषपाद नाम के यक्ष ने तालाब में स्नान करके यह कहा था कि क्षत्रिय के लिए भिक्षा-वृत्ति मल है, ब्राह्मण के लिए असत्य मल है। समस्त पृथ्वी का मल वाल्हीक है और समस्त स्त्रियों का मल मद्र देश की स्त्रियां हैं। मनुष्यों में म्लेच्छ (यवन) मल हैं और म्लेच्छों में भी मुक्का-मुक्की से लड़ने वाले पहलवान मल हैं। उन मौष्टीकों में भी संड (सांड, बधिया करके बढ़ाये हुए जवान पठ्ठे), जो मरने और मारने के लिए उतारू रहते हैं और संडों में भी निकृष्ट वे पुरोहित हैं, जो राज-याजक अर्थात् राजा की ओर से मन्दिरों में पूजा के लिए नियुक्त हैं। मद्रकों और राज-याजक मनुष्यों का भी जो सबसे निकृष्ट मल है, वह तू है। शल्य, तुम यदि हमारा पीछा न छोड़ोगे तो मद्रकों में ऐसा देखा जाता है कि उनके पुजारियों पर भूत-प्रेत आ जाते हैं। उन्हें शनैः-शनैः विष खिलाकर तैयार किया जाता है और यक्ष या भूत-प्रेत का आसव, यही उनकी करामात कही जाती है। उस समय उनसे लोग तरह-तरह की बात पूछते हैं; वे बने-बनाये उत्तर देते हैं। वाल्हीक पूरे चोर होते हैं, कृतघ्नता, दूसरे के माल की चोरी, सुरापान, यही उनका धर्म है, उनके लिए फिर अनर्थ क्या हैं? कुछ लोग यवनों को सर्वज्ञ और शूर मानते हैं और सचमुच वाल्हीक यवन बड़े हेंकड़ होते हैं (३०।८१), पर मद्रक तो कुछ भी नहीं होते, सो शल्य तुम ऐसे ही हो। अब क्या उत्तर दोगे, यह जानकर बस चुप रहो।"

इस प्रकार कर्ण-पर्व के इस प्रकरण में मद्रक यवनों के विषय में हेरफेर से नव प्रकार के गाथा-गुच्छक आगे-पीछे कहे गये हैं और हर बार उन्हें किसी ब्राह्मण से सुना हुआ या कहा हुआ बताया है। अब इन गाथाओं की

बारीक छानबीन करने से यह बात छिपी नहीं रहती कि लेखक का संकेत

पंजाब या सियालकोट के उन यूनानियों से था, जिन्हें भारतीय इतिहास में मद्रक यवन कहा गया है। वस्तुतः ये लोग बाल्हीक या बल्ख के मूल निवासी थे और वहीं से इन्होंने पंजाब में आकर अपना राज्य स्थापित किया। इन्हीं राजनैतिक घटनाओं के कारण पंजाब या पंचनद देश, जो पहले बाह्लीक कहलाता था, बाल्हीक भी कहा जाने लगा। इस वर्णन में न केवल यवन मद्रक और बाल्हीकों का नाम कई बार आया, किन्तु इसमें कुछ संकेत तो ऐसे हैं, जो पंजाब के यूनानियों पर ही घटित होते हैं, जैसे यह कहना कि उन लोगों में स्त्री और पुरुषों में मिल कर नाचने और गाने की परिपाटी है। उनके यहां की उन संगतों में आबालवृद्ध, यहां तक कि अजनबी भी सम्मिलित होते थे। उनमें खड़े होकर लघुशंका करने की प्रथा थी। उनके यहां आसव पीने और कई प्रकार के मांस खाने का मुंह छिपे रिवाज था, यहां तक कि गोमांस भी उनसे छूटा न था। वे शाकल देश में या सियालकोट नामक अपनी राजधानी में, जहां मिनांडर राजा था और जिसका वर्णन मिलिन्द पन्न में आया है, विशेष अवसरों पर अपने देवता डायोनिसयस का उत्सव मनाते थे; जिसे यहां पर्व कहा गया है (३०।१८) उसमें उनकी प्रसिद्ध गणिकाओं के साथ शिष्य लोग भी नृत्य करते थे। उन गणिकाओं की यूनानी भाषा में हइतेरा कहा जाता था। उन्हीं के लिए महाभारत के लेखक ने 'हा हते' 'हा हते' कहा है, जो यूनानी शब्द का संस्कृत रूप है। यूनान देश में पेरिक्लीज के समय से ही इन गणिकाओं का ऊंचा स्थान था। महाभारत में कहा है कि उनका कोई स्वामी या भर्त्ता नहीं होता था।

एक विशेष बात जो यहां कही गई है, वह यह है कि वे अपने इन उत्सवों के समय जो भोज करते थे, उनमें पहला दौर समाप्त होने के बाद जब रात्रि और बढ़ती तो दूसरे दौर में बांसुरी, वीणा आदि वाजों पर गाने गाये जाते थे। उन्हें सिम्पोजिया (Symposia) कहते थे, उन्हें ही यहां घोषिका गाथा कहा गया है। यवनों में मिट्टी के पात्रों का विशेष रिवाज था और वे बड़े सुन्दर साफ बनाये जाते थे। एक विशेष बात जो कही है, वह यह है कि खाने-पीने के समय उनमें पात्रों का संकर होता था, अर्थात् जूठे हो जाने का विचार कोई न था। एक के पीये हुए या खाये

हुए वर्तन में दूसरे भी खाते-पीते थे (पात्र-संकरिणो जाल्माः सर्वान्नक्षीर-भोजना ३०।४०)। एक अन्य विशेष उल्लेख यह है कि उनमें वर्ण, धर्म या जात-पांत का कोई विचार न था। एक ही घर में एक व्यक्ति दार्शनिक होता तो दूसरा व्यापारी या दास बन जाता था और इस स्थिति में भी उलट-फेर होता रहता था। कभी कोई क्षत्रिय बनता, कभी वही नापित का काम करने लगता था। जो वाल्हीक देश पहले परम पवित्र समझा जाता था, उसी के लिए मध्यदेश के लोगों में कुत्सा की भावना फैल गई; क्योंकि वहां के विचार-आचार भारतीय सदाचार से एकदम विपरीत थे। इसी महाभारत में बाल्हीक शब्द की एक व्युत्पत्ति यह दी हुई है कि पांच नदियां जहां बहती थीं, वह बाह्लीक था; किन्तु अब एक नई व्युत्पत्ति गढ़ी गई जो जनता में फैल गई, वह यह थी कि व्यास नदी के किनारे दो यक्ष या राक्षसों के स्थान थे। उन्हीं की सन्तान बाल्हीक देश में भर गई।

यवनों के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण, पर छिपा हुआ उल्लेख इस श्लोक में आया है :

इति रक्षोपसृष्टेषु विषवीर्यहतेषु च।
राक्षसं भेषजं प्रोक्तं संसिद्धं वचनोत्तरम्॥ (३०।७२)

यह कथन एकदम ठीक है। इसमें चार बातें स्पष्ट कही गई हैं, जो चारों यूनानियों के ओरैकिल में घटित होती हैं। ओरैकिल एक प्रकार के यक्ष-स्थानीय प्रश्नोत्तर थे। वहां कुछ लोग पुजारी या पुजारिनों के रूप में रहते थे। उन्हें ही यहां राजयाजक कहा है। राज्य की ओर से इन स्थानों या चत्वरों की व्यवस्था की जाती थी। इन पुजारियों के सिर पर भूत-प्रेत आ जाते थे। अतएव उन्हें रक्षोपसृष्ट कहा गया है। जब वे अभुवाने लगते तो लोग उनसे अपने लिए तरह-तरह की बातें पूछते थे और वे जो उपाय या प्रत्युपाय बताते, उसे ही राक्षस-भेषज कहा गया है, अर्थात् ब्रह्म-राक्षस या यक्ष का बताया हुआ कल्याण का उपाय। एक बात यह भी थी कि इस प्रकार अभुवाते हुए पुजारियों से कुछ राजनैतिक या सामाजिक भविष्य के लिए प्रश्न किये जाते थे। उनका जो उत्तर होता था, लोग उसे ही नितान्त सही मानते थे। उसी को यहां संसिद्ध-वचनोत्तर कहा है। एक विशेष बात ध्यान देने की है कि इस प्रकार के व्यक्तियों

को बहुत दिनों तक थोड़ा-थोड़ा विष चटाकर या अमल देकर तैयार किया जाता था, जिससे वे बिल्कुल निःसत्व हिजड़े की भांति हो जाते थे। उन्हें ही यहां विषवीर्यहत कहा गया है। आरम्भ में ही यह कहा है कि यूनानी या मद्रक बालवृद्ध स्त्री-पुरुष खेलों के बहुत शौकीन थे (स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च प्रायः क्रीडागता जनाः२७।७०)। उनमें मुक्केबाज खिलाड़ियों (मौष्टिक) का बहुत रिवाज था। वे लोग एक प्रकार के तैयार जवान पट्ठे थे, जो खिला-पिलाकर मुष्टण्डे बनाये जाते थे और उन्हें बधिया भी कर दिया जाता था। फिर उन्हें सांड़ों की तरह निर्द्वन्द्व शेरों या जानवरों से लड़ाया जाता था। उन्हें यहां संड कहा गया है :

मानुषाणां मलं म्लेच्छा म्लेच्छानां मौष्टिका मलम्।
मौष्टिकानां मलं शण्डाः शण्डानां राजयाजकाः॥
(३०।७०)

यहां मौष्टिक, शण्ड और राजयाजक, ये तीनों संस्थाएं म्लेच्छा-यवन या यूनानियों से सम्बन्धित थीं।

जिस राजनैतिक स्थिति की पृष्ठभूमि में ऊपर का वर्णन आया है, वह बड़ी असाधारण थी। मद्रक यवन शाकल में राजधानी बनाकर उत्तरी भारत पर आंख गड़ाये थे। डिमिट्रियस और मिनांडर (दिमित और मिलिन्द) नामक यवन राजाओं ने दुफंकी धावा बोल दिया। मिलिन्द ने मथुरा तक बढ़कर साकेत को छेक लिया—जैसा पतंजलि ने लिखा है : 'अरुणद् यवनः साकेतं' और जैनेन्द्र व्याकरण के उदाहरण में 'अरुणाद्यवनो मथुराम्' ऐसा भी उल्लेख आया है। दूसरी ओर यवन सेना में राजस्थान के दक्षिण पूर्व में स्थित चित्तौड़ के पास की मध्यमिका नामक राजधानी पर हमला किया, जिसके लिए पतंजलि ने भाष्य में लिखा है, 'अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्' किन्तु देश के सौभाग्य से दो घटनाएं ऐसी हुईं, जिनसे यवनों की यह योजना सफल न हो सकी। एक तो सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने पाटलिपुत्र से आगे बढ़कर साकेत तक अपने राज्य का विस्तार किया और उसके पुत्र सुमित्र ने सिन्धु तट पर यवनों को परास्त किया—दूसरे, जैसा गार्गी संहिता में लिखा है, यवनों के अपने चक्र में ही घरेलू झगड़ा उत्पन्न हो गया और उनका राजनैतिक संगठन खोखला पड़ गया, जिस

कारण से उनकी सेनाओं को पीछे लौटना पड़ा।

इन ववण्डरी घटनाओं का जो गहरा प्रभाव मध्यदेश की जनता के ऊपर पड़ा, उसी का छायाचित्र मद्रक यवनों के विषय में महाभारत का यह उल्लेख है। जो कहानी छन-छन कर मध्यदेश की राज-सभाओं में और साधु संसदों में पहुंची थी, उन्हीं का यह गाथात्मक संग्रह है। इस प्रकरण के निर्माण में महाभारत की वह विलक्षण साहित्यिक शैली भी पाई जाती है, जिसके अनुसार एक ही विषय का वर्णन करने वाले भिन्न-भिन्न संग्रह-श्लोक आगे-पीछे रख दिये जाते थे। यह शैली अनेक स्थानों में पाई जाती है। अंग्रेजी में इसे 'जक्सटा पोजिशन' कहा जाता है। यहां पर गाथात्मक संग्रह के ९ टुकड़े इस शैली का चोखा नमूना प्रस्तुत करते हैं। इनमें अर्थों की बहुत कुछ समानता है और कुछ हेरफेर भी है। यहां इस सामग्री को पुरावृत्त कथा और यथार्थ वर्णन कहा गया है। वस्तुतः कर्ण और शल्य तो कथनोपकथन के लिए निमित्त मात्र हैं। प्रसंग का मूल शीर्षक तो मद्रक-कुत्सन यही था, जैसा कि पुष्पिका में आया है।

इस पर्व के अन्त में संजय ने कहा कि जब कर्ण और शल्य इस प्रकार कह-सुन चुके तो दोनों चुप हो गये और कर्ण ने कहा, अच्छा, "अब रथ बढ़ाओ।" दोनों सेनाएं व्यूहबद्ध होकर आ गईं, घोर संग्राम होने लगा। दूसरे दिन के इस युद्ध में पहले अर्जुन ने संशप्तकों से भयंकर युद्ध किया। फिर कर्ण का पुत्र मारा गया। कर्ण के होते हुए भी कुरु सेना अरदब में आ गई और उसे पीछे हटना पड़ा। फिर कर्ण और भीमसेन के युद्ध में कर्ण कुछ झुके। तत्पश्चात् कर्ण और सात्यकि का युद्ध हुआ। दोनों सेनाओं में निकट की लड़ाई हुई। अश्वत्थामा ने भी पराक्रम किया और युधिष्ठिर को पीछे हट जाना पड़ा। युद्ध ने अत्यन्त घोर रूप धारण कर लिया। युद्ध में अश्वत्थामा ने पराक्रम तो बहुत दिखाया पर वह पराजित हुआ और मूर्छित अवस्था में वहां से ले आया गया। इसी समय कौरवों ने धर्मराज को घेर लिया, किन्तु भीम के पराक्रम से उनकी रक्षा हुई। युद्ध के ताव पर आ जाने से अन्त में अर्जुन ने कर्ण को मारने की प्रतिज्ञा की। जब कर्ण ने सुना तब उसने अनेक प्रकार से अर्जुन को परुष वाक्य कहे। इसी बीच में युधिष्ठिर और भीम में कुछ कहा-सुनी हो गई, जिसे श्रीकृष्ण ने

शान्त किया और उन्होंने अर्जुन की प्रशंसा की। उन्होंने कहा, "हे अर्जुन! युधिष्ठिर की सेना में तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं है जो राधा-पुत्र कर्ण के सामने सकुशल वापस लौट जायगा।" अर्जुन ने भी उसी प्रकार के उदात्त वाक्यों द्वारा कृष्ण को विश्वास दिलाया। अपने पौरुष और पराक्रम से जिस प्रकार हिमालय के ऊपर गर्मी की ऋतु में बसे हुए घर को भी अग्नि भस्म करती है, वैसे ही मैं आज गणों के सहित सब कौरवों को तथा बाल्हिकों को नष्ट करूंगा। भीम और अर्जुन ने मिलकर कौरव सेना पर आक्रमण किया और भीम के हाथ से दुःशासन मारा गया। अन्त में कर्ण और अर्जुन दोनों महारथी एक-दूसरे के साथ युद्ध में गुथ गये। युद्ध में कर्ण के रथ का पहिया भूमि में फंस गया, जिसे निकालने के लिए कर्ण रथ से उतरा। उस समय अर्जुन ने उस पर बाणों की वर्षा की तो कर्ण ने कहा, "हे अर्जुन! जबतक मैं अपना यह पहिया न निकाल लूं, तुम रथ पर बैठे हुए मत प्रहार करो। मैं तुमसे या कृष्ण से बहस नहीं करता, पर केवल धर्म ही चाहता हूं (स्मृत्वा धर्मोपदेशं त्वं मुहर्तं क्षम पाण्डव ६६।६५)।" इस पर कृष्ण ने व्यंग्य करते हुए कहा, "हे कर्ण! आज तुमको धर्म याद आ रहा है। जब एक-वस्त्रा द्रौपदी को सभा में लाये थे, तब तुम्हें धर्म का ध्यान नहीं हुआ :

यद्द्रौपदीमेकवस्त्रां सभायामानाय्य त्वं चैव सुयोधनश्च
दुःशासनः शकुनिः सौबलश्च न ते कर्ण प्रत्यभात्तत्र धर्मः। (६७।२)

कृष्ण का यह वचन सुनकर क्रोध से प्रज्वलित हुए कर्ण के रोम-रोम से चिनगारियां निकलने लगीं। इस प्रकार बार-बार विपन्न दशा में पड़े हुए कर्ण को अर्जुन ने अपने बाणों की वृष्टि से चूर कर डाला और कर्ण का मस्तक पृथ्वी पर लुढ़कने लगा। इस प्रकार दैव की इच्छा से महा-भारत के योद्धाओं में एक अत्यन्त बलशाली और उदात्तचरित्र वाले महात्मा योद्धा का अन्त हो गया।

(कर्ण-पर्व समाप्त)

शल्य-पर्व

अब भारत युद्ध की महती कथा का अन्त हो रहा है।

६५ : : शल्य-युद्ध-वर्णन

(अ० १—२८)

कर्ण-वध के बाद शल्य को सेनापति बनाया गया। शल्य केवल आधे दिन सेनापति रहा। इस घमासान युद्ध में बचे-खुचे वीर भी एक-एक करके काम आ गए। कृष्ण ने युधिष्ठिर को शल्य को मारने के लिए बहुत प्रोत्साहित किया और अन्त में युधिष्ठिर के हाथों ही शल्य और उसके भाई का वध हो गया। इस स्थिति से निराश होकर दुर्योधन युद्धभूमि से भाग गया और द्वैपायन सरोवर नामक तालाब में जा छिपा। अर्जुन ने त्रिगर्त राज सुशर्मा और सहदेव ने शकुनि और उसके पुत्र उलूक का वध कर डाला। अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य ने व्याधों से दुर्योधन का पता पा, वहीं पहुंचकर उससे फिर युद्ध के बारे में परामर्श किया। इधर पाण्डव भी दुर्योधन की खोज करते हुए द्वैपायन सरोवर पर जा पहुंचे। युधिष्ठिर के कहने पर दुर्योधन तालाब से बाहर निकल आया और उसने युधिष्ठिर के कथन के अनुसार पांच पाण्डवों में से किसी एक के साथ युद्ध करना स्वीकार किया। इस बात पर कृष्ण को भी ताव आ गया और उन्होंने युधिष्ठिर की उस मूर्खता पर भर्त्सना की। किन्तु दुर्योधन ने वीरोचित स्वभाव के अनुकूल भीम को ही युद्ध के लिए चुना।

युद्धारम्भ से पहले ही बलराम तीर्थयात्रा के इरादे से द्वारका से चले और मार्ग में प्रभास तीर्थ का दर्शन करके वहां से सीधे सरस्वती के विनशन प्रदेश में आ गये और कुरुक्षेत्र के सब सारस्वत् तीर्थों की यात्रा समाप्त करके भीम-दुर्योधन के युद्ध के अवसर पर युद्धस्थल पर आ पहुंचे।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि अत्यन्त प्राचीन काल से एक मार्ग द्वारावती से कम्बोज देश की ओर जाता था। यह द्वारावती से चलकर सरस्वती और मही के कांठों के बीच में होता हुआ अरावली पहाड़ के दक्षिण-पश्चिम की ओर घूम कर मरुभूमि के पार सिन्धु नदी के किनारे पर जा निकलता था और वहां से उत्तर की ओर घूमकर उत्तरी सिन्धु

की, जिसे उस समय सौवीर कहते थे, राजधानी सक्कर रोड़ी (प्राचीन शार्कर रोरुक) से जा मिलता था। वहां से उस मार्ग की एक शाखा उत्तर की ओर सिन्धु नदी के किनारे-किनारे पंजाब देश को चली जाती थी। उसी मार्ग की दूसरी शाखा दाहिने घूमकर सरस्वती के उस प्रदेश की ओर चली जाती थी, जहां उत्तरी बीकानेर में सरस्वती रेगिस्तान में खो जाती है। उसे उस समय विनशन कहते थे और आजकल वही कोलायत के नाम से प्रसिद्ध है। सरस्वती की यह धारा किसी समय भरी-पूरी थी और यहां कितने ही सन्निवेश थे, किन्तु रेगिस्तान के बढ़ आने से अब वे सब बालू में दब गये हैं। किसी समय सरस्वती नदी के किनारे का मार्ग बहुत चालू था। भागवत् में दो बार इस मार्ग का उल्लेख आया है। एक बार कृष्ण के हस्तिनापुर से द्वारिका और दूसरी बार द्वारिका से हस्तिनापुर आने का वर्णन है। और वहां इस मार्ग के बीच के पहाड़ों का भी स्पष्ट उल्लेख है (१।१०।३४—३५ भागवत्)। बलरामजी भी इसी मार्ग से द्वारिका से कुरुक्षेत्र पहुंचे।

इसके बाद कुरुक्षेत्र के सारस्वत, औशनस, कपालमोचन तीर्थ, पृथूदक (वर्तमान पिहोवा) अवाकीर्ण, यायात, वसिष्ठोद्वाह तीर्थ (जहां थानेश्वर के पास अरुणा और सरस्वती का संगम है) आदि तीर्थों का वर्णन किया गया है। वस्तुतः शल्य पर्व का यह प्रकरण कुरुक्षेत्र का स्थल-माहात्म्य है और युद्ध के वर्णन में बिल्कुल नहीं खपता। यही अत्यधिक विस्तार से आरण्यक पर्व में और इससे भी अधिक विस्तृत रूप में वामन पुराण में आया है। वामन पुराण तो एक प्रकार से अधिकांश कुरुक्षेत्र का स्थल-माहात्म्य ही है, जिसमें वहां के सैकड़ों छोटे-बड़े तीर्थों का ब्यौरेवार माहात्म्य कहा गया है। उन सबमें भी थानेश्वर और पिहोवा (पृथूदक) ये दो प्रधान थे, जहां कई पवित्र सरोवर और सैकड़ों शिवलिंग थे। इस प्रदेश में किसी समय वामन और विष्णु का प्रभाव था, किन्तु आगे चलकर प्रभाकर वर्द्धन के समय में यहां पाशुपत शैवों का एक बहुत बड़ा केन्द्र बन गया। ये लकुलीश के अनुयायी थे। लकुलीश के नाम से थानेश्वर के सरोवर के किनारे एक शिवलिंग भी स्थापित किया गया। महाभारत में यह अंश पाशुपत-शैवों द्वारा ही जोड़ा गया है। यहां कुरुक्षेत्र की जो बड़ी परिक्रमा

थी, उसकी सीमाओं का भी उल्लेख आया है। इसके अनुसार कुरुक्षेत्र का नाम समन्त पंचक था। इस शब्द का बहुत ही युक्ति-संगत अर्थ कनिंघम ने यह लगाया था कि कुरुक्षेत्र जनपद की हर एक भुजा की लम्बाई पांच योजन थी, अर्थात् इसका चतुर्दिक घेरा बीस योजन का था। जिस समय यह नाम पड़ा, उस समय यथार्थ ही कुरुक्षेत्र की बड़ी परिक्रमा १६० मील की रही होगी, पर पीछे पश्चिम की ओर से रेगिस्तान के बढ़ आने से यह घेरा सिकुड़ता गया। आजकल बड़ी परिक्रमा लगभग ४८ कोस की मानी जाती है।

महाभारत और वामन पुराण दोनों के अनुसार कुरुक्षेत्र के चारों खूंटों पर चार बड़े प्रसिद्ध यक्ष-स्थान थे। उनके नाम ये हैं : अरन्तुक, तरन्तुक, यक्षी उलूखल मेखला और मचक्रुक। वामन पुराण में तो यह भी कहा गया है कि परिक्रमा का आरम्भ अरन्तुक यक्ष के दर्शन से होता था और उसका थान थानेश्वर में था। इस हिसाब से परिक्रमा का दूसरा बड़ा पड़ाव थानेश्वर से पूर्व में करनाल-तरावड़ी के पास होना चाहिए। वहीं तरन्तुक यक्ष का थान रहा होगा। उसके बाद तीसरा पड़ाव उलूखल मेखला नाम की एक प्रसिद्ध यक्षी का था, जिसकी दूर-दूर तक मान्यता थी। शल्य और कर्ण के संबंध में भी इसका उल्लेख आ चुका है। उसके पति का नाम कपिल यक्ष था, पर प्रसिद्धि यक्षी की ही थी। यह स्थान पूंडरी (संस्कृत-पुडंरीक) के पास कहा गया है, जो कुरुक्षेत्र के दक्षिण छोर पर था। उसके बाद राम-ह्रद या परशुराम सरोवर का उल्लेख आता है, जो इस समय जींद के पास कहा जाता है। वहां से चल कर परिक्रमा का चौथा पड़ाव मचक्रुक नामक थान था। उसकी निश्चित पहचान ज्ञात नहीं है, पर कुरुक्षेत्र के पश्चिम में होना चाहिए। कनिंघम के अनुसार कुरुक्षेत्र के इन चार द्वार-पालों की पहचान कुछ भिन्न है। अरन्तुक को आजतक रत्नयक्ष के नाम से पुकारा जाता है और वह थानेश्वर में ही है। कुरुक्षेत्र की इस सीमा के उल्लेख से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि किसी अत्यन्त प्राचीन युग में यहां यक्षों के अनेक चत्वर-चौरे थे और यहां सर्वत्र यक्षों की मान्यता थी। आगे चलकर शिवपूजा प्रसिद्ध हुई, किन्तु फिर भी जो पुराने समय के बड़े मेले थे, जिन्हें यात्रा कहा जाता था, वे जारी रहे।

अब आगे का कथा प्रसंग इस प्रकार है कि दुर्योधन और भीम के गदायुद्ध के ठीक अवसर पर बलरामजी भी सरस्वती के तीर्थों की अपनी यात्रा से युद्ध-भूमि में वापस आ गये। उन दोनों वीरों के गदायुद्ध को उन्होंने अपनी आंखों से देखा और जब भीम ने नियम के विरुद्ध दुर्योधन की जंघा पर प्रहार किया, तो बलराम को बड़ा रोष आया, पर कृष्ण ने समझा-बुझाकर उन्हें शान्त किया। गदायुद्ध में भीम के प्रहार से दुर्योधन की जंघाएं टूट गईं और वह भूमि पर गिर गया। उसे उसी अवस्था में छोड़कर पाण्डव अपने शिविर में वापस चले आये। उस समय युधिष्ठिर ने उचित समझा कि यह समाचार धृतराष्ट्र और गान्धारी के यहां पहुंचा दें। इसके लिए श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर भेजा गया। दुर्योधन ने उस मर्मान्तक पीड़ा की दशा में भी सन्देश भेज कर अश्वत्थामा को बुलवाया और उसके आने पर सेनापति पद पर उसका तिलक कर दिया।

(शल्य-पर्व समाप्त)

सौप्तिक-पर्व

इसके बाद दसवां पर्व सौप्तिक-पर्व है, जिसमें अश्वत्थामा के द्वारा द्रौपदी के सोते हुए पांच पुत्रों के संहार की कथा है। पांचालों से अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य का पुराना बैर था, जिसे उसने इतनी क्रूरता और कायरता से चुकाया। दुर्योधन ने जब द्रौपदी के पुत्रों और पांचालों के वध का समाचार सुना तो वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसी दशा में उसके प्राण छूट गये, किन्तु पुत्रों के वध के इस शोक से पाण्डव उतने ही शोकाकुल हुए और अश्वत्थामा से बदला लेने की बात सोचने लगे। भीम अश्वत्थामा को मारने का संकल्प करके गंगा किनारे उसके पास पहुंचा। उसके पीछे कृष्ण, अर्जुन और युधिष्ठिर भी गये। वहां भीम ने जब अश्वत्थामा को ललकारा तो अश्वत्थामा ने अपने पास बचे हुए अन्तिम

प्रभावशाली आयुध ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया।

इसके पूर्व भी वह नारायणास्त्र और आग्नेयास्त्र का प्रयोग युद्धभूमि में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् कर चुका था। ब्रह्मास्त्र छोड़ते समय उसने यह भावना की कि यह पृथिवी पाण्डवों से विहीन हो जाय। यह भयंकर वचन सुनकर कृष्ण ने अर्जुन को भी ब्रह्मास्त्र चलाने के लिए प्रेरित किया। अर्जुन की भावना यह थी कि सबका कल्याण हो और अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र मेरे ब्रह्मास्त्र से शांत हो जाय। जब दोनों ब्रह्मास्त्र छूटे तो प्रलय-का दृष्य उपस्थित होने लगा। उसी समय नारद और वेदव्यास दोनों आकर उन भयंकर अस्त्रों के बीच में खड़े हो गये। उन्हें देखते ही अर्जुन ने वेग से अपना ब्रह्मास्त्र लौटा लिया; पर अश्वत्थामा समझाने पर भी उसे वापस न ले सका, क्योंकि उसे लौटाने की युक्ति ज्ञात न थी। ब्रह्मास्त्र का प्रभाव अमोघ होता है। वह विफल नहीं जाता। अतएव अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र गर्भस्थ परीक्षित के ऊपर दौड़ा और उसे दग्ध करने लगा। तब कृष्ण ने परीक्षित की भी रक्षा की।

६६ : : अश्वत्थामा की शिरोवेदना

(अ० १—१६)

अश्वत्थामा की इस क्रूरता पर कृष्ण ने उसे शाप दिया और अश्वत्थामा ने भी अपने अशान्त जीवन से दुःखी होकर वन की राह ली। जाते समय पाण्डवों ने उसके मस्तक की मणि निकाल ली। कहा जाता है कि अश्वत्थामा तभी से शिरोवेदना के साथ चिरजीवी होकर घूमता है। इसके अभिप्राय पर विचार करना चाहिए। अश्वत्थामा की यह मणि कोई साधारण पत्थर का टुकड़ा नहीं था। यह वह चिन्तामणि है, जो प्रत्येक व्यक्ति के मस्तक में रहती है। वस्तुतः चिन्तन या मनन की शक्ति ही

मानव का लक्षण है। अश्वत्थामा में बल की प्रचुरता थी, पर विचार-

शक्ति की शून्यता थी। उसके पास घर की बुद्धि थी ही नहीं। जब जिस किसी ने जैसा भड़का दिया, वह आपे से बाहर होकर कुछ भी कर बैठता था। उसमें हाथी और घोड़े के समान बल था, पर बुद्धि चींटी के समान भी नहीं थी। अश्वत्थामा को लोक में चिरजीवी माना जाता है :

अश्वत्थामो बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

यहां इनके चिरजीवी होने का अभिप्राय यह है कि इन सात प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति लोक में सदा रहते हैं, जैसे,

१. अश्वत्थामा—कोरे पशुबल या शारीरिक बल का उदाहरण।

२. बलि—सत्य-संकल्प का दानशील व्यक्ति, जो सत्य का निर्वाह के लिए अपने जीवन का समर्पण करता है।

३. व्यास—ज्ञानशील व्यक्ति, जिसमें त्रिलोकी का ज्ञान संकलित हो और जो लोक और वेद दोनों के बीच समन्वय करता हो।

४. हनुमान—वह व्यक्ति जो केवल सेवा धर्म को ही जीवन का मूल मानता है और सेव्य की भक्ति ही जिसका प्राण है। यह दास्य भाव का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

५. विभीषण—यह घर का भेद बाहर प्रकट करने वाले स्वभाव का द्योतक है।

६. कृपाचार्य—यह ऐसे विद्वान व्यक्ति का उदाहरण है, जिसने पढ़ा-लिखा बहुत हो, पर गुण कुछ न हो।

७. परशुराम—यह पूरे क्षात्र तेज का उदाहरण है, जैसे ब्राह्म धर्म के लिए व्यास, ऐसे ही क्षात्र धर्म के लिए परशुराम।

ये सात प्रकार के व्यक्ति समाज में सदा से चले आये हैं और आगे भी रहेंगे।

अश्वत्थामा के चले जाने पर पाण्डव उसकी मणि लेकर द्रौपदी के पास आये कि उसे पुत्र शोक में कुछ सान्त्वना दे सकें।

इस पर्व के अन्त में दो अध्याय युद्ध-वर्णन से थके हुए लेखक की दार्शनिक समीक्षा प्रकट करते हैं। उसने सोचा होगा कि प्रलयंकारी संहार कैसे हो गया। तब उसने इसका यही समाधान निश्चित किया कि

भगवान् की इच्छा के बिना इतनी बड़ी घटना नहीं घट सकती। वे देवी या देव जिस प्रकार प्रजा की रचना और पालन करते हैं उसी प्रकार उसका संहार भी उन्हीं की इच्छा से होता है। रचना करते समय उनका नाम ब्रह्मा, रक्षा करते समय विष्णु और नाश करते समय रुद्र है। यह समस्त विश्व भगवान् रुद्र का एक लिंग या प्रतीक है और इसमें जैसी सृष्टि या स्थिति के अंश हैं, वैसे ही क्षय भी इसके साथ जुड़ा हुआ है। जीवन या विश्व एक महान् यज्ञ है। देवताओं ने सोचा कि यज्ञ में और सबको तो भाग देंगे, शंकर को नहीं; पर ऐसा करने से वह यज्ञ सफल नहीं हो सका। संसार में पांच प्रकार के यज्ञ हैं :

लोकयज्ञः क्रियायज्ञो गृहयज्ञः सनातनः।
पंचभूतमयो यज्ञो नृयज्ञश्चैव पञ्चमः॥

(सौप्तिक पर्व १८।५)

ये पांचों प्रकार के यज्ञ सनातन या सदा रहने वाले हैं। इनका भेद इस प्रकार जानना चाहिए : १. लोक अर्थात् विश्व का विराट यज्ञ है, जिसे अधिदैवत यज्ञ कहा जाता है।

२. पंचभूतों से होने वाला यज्ञ है, जिसे अधिभूत कहा जाता है।

३. नृयज्ञ है, अर्थात् जो प्रत्येक मनुष्य के भीतर हो रहा है, जिसे अध्यात्म यज्ञ कहते हैं।

४. गृहयज्ञ है, जिसमें एक ओर मानवीय कुटुम्ब और दूसरी ओर समाज के अन्तर्गत जितने संबंध और व्यवहार आते हैं।

५. क्रिया यज्ञ है, जो धर्म-ग्रन्थों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार किया जाता है, जिसे वैध यज्ञ भी कहते हैं।

इन पांचों यज्ञों में शिव का अंश अवश्य है। जिस यज्ञ में शिव को भाग नहीं मिलता, उसका वे विध्वंस कर डालते हैं, अर्थात् वह पहले से ही विनष्ट है। दक्षयज्ञ के विध्वंस की कथा का अर्थ यही है। दक्ष ने अपनी सब पुत्रियों को न्योता दिया, पर सबसे बड़ी जगन्माता सती को नहीं। उसने सब देवों को यज्ञ में भाग दिया, पर शिव को नहीं। इस कारण शिव के गणों ने विध्वंस कर डाला। यहां भी लिखा है कि देवों ने अपने यज्ञ में यज्ञ-भाग के लिए सब देवताओं और द्रव्यों की कल्पना की, किन्तु रुद्र को नहीं।

क्योंकि रुद्र के स्थाणु या अविनश्वर स्वरूप को नहीं जानते थे। इसलिए शिव ने या रुद्र ने एक धनुष का निर्माण किया और देवताओं को बींध डाला। सब देवताओं का तेज कुंठित हो गया। सब देवों ने शिव को प्रसन्न किया और उनका यज्ञ सकुशल हुआ। भगवान् शंकर के कुपित होने पर सारा जगत् डांवाडोल हो जाता है और उनके प्रसन्न होने पर पुनः स्थिर हो जाता है। महाभारत युद्ध के समय भगवान् शिव लोगों का क्षय करने के लिए स्वयं काल बन गये थे और जब क्षय हो गया, तब वे शान्त हुए। इस प्रकार विश्व के नाश और पालन में महाकाल या ईश्वर की लीला ही प्रधान है। वस्तुतः जीवन के साथ मरण, यही भगवान् का नियम है।

(सौप्तिक-पर्व समाप्त)

स्त्री पर्व

ग्यारहवें स्त्री पर्व में तीन उप पर्व हैं। पहले में मृत व्यक्तियों के लिए जलाञ्जलि का उल्लेख है। इसमें मुख्यतः धृतराष्ट्र के शोक का वर्णन किया गया है। विदुर और व्यास ने धृतराष्ट्र को ऐसी स्थिति में संसार की अनित्यता बता कर धीरज दिया। पाण्डव भी धृतराष्ट्र से मिलने गये। धृतराष्ट्र ने लोहे के भीम को चूर-चूर करके अपना क्रोध प्रकट किया। तब कृष्ण ने उन्हें फटकारते हुए कहा, "हे राजन्! अब तुम इस प्रकार क्रोध क्यों करते हो? तुमने क्यों नहीं अपने पुत्रों के अन्याय को रोका?" इस पर धृतराष्ट्र का क्रोध कुछ शान्त हुआ।

उधर गान्धारी पाण्डवों को शाप देने पर उतारू हो गई। व्यास ने उसे समझाया। भीमसेन और युधिष्ठिर ने भी गान्धारी से क्षमा मांगी। तब पाण्डव कुन्ती और द्रौपदी से मिले। द्रौपदी को भी कम शोक न था, उसे गान्धारी ने सांत्वना दी।

६७ : : गान्धारी का विलाप

(अ० १—८)

स्त्री-पर्व में मुख्यतः गान्धारी के शोकपूर्ण विलाप का वर्णन है। व्यासजी ने गान्धारी को दिव्य दृष्टि का वरदान दिया और उसे युद्ध में मारे गये योद्धा दिखाई पड़ने लगे। तब उसने कृष्ण के सामने बहुत प्रकार से शोकातुर होकर विलाप किया। इसके अन्त में युधिष्ठिर के कहने से सबने अपने मरे हुए संबंधियों को जलाञ्जलि देकर श्राद्ध किया।

'भारत-सावित्री' के इस खंड में जहां एक ओर सनत्सुजात पर्व और गीता का आध्यात्मिक गंगाजल है, वहीं दूसरी ओर भीषण युद्ध का दारुण वर्णन भी है। प्राचीन भारत में जो नियतिवादी दर्शन था और धृतराष्ट्र जिसके अनुयायी थे, उसे सामने रखते हुए व्यासजी ने धृतराष्ट्र से कहा :

न च दैव कृतः मार्गः शक्यो भूतेन केनचित्।
घटतापि चिरंकालं नियन्तुमिति मे मति।।

(स्त्री-पर्व ८।१६)

'दैव का निश्चित किया हुआ जो मार्ग है, उसे कोई व्यक्ति टाल नहीं सकता, चाहे वह कैसा भी दीर्घ प्रयत्न करे।"

(स्त्री-पर्व समाप्त)

'भारत-सावित्री' के तीसरे खंड में शान्ति और अनुशासन आदि महान् पर्वों की व्याख्या दी गई है।
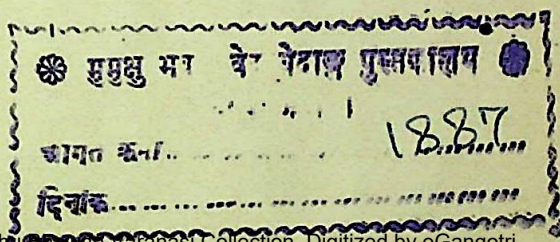
मंडल का
आध्यात्मिक साहित्य

१. गीता-माता
२. अनासक्ति-योग
३. गीता-बोध
४. गीता-पदार्थकोश
५. गीता की महिमा
६. भागवत कथा
७. भगवद्गीता
८. भागवत धर्म
९. विष्णु-सहस्रनाम
१०. बुद्ध-वाणी
११. श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन
१२. रामायणकालीन संस्कृति
१३ रामायण के पात्र (भाग १-२)
१४. भारत सावित्री (खंड १, २, ३)
१५. तुलसी-रामकथा माला (चार भाग)